ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन

भाग-१

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित
श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के
श्री ऋषभजिन स्तोत्र और उपासक संस्कार
(श्रावकाचार अधिकार) पर
अध्यात्मयुग प्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत १९७५, वीर संवत. २५४५, ईसवी सन् २०१९

प्राप्ति स्थान :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
Email - vitragva@vsnl.com

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् पद्मनन्दि आचार्यदेव एक महान समर्थ योगीराज, वन-जंगल में विचरनेवाले अजोड़ सन्त थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प आनन्द में झूलनेवाले महान आचार्य भगवन्त को विकल्पात्मक दशा में जिनेन्द्र दर्शन, स्तुति—स्तोत्र रचना, शास्त्र रचना, इत्यादि के भाव भाते हैं। छठवें गुणस्थान में वर्तती विकल्पात्मक दशा अध्यात्म के दृष्टिकोण से मलिनदशा है, परन्तु विचारणीय विषय यह है कि जिनके विकल्पात्मक अंश के निमित्त से महान परमागमों की रचना हो और उन परमागम के निमित्त से अनेक भव्य जीवों का आत्मकल्याण सधे और शाश्वत् सुख की प्राप्ति हो, तो उनकी अन्तरंग अखण्ड अभेद स्वरूप के साथ तादात्म्य होकर वर्तनेवाली निर्विकल्प परिणति के दर्शन से तथा उनकी स्तुति वन्दना से भव्यजीवों का आत्मकल्याण न सधे, ऐसा कैसे बने? इसलिए सदा वन्दनीय ऐसे प्रत्येक आचार्य भगवन्त पूजनीय है।

श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव हैं। जिनशासन की परम्परा आचार्य पट्टावलि में उनका अग्रगण्य स्थान रहा है। आचार्य भगवान ने इस ग्रन्थ में छब्बीस अधिकार लिखे हैं परन्तु नाम पद्मनन्दि पंचविंशति दिया है। ग्रन्थ में उन्होंने सरल तथा रोचक शैली में श्रावकों का कर्तव्य आदि विषय को स्पष्ट किया है। मोक्षमार्ग की प्रत्येक भूमिका में वर्तते साधक जीवों को तद्भूमिका के योग्य व्यवहारिक विकल्प होता है, उसका निर्देश शास्त्र में दृष्टिगोचर होता है। यदि उस भूमिका के योग्य विकल्प न हो और निम्न जाति के विकल्प वर्तते हों तो वहाँ उस भूमिका में निश्चय का कोई विषय विद्यमान है, यह खोज करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जिसके व्यवहार में भूल है, उसे कोई निश्चय की भूमिका हो, यह नहीं हो सकता।

महान श्रावकों और आचार्यों को मर्यादित विकल्प कैसे होते हैं, उनके निरूपण से उनसे भी नीचे की दशा में वर्तते मुमुक्षु को अमुक प्रकार के विकल्प और अभिप्राय नहीं होते, यह समझ सकने योग्य है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि ग्रन्थ का विषय व्यवहारिक है, ऐसा समझकर गौण करनेयोग्य नहीं परन्तु जितना प्रयोजनभूत विषय स्वयं को लागू पड़ता हो, उतना अंगीकार करके मोक्षमार्ग प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होना योग्य है। बाकी का उच्च कोटि का मोक्षमार्ग का विषय भावना का विषय रहता है।

दिगम्बर ग्रन्थ वर्तमान समाज में उपलब्ध थे। परन्तु वर्तमान हुण्डावसर्पिणी के नाम से प्रसिद्ध काल में उनका रहस्य उद्घाटन करनेवाला कोई नहीं था। सर्व जीव साम्प्रदायिक बाह्य प्रवृत्ति तथा रूढ़िगत क्रियाएँ करके धर्म करते हैं, ऐसे मिथ्याभ्रम में रचे-पचे थे। मिथ्यात्व, वह

एक ऐसा अन्धकार है कि जीव को अनन्त काल से सच्ची दिशा सूझी नहीं और मार्ग में चढ़ने का हुआ नहीं। पूज्य बहिनश्री के वचनामृत के ६० नम्बर के वचनामृतानुसार जीव कहीं न कहीं अटका है और फलस्वरूप परिभ्रमण चालू रहा है। अनेक बार जिनेन्द्र भगवान, सच्चे सन्त मुनि भगवन्त तथा सत्पुरुषों का समागम हुआ है परन्तु आत्महित नहीं सधा, यह भी एक ठोस हकीकत है।

भले प्रवर्तमान काल चाहे जितना हुण्डावसर्पिणी काल गिना जाता हो और बहुत लम्बे काल परावर्तन में लम्बा समय आता हो परन्तु मिथ्यात्व अन्धकार में सच्ची दिशा हेतु प्रयाण करने के लिये पूज्य कहान गुरुदेवश्री महान सन्त ने महाविदेह से भरत में पधारकर अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया है। पूज्य गुरुदेवश्री का सातिशय योग ऐसे निकृष्ट काल में हुआ, यह एक महान सौभाग्य की बात है। भावी तीर्थाधिनाथ की भेंट और दीर्घकालीन प्रवचन गंगा के स्रोत का पान करने का अवसर इस काल के मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ, यह महान सौभाग्य है। अनन्त काल में अनेक कारणों को अवलम्ब कर जीव परिभ्रमण टाल नहीं सका परन्तु पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय दिव्यदेशना ऐसी है कि जीव को कहीं अटकने न दे और प्रत्यक्ष वीतराग स्वसंवेदन की प्राप्ति कराकर पूर्ण सर्वज्ञ वीतरागदशा पर्यन्त पहुँचा दे।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना का रसपान करना, वह जीवन की एक आनन्दात्मक घड़ी है। पूज्य गुरुदेवश्री कल्याणस्वरूप और मंगलस्वरूप हैं, उनकी वाणी भी ऐसी ही होगी न? श्रुतपंचमी के पवित्र दिन और श्री सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, विलेपार्ला के वार्षिक प्रतिष्ठा दिन श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के प्रवचन प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है। इस ग्रन्थ में ऋषभजिनस्तोत्र तथा श्रावकाचार अधिकार के प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की जितनी महिमा करें, उतनी कम है। उनकी दिव्यदेशना को ग्रन्थारूढ़ करके पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री को सादर अर्पित करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को टेप में उतारने का महान कार्य करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग में स्मरण करते हैं। पश्चात् दिव्य वीतराग वाणी को सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य का सौभाग्य श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई को प्राप्त हुआ है। उन्हीं प्रवचनों को ग्रन्थारूढ़ करने का भी विशेष सौभाग्य ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। इस प्रसंग में पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के विविध समय में हुए प्रवचन उपलब्ध हैं, उन्हें एकत्रित कर पुस्तक में प्रकाशित किया गया है।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक भरा गया है। इन प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती में पूजा इम्प्रेशन, भावनगर द्वारा किया गया है। प्रवचनों को जाँचने का कार्य विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा किया गया है। इस प्रसंग पर ट्रस्ट उनका आभार व्यक्त करता है।

प्रस्तुत पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन, भाग -1 का हिन्दी रूपान्तरण एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर तथा जवाबदारी पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है, तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति क्षमा याचना करते हुए साधर्मीजनों से उन भूलों को हमें अवगत कराने का अनुरोध है, जिससे आवश्यक सुधार किया जा सके। ये प्रवचन www.vitragvani.com पर उपलब्ध हैं।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

मुम्बई

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नम्बर	गाथा	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
१	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-१	१९-८-१९६०	१
२	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-२-३	२०-८-१९६०	२१
३	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-४ से ७	२१-८-१९६०	४१
४	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-८ से ११	२२-८-१९६०	६४
५	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-१२ से १५	२३-८-१९६०	८८
६	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-१६ से २०	२४-८-१९६०	११२
७	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-२१ से २६	२५-८-१९६०	१३५
८	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-२७ से ३०	२९-८-१९६०	१५८
९	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-३१ से ३४	३१-८-१९६०	१७९
१०	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-३५ से ३८	०२-९-१९६०	२०२
११	श्रावकाचार, गाथा-१ से ६	०३-९-१९६४	२२०
१२	श्रावकाचार, गाथा-७ से १४	०४-९-१९६४	२४५
१३	श्रावकाचार, गाथा-१४ से २२	०५-९-१९६४	२६९
१४	श्रावकाचार, गाथा-२२ से २९	०६-९-१९६४	२९३
१५	श्रावकाचार, गाथा-२९ से ३६	०७-९-१९६४	३१६
१६	श्रावकाचार, गाथा-३६ से ४५	०८-९-१९६४	३३८
१७	श्रावकाचार, गाथा-४३ से ६२	०९-९-१९६४	३६१

ॐ

श्री परमात्मने नमः

पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन

(भाग - १)

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित
श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के
श्री ऋषभजिन स्तोत्र और उपासक संस्कार (श्रावकाचार अधिकार) पर
अध्यात्मयुग प्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

श्रावण कृष्ण १२, शुक्रवार, दिनांक - १९-८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - १, प्रवचन-१

यह ऋषभदेव भगवान का स्तोत्र अर्थात् भक्ति है। धर्मी जीव को धर्म अर्थात् इस आत्मा का जो ज्ञान और आनन्द इसका स्वभाव है, सवेरे चलता है कि वह शक्ति का भण्डार आत्मा है, अनन्त-अनन्त संख्या से शक्तियाँ (रही हुई है)। अनादि-अनन्त आत्मा में शक्तियाँ रहती हैं, वह तो काल है परन्तु वह आत्मतत्त्व में, वह परमाणु—देह से भिन्न तत्त्व है और उसकी वर्तमान दशा में पुण्य और पाप के भाव शुभाशुभ होते हैं, उनकी कृत्रिमता से, अकृत्रिम चैतन्य निधान, अनन्त गुण की खान ऐसा शक्तिवन्त आत्मा का जिसे श्रद्धा-ज्ञान और भान होता है, उसे धर्मी कहा जाता है। उस धर्मी को धर्मात्मा, परमात्मा के प्रति भक्ति का शुभभाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

शास्त्र में तो ऐसा कहते हैं कि मुक्ति, वह सर्वज्ञ की कृपा का फल है। क्या कहा? मुक्ति, सर्वज्ञ की कृपा का फल है। भगवान एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में जिसका ज्ञाननिधि स्वभाव सत्यरूप से पूर्ण जो अन्तर सत्रूप है, भरपूर है, ऐसी जिसे

विकासदशा जिसकी वर्तमान अवस्था में हो गयी, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा की जो वाणी आयी, उस वाणी का निमित्त और आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को जाने, इससे मानो भगवान की आज्ञा और कृपा का फल मानो मुझे मुक्ति मिली। कहो, वजुभाई! निमित्त से कुछ होता नहीं, पर से कुछ होता नहीं और फिर यह (ऐसा कहे)। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में तो चैतन्य निधान, अनन्त गुण का प्रभु धारक प्रभुत्वशक्ति का पिण्ड आत्मा है। जिसे उसकी दृष्टि, स्थिरता होकर व्यक्तता पूर्णता हुई, एक उस आत्मा को आदर्शरूप से, दर्पणरूप से कि जैसा उनका स्वरूप है, वैसा मेरा है—ऐसा अन्तर में जिसने आत्मा के स्वभाव की शुद्धता की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता द्वारा पूर्णता जिसने प्राप्त की है, ऐसे परमात्मा के प्रति धर्मात्मा को भक्ति हुए बिना नहीं रहती और वह ऐसा ही कहता है, प्रभु! मैं मुक्त हुआ अथवा मुझे आत्मा का भान हुआ, वह आपकी कृपा का फल है। क्योंकि परम्परा से आपको हमारे सब जीवों के ऊपर वात्सल्य वर्तता है। भाई! इसमें है न?

हे नाथ! सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव प्रभु तो वीतराग हैं। अनन्त-अनन्त जिनकी शक्ति का, स्वभाव का सत्त्व है, उसकी व्यक्तता-प्रगटता हुई है। उसे कहते हैं कि प्रभु! आप तो हमारे प्रति वात्सल्य-प्रेम करनेवाले हो। लो! भगवान वात्सल्य करते होंगे? उन्हें अकषाय करुणा है। अकषाय करुणा। पूर्व में विकल्प—राग था कि मैं पूर्ण आत्मस्वभाव को पाऊँ, ऐसा जब विकल्प टूटकर पूर्णता हुई, तब मानों जगत की करुणा के लिये उनकी वाणी बरसती हो, ऐसे भक्त अपनी आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और उल्लास में ऐसा कहते हैं कि प्रभु! यह हम धर्म को प्राप्त हुए, वह आपकी कृपा और करुणा का फल है। समझ में आया? ईश्वरचन्दजी! गजब भाई!

यह अकषाय करुणा अर्थात्? ऐसे जब आत्मा का भान हुआ, पश्चात् विकल्प तो राग रहा, इसलिए पूर्ण होऊँ, ऐसा हुआ और जगत के प्राणी इस आत्मा के इस स्वभाव की निधिरूप चैतन्य चमत्कार भगवान को वे समझें, पहिचानें और प्राप्त करें। इस प्रकार वे भगवान सर्वज्ञ होने से पहले भी उनको ऐसा राग था। राग टलने के पश्चात् भी अकषाय करुणा ऐसी रह गयी है, इस प्रकार आचार्यों ने वीतरागी करुणा को, आप प्रभु हमारे ऊपर प्रेम धारण करते हो, (ऐसा कहा है)। प्रेम तो स्वयं करता है वहाँ। समझ में आया?

महाप्रभु... महाप्रभु। महाप्रभु अर्थात्? कि जिसकी शक्ति में तो प्रभुता पूर्ण थी, सबको है, परन्तु जिसकी दशा में महाप्रभुता प्रगट हो गयी। उसे कहते हैं, प्रभु! आपकी कृपा से हमें यह धर्म समझ में आता है, हों! ईश्वरचन्दजी! कृपा कैसी यह? दूसरे ईश्वर जैसे दूसरे का कुछ करते होंगे? स्वयं का प्रेम है न, भगवान के प्रति? आहाहा! हे नाथ! आपकी यह निधि आपको प्रगट हुई! और हम तो आपके दासानुदास सेवक हैं। आपके चरणरज सेवक हैं। प्रभु! हमें तो ऐसा लगता है कि हमारे प्रति आपको वात्सल्य—प्रेम वर्तता है। समझ में आया? ऐसा भाव सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव और सिद्ध भगवान को जो जाने, पहिचाने, उसे ऐसे परमात्मा के प्रति उल्लास, भक्ति, पूजा, वन्दन, स्तुति, स्तवन, स्मरण—ऐसा भाव शुभ आये बिना नहीं रहता। है वह शुभराग, पुण्यबन्धन का कारण, परन्तु पूर्णता की प्राप्ति अपने को न हो, तब वह भाव—भक्ति का उल्लास आता है।

अरे! तुझे भगवान की भक्ति उल्लसित नहीं होती? कहते हैं न? नियमसार। पद्मप्रभमलधारी मुनि। अरे! तुझे भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ (के प्रति भक्ति नहीं आती)? इसका अर्थ यह है कि ऐसे राग-द्वेष, निमित्त और अल्पज्ञ की रुचि टूटकर, यह आत्मा स्वभाव की मूर्ति है, ऐसी प्रतीति और सम्यग्दर्शन यदि तुझे हुआ और भान (होकर) यदि आत्मा की भक्ति तुझे हुई तो तुझे भगवान की भक्ति आये बिना नहीं रहेगी; और तुझे भगवान की भक्ति न आवे तो संसार के महा मगरमच्छ के मुख में तू पड़ा है। भव समुद्र में चौरासी के अवतार में (तू पड़ा है)। जिन्होंने भव तोड़े, भगवान ने तोड़े और भव तोड़ने की बातें कीं। जिसने भव अर्थात् राग और द्वेष तथा राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे हैं—ऐसा जो अज्ञान, वह अज्ञान और राग-द्वेष टालकर जिसने ज्ञान और वीतरागता प्रगट की, ऐसे परमात्मा की यदि भक्ति तुझे न हो। उन्होंने तो भव टाले हैं और भव टालने की बात करुणा से अकषाय हृदय से कर रहे हैं, तो ऐसे भगवान के प्रति तुझे यदि प्रेम न आवे और उनकी अपेक्षा, स्त्री, पुत्र, शरीर, परिवार, लक्ष्मी, इज्जत के प्रति प्रेम अधिकरूप से वहाँ लुट जाए तो कहते हैं कि महामूढ़ है। संसार के समुद्र के मध्य महा मगरमच्छ के मुख में पड़ा है।

मगरमच्छ का स्वभाव देखा है? सुना है? वह पैर पकड़े उसे छोड़ता नहीं। वह पकड़ना जानता है। छोड़ना नहीं जानता मगरमच्छ। भाई! उसका स्वभाव है। समझ में

आया? मगरमच्छ किसी भी बालक को, उसको पड़ा हो और पकड़ा पैर, पश्चात् समाप्त। यह तो समुद्र में मध्य में खींचकर ले जाकर ही रहेगा। मध्य में ले जाकर फिर खायेगा। उसे पकड़ना आता है। छोड़ना नहीं आता। उसी प्रकार अनादि का अज्ञानी, यह स्वभाव चैतन्य ज्योति ज्ञाता-दृष्टा है। जगत का साक्षी दीपक है, ऐसी यदि तुझे रुचि हो तो सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्ति का राग आये बिना रहे नहीं। नहीं तो मगरमच्छ ने पकड़ा, अज्ञान से पकड़ा गया है। यह पकड़ा गया, सो पकड़ा गया। अज्ञानभाव में छूटने का स्वभाव नहीं है। वे मगरमच्छ पैर पकड़ते हैं, छोड़ना नहीं आता। अज्ञानी ऐसे पकड़ रखता है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग होता है न, वह राग है, (उसे) पकड़ना आता है अज्ञान में, छोड़ना नहीं आता। समझ में आया?

यहाँ मुनि हैं। जंगल में बसनेवाले छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले पद्मनन्दि आचार्य हैं। हजार वर्ष पहले जंगल में उन्होंने भगवान की स्तुति की है। मानो ऋषभदेव भगवान सामने विराजमान हों और मानो भक्त कन्धा पकड़कर (कहता है), खड़े रहो प्रभु! ओहोहो! 'समन्तभद्र' में यह आता है। यहाँ ऋषभदेव की स्तुति जंगल में रची है। धर्मी को धर्म कर्तव्य आत्मा का भान हुआ, उसमें उसे ऐसी भक्ति का भाव होता है, यह बतलाने के लिये यह स्तुति और भक्ति का वर्णन किया गया है।

'जय' पहला शब्द पड़ा है। पहला श्लोक।

गाथा १

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह।।१।।

अर्थ :- श्रीमान् नाभिराजा के पुत्र; ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूपी घर के लिये दीपक तथा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले, हे ऋषभदेव भगवान! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो। समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करनेवाले और निर्मल गुणोंरूपी रत्नों के आकर (खजाना) - ऐसे हे नाथ! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो।

श्लोक - १ पर प्रवचन

श्रीमान्! नाभिराजा के पुत्र... अब नाम से पहिचान कराते हैं। पहले कुल से पहिचान कराते हैं। फिर उनकी जाति से (पहिचान करायेंगे)। प्रभु! यह अनादिमुक्त नहीं थे, ऐसा बतलाना है। प्रभु का आत्मा या कोई आत्मा, तीर्थंकर हुए, वे अनादिमुक्त नहीं थे, वे पूर्व में आत्मज्ञान पाने के पश्चात् तीर्थंकरगोत्र बाँधा और फिर किसी कुल में उनका जन्म हुआ है। ऐसे परमात्मा के माता-पिता से उन्हें बतलाते हैं। वे कोई परमात्मा (अनादि से मुक्त नहीं हैं)। कितने ही कहते हैं कि अनादि मुक्त हैं। नहीं, ऐसे-ऐसे तीर्थंकर को तीर्थंकर नहीं कहा जाता।

तीर्थंकर और जो जगत के तीर्थ के प्रवर्तन करनेवाले कोई कुल में जन्मते हैं। शरीररूप से। निश्चय से तो अपनी पर्याय में जन्मते हैं। परन्तु बाहर यह बतलाते हैं कि यह जो तीर्थंकर की स्तुति करता हूँ, वह अनादि का यह आत्मा है, परन्तु इसकी दशा अनादि की नहीं थी। जब सर्वज्ञपद की दशा हुई, उस काल में उनके माता-पिता कौन थे, यह बताकर भगवान की स्तुति करते हैं।

श्रीमान्! नाभिराजा के पुत्र... भगवान तो पुत्र होते नहीं। कहो, समझ में आया? पहिचान कराते हैं कि ऋषभदेव का आत्मा कुछ राग बाकी रह गया था, पुण्यबन्धन हुआ था तो वे नाभिराजा के कुल में अवतरित हुए। अर्थात् नाभि राजा की पत्नी ऐसी मरुदेवी माता के गर्भ में (अवतरित हुए)। ऐसा कहकर उनका अस्तित्व कहाँ था, कहाँ से आये, उनके माता-पिता वे हैं, अध्धर से (खत) लिखनेवाला नहीं है। समझ में आया? वे तीर्थंकर नाभि राजा के पुत्र—एक बात कही। अब यह तो निमित्त से पिता की बात से उन्हें बतलाया है।

अब प्रवचनसार में पहले चला है कि मैं भक्ति करनेवाला, वन्दन करनेवाला कौन? और किसे वन्दन करता हूँ? पहले आता है न? मैं, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं भगवान को वन्दन करता हूँ। मैं कौन और जिन्हें वन्दन करता हूँ, वे कौन, दोनों का मुझे भान है। समझ में आया? यह भगवान को वास्तविक वन्दन और स्तुति तथा भक्ति

कर सकता है। ऐसे का ऐसा अन्धी दौड़ से अनादि काल से कौन अरिहन्त है, (उनका स्वरूप पहिचाने बिना) णमो अरिहंताणं (करता है)। कहाँ गये केवलचन्दभाई! समझ में आया? वहाँ साथ में बैठे हैं। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं। किसे खबर कि अरिहन्त कैसे होंगे। वे तो एक वहाँ भगवान है। तीन काल का जानते हैं, ऐसे हैं। परन्तु क्या है? तीन काल का जाने, ऐसी शक्ति क्या, उसकी प्रगट दशा क्या और तू उसे वन्दन करनेवाला किस स्थिति में खड़ा है और किस स्थिति में वन्दन जिसे करता है, उसकी क्या स्थिति है? उसके वास्तविक ज्ञान बिना इसकी श्रद्धा भी सच्ची नहीं और इसकी भगवान के प्रति भक्ति भी सच्ची नहीं। कहो, समझ में आया? इसलिए पहली बात (करते हुए) उनके पिता के नाम से पहिचान करायी। अभी अवतार में यहाँ आये हैं, तब सर्वज्ञ होकर नहीं आये हैं, परन्तु इस भव में सर्वज्ञ होनेवाले हैं।

तथा ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोकरूपी घर के दीपक... हैं। कैसे हैं प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा? कुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहा, मैं वन्दन करनेवाला कौन? प्रभु! वन्दन करनेवाला मैं आत्मा। मैं ज्ञान-दर्शनस्वभाव से भरपूर, वह मैं। पुण्य-पाप का राग उठे, वह मैं नहीं। मैं एक ज्ञान-दर्शन के स्वभाव से भरपूर पदार्थ, वह मैं। आप कैसे हो? तीन काल-तीन लोक को जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण जाना है। ऐसे सर्वज्ञपद को मैं यह नमस्कार करता हूँ। कहो, समझ में आया इसमें कुछ? कहते हैं, तीन लोक के दीपक हो। यह तो तीन लोक के दीपक हैं। सर्वज्ञपद अन्दर प्रगट हुआ, तीन लोक को बतलानेवाला दीपक है। ऊर्ध्वलोक में क्या, मध्यलोक में क्या और अधोलोक में क्या, इस तीन लोक के दीपक। यहाँ तो तीन की बात की। लोकालोक के दीपक हैं।

चैतन्य दीपक प्रभु आपको ऐसा प्रगट हुआ है, ऐसा उजाला प्रगट हुआ है। प्रगट हुआ है का अर्थ? कि आपके अन्दर ज्ञानकली जो अन्दर थी, ज्ञानकली-स्वभाव, उसमें एकाग्र होकर जो केवलज्ञान खिला है, केवलज्ञान खिला है। देखो! यह भान कहाँ से हुआ? कहाँ से आया? ऐसे भानसहित भगवान को वन्दन करते हैं। आहाहा! कौन जाने अन्ध दौड़ से... भगवानजीभाई! रुपये दो कि भाई! मन्दिर बनाओ... पश्चात? वे भगवान कौन हैं परन्तु अन्दर जिन्हें तू विराजमान करता है? तू उन्हें पधराता है, किस प्रकार है?

और उनके मूल भाव निक्षेप स्वरूप हैं, वे क्या हैं ? खबर नहीं होती। भाव क्या, भगवान जाने। भावनिक्षेप क्या, सब यह भगवान। यह भगवान माने तिरा (देंगे), मूर्ति तिरा देगी और मूर्ति तुझे कल्याण कर देगी।

भाई! यह तो शुभराग आवे, तब उसे निक्षेप व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु किसे ? जिसे उसके सर्वज्ञपद के प्राप्त की प्रभुता की जिसे खबर है। प्रभु! आप तो तीन लोक के दीपक हो। कर्ता नहीं। इसलिए ऐसा सिद्ध किया। कोई ऐसा कहे कि भगवान इस जगत के कर्ता हैं या कुछ देते हैं या कुछ देते हैं अथवा कुछ लेते हैं। ऐसे प्रभु नहीं हो सकते। उन्हें प्रभु नहीं कहा जा सकता। वे तो तीन लोक के प्रकाशक हैं— जाननेवाले हैं। क्या है मैं और क्या है वे, इसका सर्वज्ञपद में ज्ञान हुआ है। ऐसा पद जिसे दृष्टि में, श्रद्धा-ज्ञान में आया है, वह सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करता है। कहो, समझ में आया ? ईश्वरचन्दजी! यह ईश्वर को बतलाते हैं।

ऊर्ध्वलोक-मध्यलोक-अधोलोकरूपी जो घर... वापस यह घर। जगत का घर होता है न। घर में एक दीपक हो तो ऐसे प्रकाश दे। यह तीन लोक का दीपक। तीन लोक का घर। उसमें एक दीपक, प्रभु! पूरा चैतन्य केवलज्ञान प्रकाशित हुआ है, उन सर्वज्ञ की हमें प्रतीति हुई है। आप सर्वज्ञ हो, ऐसा हमें भरोसा आया है। क्यों ?—कि वह सर्वज्ञपद आपने अन्तर के स्वभाव में से विकसित कर प्रगट किया है। हम भी हमारे चैतन्य के एक समय के सामर्थ्य के स्वभाव की प्रतीति, रुचि हमने की है। और हमने सर्वज्ञपद को शक्तिरूप से प्रतीति की है। आपको व्यक्तरूप से प्रगट हुआ है। हे प्रभु! आप तो तीन लोक के दीपक हो। इसका अर्थ किया, यह मैं भी तीन लोक का जाननेवाला और देखनेवाला हूँ। समझ में आया ? पूर्णचन्दजी! क्या है ?

यह तो कहे, लो! भगवान की पूजा-भक्ति ... अपने इतनी सब चर्चाएँ और तत्त्व की बात और उपादान से काम होता है, निश्चय से काम होता है, व्यवहार तो राग आवे, वह बन्ध का कारण है। ऐसी चर्चाएँ अपने परम्परा—माँ-बाप को खबर नहीं थी। अपने माँ—बाप और सब... केवलचन्दभाई! तुम्हारे पिता को यह खबर थी ? इन सब बातों की ? कुछ सुना नहीं था वहाँ। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया। भाई! तुम्हारे पिता को ऐसी कुछ खबर नहीं थी। उपादान क्या और निमित्त क्या और निश्चय क्या तथा व्यवहार

क्या ? तब वे सब पूजा-भक्ति करते, उन्हें धर्म होता होगा या नहीं ? भगवानजीभाई ! यह प्रश्न किया। अरे ! भगवान !

ऐसा कि ऐसी सब चर्चाएँ जो तत्त्व की अभी चलती हैं। उस तत्त्व की चर्चा की तो गन्ध भी नहीं थी अपने माता-पिता और कुटुम्ब के पास। तो वे लोग पूजा-भक्ति करते थे तो धर्म है या नहीं ? कहे, हाँ। वह कहे धर्म है। क्यों ? भगवान को मानते हैं न, भगवान की पूजा करते हैं। अरे ! मानता नहीं, सुन न अब। हमारे पिता पूजा-भक्ति करते थे और ऐसे यात्रा निकालते थे और दो-दो लाख—पाँच लाख खर्च करते थे। उन लोगों को कुछ धर्म होता होगा या नहीं ? ऐ कुँवरचन्दजी ! एक बार प्रश्न किया था। फिर एक पण्डित ने उन्हें जवाब दिया। उन्हें भी धर्म होगा। भगवान को मानते थे न, यह भगवान है। और पूजा में भाव होता था न। भाव है न, वह भाव, इसलिए उन्हें धर्म होता था। अरे ! भगवान ! उस धर्म की खबर भी नहीं, वहाँ धर्म कहाँ से होता था ? धूल में ? वहाँ मन्दिर में जाकर टोकरा बजावे या यह करे या पूजा करे। धर्म कहाँ था ? धर्म...

ऐसा कहते हैं, प्रभु ! आप तीन लोक के दीपक हो। देखो ! यह गुण से वर्णन (करते हैं) । पहले पिता से वर्णन किया था। साथ का साथ डालते हैं, प्रभु ! आप तीन लोक के दीपक हो। अर्थात् ? तीन काल में जितने पदार्थ हैं, उन सबके आप तो जाननेवाले-देखनेवाले हो। जानने-देखने के अतिरिक्त आपने किसी का कुछ किया नहीं। वापस कहेंगे वात्सल्य अभी, हों ! वापस। देखो ! यह पहचान सर्वज्ञ और उनके साथ आत्मा की पहचान। यह पहचानवाला भगवान को ऐसे खड़े रखकर (कहता है), भगवान ! खड़े रहो, हम भी खड़े हैं। वजुभाई ! हमारा आत्मा ज्ञान निधि चैतन्यस्वरूप है। हम तो ज्ञाता -दृष्टा हैं। यह भक्ति का राग आवे, उसका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, परन्तु आता है। आता है तो भी वह राग धर्म नहीं है और वह आये बिना रहता नहीं है। उपकारी के उपकार के लिये यह भाव आये बिना नहीं रहता। तथापि हम कहते हैं कि प्रभु ! आपने तो पूर्ण प्रगट किया, वह तो तीन लोक के दीपक तीन लोक लोक को प्रकाशित किया है। तीन लोक में से कोई परमाणु, किसी जीव को आपने बनाया (नहीं) । बनाया है ? स्तुति में-पूजा में आता है। प्रभु ! इस जगत के ईश तो उसे कहा जाए कि कुछेक जीव बनावे

जगत के। और यह तुमने प्रगट होने के बाद तो जगत के जीवों का संहार होकर मुक्ति में जाते हैं। तुम तो घटा देते हो। क्या कहा? भगवानजीभाई! क्या कहा?

जगदीश किसे कहा जाता है? जगदीश किसे कहा जाता है? कि जगत के जीवों को बनावे, रचे, वृद्धि करे। प्रभु! आप जगदीश यह किस प्रकार के? तीन काल का ज्ञान आपने किया और आपने जो वाणी समझायी, उससे जगत के जीवों की संख्या घट गयी और मुक्ति को पाते हैं। तब वे लोग कहें, जगत के ईश उसे कहा जाता है कि जगत में जीव घटें तो उन्हें बनावे नया। कहते हैं, नहीं, नहीं। वह जगत का ईश नहीं कहलाता।

जगत का ईश तो उसे कहते हैं कि जिसके ज्ञान में स्वपरप्रकाशक तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए, ऐसा जिसने उपदेश किया कि तू आत्मा भी चिदानन्दस्वरूप है। तू ज्ञानमूर्ति प्रभु है। यह राग-विकल्प आवे, वह तेरा स्वरूप नहीं है। हम पूर्ण हुए, तब प्रकाशित करनेवाले हैं, तो अपूर्ण में भी प्रकाशक शक्ति के भान बिना हमारे पूर्ण प्रकाश की प्रतीति और भक्ति तुझे सच्ची नहीं हो सकती। मोहनभाई! बराबर होगा? वह कहे कि हाँ, उसमें धर्म होगा। अरे! भान भी कहाँ था, धर्म धूल भी नहीं होगा वहाँ। ऐसा कहते हैं। प्रभु! तीन लोक के दीपक। जहाँ हो, वहाँ आप तो प्रकाशित कर रहे हो। कोई अधो में नारकी को बनाया, ऊर्ध्व में स्वर्ग को बनाया, मध्य में मनुष्य को और तिर्यंच को बनाया या उन्हें सहायता की और उनके लिये अवतार धारण किया, ऐसा भगवान नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

भगवान परमात्मा तीन लोक के दीपक और **धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले...** **'तित्थयर'** है न? **'तित्थयर'** आप तो धर्म की प्रवृत्ति करनेवाले। ओहोहो! धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति। निमित्तरूप से। ऐसा सर्वज्ञपद प्रभु! आपको प्रगट हुआ है न! वह वाणी निकलकर। वह आपने तो परपदार्थ के कर्ता-हर्ता रहित आत्मा को खोला और प्रकाशित किया, ऐसा आपने कहा। आत्मा किसी चीज़ का अनादि-अनन्त कोई पदार्थ, उसकी किसी दशा का आत्मा कर्ता-हर्ता है नहीं। ऐसा आपने तीन लोक के प्रकाशितरूप से प्रकाश किया और जगत को यह कहा, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति। अर्थात् ज्ञाता चिदानन्द ज्ञानमूर्ति है। उसे जानना-देखना, वही तुम्हारा स्वरूप है। अपूर्ण दशा हो तो भक्ति का भाव आदि नमस्कार, स्मरण, जाप आये बिना नहीं रहता। परन्तु वह पुण्यबन्ध का

कारण है। ओहोहो! देखो न! अभी यह चलता है न बहुत? वर्षीतप और जप और तप सब मानो धर्म है। धूल में भी धर्म नहीं। अज्ञानी ने उसमें धर्म मनवाया और मान रहे हैं। समझ में आया? कैसे होगा इसमें? भगवानजीभाई! यह सब सूखते होंगे मुफ्त के?

अरे! प्रभु! भाई! अनन्त काल की चीज़... यहाँ तो तीन लोक के दीपक को ऐसी प्रवृत्ति बतायी। क्या बतायी? सर्वज्ञपद मेरा है और सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हैं, तुम सर्वज्ञरूप से प्रगट होओ। इसका अर्थ कि तुम्हारे ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि और रुचि करो। यह धर्म की प्रवृत्ति के करानेवाले भगवान निमित्तरूप से कहने में आते हैं। समझ में आया? गजब बात, भाई! ऐसे झगड़े और तूफान! बापू! ऐसा काल मिला, यह जीभ नहीं मिलेगी, कान नहीं मिलेंगे, तब क्या करेगा? और अभी कान तथा जीभ है तो उनसे क्या करेगा? समझ में आया? यह तू नय से तेरे ज्ञान को जान। यह वस्तु त्रिकाल शुद्ध चैतन्य एकस्वरूप है, वह तो प्रकाश दीपक जगत का है। भले मेरी दशा में राग हो परन्तु वह राग पुण्य, दया, दान या जप, तप का विकल्प-राग उठे, वह मेरा मूलस्वरूप नहीं है। मैं भी सर्वज्ञ की तरह, अल्पज्ञ पर्याय में भी मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा भान हुए को भगवान की भक्ति कर रहा है। समझ में आया? नेमिदासभाई! क्या होगा यह? लाख-दो लाख के मन्दिर करे, वहाँ ऐसा हो जाए कि अपने (धर्म किया)। किया है इन्होंने?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ किया नहीं। राग मन्द किया हो तो पुण्य होगा। वह तो उसके काल में वह संयोग बननेवाला ही था। भगवानजीभाई! अब भगवानजीभाई का नम्बर आया। पहले नानालालभाई का था, फिर नेमिदासभाई का, अब भगवानजीभाई का। कहो, समझ में आया? पहले हुआ है न राजकोट, २००६ के वर्ष में। फिर २०१० में हुई। ......

धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति... यह क्या कहा? कि आप ज्ञानरूपी धर्म आत्मा का, जानना-देखना ऐसा जो स्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूपी धर्म की प्रवृत्ति करनेवाले, वह तिरने का उपाय है, ऐसा आपने जगत को समझाया है। समझ में आया? ऐसे **हे ऋषभदेव भगवान!** ऐसे **हे ऋषभदेव भगवान!** **'उसह'** आया न पहला? मूल तो ऐसे पिता से और पवित्रता से पहचान करायी है। नहीं तो यह नाम है न, इसमें ही

ऋषभति इति ऋषति इति गच्छति इति परमपद। अपने पवित्र पूर्ण पद के प्रति जिसकी गति बहती है और प्रगट दशा हो गयी है, उन सब आत्माओं को ऋषभदेव कहा जाता है। ऋषति गच्छति परमपद। अपना निजानन्द पूर्ण स्वरूप, जो अल्पज्ञ और राग-द्वेष तथा निमित्त से रहित है, उसके पद में घुसकर, रहकर, टिककर, रुककर जिन्होंने पूर्ण दशा प्रगट की, ऐसे परमात्मा को ऋषभ से पहचाना जाता है।

हे ऋषभदेव भगवान! आप लोक में सदा जयवन्त रहो। प्रभु! इस लोक में आप सदा जयवन्त रहो। ऐसा कहकर धर्मी जीव ने भक्ति में क्या कहा? कि आप सर्वज्ञपद जो पूर्ण आनन्द, अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य प्रगट हुआ है न, वह जयवन्त रहो। वह ऐसा का ऐसा टिका रहो। साध्यदशा जो पूर्ण प्रगट हुई, (वह) ऐसी की ऐसी रहो। ऐसी की ऐसी रहो। इसका अर्थ कि उस साध्य को हम श्रद्धा करनेवाले, हमारे स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले, हमारी साधकदशा भी जयवन्त रहो। वजुभाई! अर्थात् कि हमें राग होओ और राग जयवन्त रहो, हमें राग आओ, वह टिका रहो, ऐसा धर्मी के श्रद्धा और ज्ञान में नहीं होता। समझ में आया?

भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ आपको जो पूर्ण दशा प्रगट हुई, प्रभु! जयवन्त रहो। वह ऐसा टिका रहो साध्यस्वभाव और उस साध्य को अनुमोदन करनेवाले हम हमारे ज्ञान और आनन्द हमारी चीज़ है, उसे हम श्रद्धा-ज्ञान में लेनेवाले, हमारी दशा भी इस प्रकार से ही साधकरूप से जयवन्त रहो और साध्य की पूर्ण दशा हमें भी होओ। कहो, समझ में आया इसमें?

देखो न! मुनि हैं, भावलिंगी सन्त हैं। जिनकी दशा नग्न है—दिगम्बरदशा। जंगल में बसनेवाले। जैनदर्शन में भावलिंगी सन्त अर्थात् वास्तविक तत्त्व की दृष्टि में तो जिन्हें ऐसे भाव अन्तर्दृष्टि का भान हुआ और फिर चारित्र की रमणता जहाँ प्रगट हुई, उनकी सहजदशा नग्न (हो जाती है)। इतनी उदासीनता-वीतरागता हो जाती है कि उन्हें सहज दिगम्बरदशा होकर वनवास में ही बसते हैं। इतनी परमात्मा के अन्तर स्वरूप के साथ सावधानी हो। कहो, समझ में आया?

बड़ा आड़तिया हो और पैसा बहुत देता हो और मदद करता हो, उसे सब प्रकार से पहचानता हो। उसका घर, उसके लड़के, उसकी लड़कियाँ सबको पहचाने या

नहीं ? केवलचन्दभाई ! सबको पहचाने । हमारा बड़ा आड़तिया । भाई ! उसके पास पाँच करोड़ रुपये हैं और इतनी आमदनी है और इतना यह ऐसा है और उसके पुत्र यहाँ रहे हैं और उसका यहाँ है । सब पहचान होती है, लो ! क्योंकि भाई ! हमारा अन्नदाता है । ऐसा कहते हैं या नहीं । हमारा अन्नदाता है । अन्नदाता तो कोई धूल भी नहीं है ।

यहाँ धर्मात्मा एक समय में सर्वज्ञ हमारे आड़तिया यह हमको अन्नदाता हमारे चैतन्य के प्राण को पुष्टि प्रदाता, निमित्तरूप से व्यवहार से ऐसा कहा जाता है न ? यह तो बात चलती है यहाँ । वात्सल्य लेंगे अभी यह । **हे भगवान ! आप तीन लोक में सदा जयवन्त रहो ।** आप तो इस लोक में जयवन्त रहो । ओहोहो ! अन्तर स्वरूप में... यह शरीर, वाणी, मन टिको या न टिको, वह कुछ हमारे अधिकार की बात नहीं है । वे हमारे अवयव ही नहीं हैं । क्या ? धर्मी ऐसा समझता है, मानता है कि वे हमारे अवयव ही नहीं हैं । हमारे अवयव तो एक समय में अनन्त गुण जो अन्दर पड़े हैं, वे हमारे अवयव हैं । अवयव समझ में आता है ? यह शरीर अवयवी कहलाता है न पूरा ? पूरा । और यह इसके अवयव हाथ-पैर । नहीं, अपने शरीर भी नहीं और इसके अवयव भी नहीं ।

धर्मी सम्यग्दृष्टि की वीतराग परमात्मा के शासन में जिसे धर्मदशा श्रद्धारूप से प्रगटी है, ज्ञान में ज्ञात हुआ है और रमणता उसकी यथाशक्ति प्रमाण हुई है, वह ऐसा जानता है कि यह शरीर आदि अवयव हमारे नहीं हैं । भगवान को कहाँ वे अवयव हैं ? भगवान को तो यहाँ कहेंगे, वात्सल्य और अनन्त गुण के निधान हो । आपको शरीर-बरीर नहीं । वैसे ही धर्मी जीव अपनी श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा लेता है कि यह अवयव तो जड़ के हैं न, हम तो अवयवी आत्मा और उसके अवयव अर्थात् भाग अर्थात् अंश, वे हमारे अनन्त गुण हैं । और बहुत गिनो क्षेत्र से तो हमारे असंख्य प्रदेश हैं । प्रदेश असंख्य । एक परमाणु जितनी जगह रोके, उतने भाग को प्रदेश कहा जाता है । उन प्रदेशों में अनन्त गुण पड़े हैं, तो प्रदेश हमारा अवयव और गुण हमारा अवयव । उनका धारक ऐसे हम अवयवी हैं ।

प्रभु ! आप ऐसे हो । किस प्रकार कहते हैं यह ? **समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करनेवाले...** फिर वह बोल लेंगे । प्रभु ! हमारे प्रति तो आपको प्रेम वर्तता है, हों ! ले ! वात्सल्य । वे कहते हैं न एक, नहीं ? वे कैसे ? धर्म । माणेकचन्दजी । भगवान

को सबके प्रति वात्सल्य वर्तता है। परन्तु वह कौन सा वात्सल्य? भाई! वह निःशंक, निःकांक्ष, वात्सल्य (आदि) आठ गुण समकित के हैं, उनका व्यवहार जो वात्सल्य है, वह नहीं। क्या कहा? धर्मी जीव को आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति-रुचि का भान हुआ, यह पहली धर्म की दशा। उसमें वे आठ गुण व्यवहार से होते हैं। निश्चय से स्वभाव में, व्यवहार से वात्सल्य भगवान के प्रति, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति, साधर्मी के प्रति (होता है)। जैसे बछड़े के प्रति गाय को, बछड़ी या बछड़े के प्रति गाय को प्रेम होता है, वैसे धर्मी को शुभराग में साधर्मीजनों के प्रति प्रेम होता है, वात्सल्य होता है और अन्तर में चैतन्य निधान पड़ा है, उसके प्रति निर्विकल्प वात्सल्य होता है। समझ में आया? भगवान को निर्विकल्प वात्सल्य वर्तता है। उन्हें राग नहीं है।

यह कहते हैं कि प्रभु! हमको तो वात्सल्य रागरूप से विकल्प आता है। और अन्तर वात्सल्य हमारा निर्मल आनन्दस्वभाव का हमको वात्सल्यपना, प्रेमपना, प्रीतिपना वर्तता है। वह तो यहाँ निर्जरा अधिकार में नहीं आया? प्रीति-रुचि। आत्मा में प्रीति कर, रुचि कर, सन्तोष कर और उसमें एकाकार होकर तृप्ति पा। निर्जरा अधिकार में आया? वह निर्जरा है। लोग कहते हैं न कि यह अपवास किये, यह किया और निर्जरा (हो गयी)। अरे! धूल में भी निर्जरा नहीं है, सुन न अब। मर गया ऐसा अनन्त काल करके। तुझे बनानेवाले, मनानेवाले भी ऐसे मिले। झुकानेवाले मिले, जहाँ-तहाँ झुक गया। मन्दिर बनाये और धर्म हो गया। अपवास किये और धर्म हो गया। यह सामायिक, प्रौषध इसने माने हुए किये (और धर्म हो गया)। धूल में भी धर्म नहीं है। तू अभी सामायिक प्रौषध कहाँ से लाया? आत्मा अकेला समता का पिण्ड चिदानन्द ज्ञातादृष्टा एक रजकण को हिलावे, रखे-छोड़े नहीं। एक राग के तीर्थंकरगोत्र के भाव को भी बाँधे और छोड़े नहीं। ऐसा आत्मा ज्ञाता के श्रद्धा-ज्ञान के भान बिना उसे कोई भी तप नहीं हो सकता।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! **आप सकल जीवों पर वात्सल्य धारण करते हो...** बस! अभव्य के ऊपर भी? हे प्रभु! मेरे प्रति आपको वात्सल्य है न? आपके केवलज्ञान की जो दशा, उसमें आपके पूर्ण ज्ञान में वर्तमान मैं आपका भक्त हूँ, ऐसा भासित हुआ है। स्वभाव का भक्त और राग से भक्त व्यवहार से, ऐसा आपके ज्ञान में भासित हुआ, वह आपका ही मेरे प्रति वात्सल्य है। वजुभाई! समझ में आया?

एक बार वीरजीभाई ने एक मुसलमान की बात नहीं की थी ? एक बड़ा मुसलमान था भाई करोड़पति। लालपर या ऐसे में। करोड़पति मुसलमान। फिर उसका पुरानी का एक लड़का। पुरानी स्त्री मर गयी। उसका लड़का (था)। नयी से विवाह किया। नयी को लड़के छोटे-छोटे। फिर इससे कहे अलग हो अब। ऐई ! नेमिदासभाई ! देखो ! लड़का होवे तो चैन नहीं और न होवे तो भी चैन नहीं। उसकी बात यहाँ है नहीं कुछ। उस पुराने लड़के को कहे, तू अलग हो। करोड़ रुपये और कितनी पूँजी, कितनी आमदनी और कितने मकान लाखों के। तब कहे, देख भाई ! तुझे आठ हजार रुपये दूँगा और यह एक मकान दूसरा छोटा साधारण दो-पाँच हजार का। लड़का कहता है, बापू! आपका मेरे प्रति प्रेम है न, वह बस है। मेरे पास बहुत पैसे हैं। आठ हजार। वह करोड़पति, उसका लड़का। केवलचन्दभाई ! कहते हैं, बापू! मेरे प्रति आपका प्रेम है न, इतना बस है। आठ हजार से सन्तोष है। लाओ मैं हस्ताक्षर कर दूँ। छोटा मकान पाँच हजार का दिया। लाओ हस्ताक्षर कर दूँ। मेरा हक अब आपमें कुछ नहीं है। हस्ताक्षर कर दिये। उसमें उसका पिता मर गया। उसकी नयी माँ, लड़के छोटे। उन्होंने बुलाया। यह ट्रस्ट को सौंपेंगे तो खा जाएँगे। करोड़ रुपये। उसे बुलाया, भाई ! यह खत लिखा है न, उसे फाड़ डाल। तब (अथवा अब) ? यह है न वह सब तेरा ही है। अब ये तीन तेरे भाई हैं, उन्हें हिस्सा देना हो तो देना। ...चन्दभाई ! परन्तु वे दूसरे खा जाएँगे। किन्तु तू मेरा पुत्र है न, मेरे पति का पुत्र है और मेरा पुत्र है। वह खत फाड़ डाल। यह रुपये करोड़, यह व्यापार, यह दुकानें सब। तेरे हाथ, तुझे करना हो (वह कर)। तुझे चार हिस्से करना हो तो करना और जैसे करना हो, वैसे करना। परन्तु बापू ! ...

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! सर्वज्ञ परमात्मा की मेरी वर्तमान दशा में, यह आपके केवलज्ञान में मेरे प्रति वात्सल्य भासित होता है तो आपके ज्ञान में मुझे सर्वज्ञ के प्रति प्रेम वर्त रहा है। आपको मेरे प्रति प्रेम है, ऐसा मैं कहता हूँ। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। कहो, समझ में आया ? आहाहा ! वाह रे भगत ! देखो तो सही ! ऐसे करना, यह करना और सिरपच्ची और अन्दर कुछ विवेक की खबर नहीं। ऐसा नहीं होता, प्रभु ! धर्म कोई दूसरी चीज़ है, भाई ! यह भक्ति दूसरी चीज है, धर्म भी कोई दूसरी चीज़ है, इसकी खबर बिना अकेले सिरपच्ची करे। बापू ! यह जन्म-मरण के अन्त इसमें नहीं आयेंगे। दुनिया

तो मनवा लेगी। दुनिया तो पागल और पागल गाँव-गाँव में भरे हैं। केवलचन्दभाई! गाँव-गाँव में पागल।

हे प्रभु! आहाहा! मुनि को अन्दर में उछलता है। भगवान तो कितने अरबों वर्ष पहले हो गये। एक कोड़ाकोड़ी सागर। ऐसा कहते हैं कि हे भगवान! आप तो सकल जीवों के प्रति वात्सल्य धारक। सकल जीवों के प्रति, सब जीवों के प्रति। सबके प्रति आपको वीतरागता वर्तती है, ऐसे हमारे आत्मा में भी प्रभु! सब आत्मा के प्रति (समदृष्टि वर्तती है)। ओहो! हम ज्ञाता-दृष्टा हैं, ऐसा हमें वर्तता है। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि तो कहते हैं न? कि हमको भेदज्ञानियों के प्रति... वीतरागता बहुत ऊँची है न! राग नहीं और अज्ञानियों के प्रति द्वेष नहीं। हम तो हमारे चैतन्यस्वभाव ज्ञायकनिधि में स्थित हैं। हमारे दोनों के प्रति समभाव है। इसीलिए पहले ज्ञातादृष्टापने निर्णय करके फिर जो विकल्प उठता है जरा, वहाँ कहते हैं कि हे प्रभु! आपको तो हमारे सब जीवों के प्रति वात्सल्य है, हों! आपके सब पुत्र हैं।

कहो, एक ओर कहते हैं, समन्तभद्राचार्य कहते हैं, प्रभु! आपको सब वन्दन करेंगे, हों! परन्तु अभव्य वन्दन नहीं करेंगे। केवलचन्दजी! समन्तभद्राचार्य। सब वन्दन करेंगे प्रभु! परन्तु वे अभव्य नहीं नमेंगे। क्योंकि उन्हें अन्दर में गाँठ है, राग और पुण्य का विकल्प और देह की क्रिया, वह मेरी क्रिया है और शुभराग उत्पन्न होता है, वह मेरा साधन है तथा हितकर मानकर बाँथ भरकर राग में भरा है, वह शुभराग बाँथ भरकर भरा है। वह राग तोड़े ऐसा वीतराग के प्रति उसे प्रीति और रुचि होगी नहीं। बाहर से भले ऐसे-ऐसे, ऐसे-ऐसे करे, अन्दर में वह नमेगा नहीं। समझ में आया? समझ में आया इसमें? केवलचन्दभाई! देखो! यह वीतरागमार्ग क्या है, यह भक्ति में जरा कहा जाता है। आहाहा! गजब बात, भाई!

सकल जीव के प्रति वात्सल्य धारण करनेवाले... सभी जीव। अभव्य के प्रति भी... परन्तु वे नमते नहीं न? आप वीतराग हो न! सर्वज्ञपद में सब जाना। उनकी दशा ऐसी है, इनकी दशा ऐसी है, यह आप सब जाननेवाले हैं। हम तो कहते हैं कि सकल जीव के वात्सल्य आप हो, ऐसा ही हमें भासित होता है। हमको यह भासित होता है। हमको सर्वज्ञपद के प्रति प्रेम उल्लसित होता है और सर्वज्ञ सबके जाननेवाले

हैं। इस अपेक्षा से वात्सल्य करनेवाले हैं, तो हम भी कहते हैं प्रभु! आप सर्व के वात्सल्य करनेवाले हो। हमें किसी के प्रति द्वेष या राग नहीं है। अस्थिरता का जरा आता है, उसे निकाल डालकर कहते हैं, प्रभु! आप तो सर्व के वात्सल्य करनेवाले हो, मैं भी ऐसा ही हूँ, लो! वजुभाई! क्या होगा यह?

अब कहते हैं। वहाँ वात्सल्य करनेवाले लिये। अब अन्दर लिया, भाई! **निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान...** निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान हो, प्रभु! निधान तो लक्ष्मी निधान है। लक्ष्मी को भी परखनेवाला कौन? चैतन्य लक्ष्मी। जो कुछ भी पदार्थ की मुख्यता में ज्ञानस्वरूप भगवान न हो तो यह क्या है? यह क्या है? उसे जाने कौन? मैं इस आत्मा में, हे नाथ! आपको निर्मल गुणरूपी रत्न की निधि है। लो, यह निधि—तुम्हारी लक्ष्मी और यह तुम्हारी पूँजी। ऐसा नहीं कहा, प्रभु! इस जगत में तुमने कुछ राग किया और पुण्य बाँधा और तीर्थंकरगोत्र बाँधा, वह सब तुम्हारी निधि और निधान है। नहीं (कहा)। समझ में आया? आपने तो तीर्थंकरगोत्र बाँधा। आहाहा! समवसरण -धर्मसभा, इन्द्रों की उपस्थिति, सिंह और बाघ जहाँ नमन करे। केशरिया सिंह हो। जिसे देखकर हिरण को त्रास (हो), ऐसे सिंह भगवान को देखकर ऐसे नमन करते हैं। बाघ दहाड़ मारते हुए बाहर से आते हों। यहाँ आवे वहाँ ओहो! प्रभु! आपको ऐसे नमन करनेवाले, ऐसे वात्सल्य करनेवाले; इसलिए आप तो महा निधान, दुनिया भक्ति करे, इसलिए पुण्य के निधान हो। ऐसा है? नहीं। आप तो गुण के निधान हो। ऐसा कहकर मैं भी अनन्त चैतन्य रत्न। देखो! अपने सवेरे शक्ति का वर्णन आयेगा। वे शक्तियाँ अर्थात् गुण। गुण, उन रत्नों का निधान आत्मा। उसे पहचानो और उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना। इसमें यह कहते हैं कि प्रभु! मैं भी ऐसा हूँ, इसमें साथ में आ जाता है।

मेरे आत्मपदार्थ में, दया, दान, विकल्प उठता है, वह कहीं मेरा निधान नहीं है, मेरी लक्ष्मी नहीं है, मेरे स्वरूप में जो (नहीं है), वह तो आगन्तुक मेहमान है। वह मेहमान कहीं घर के मालिक नहीं होते। अन्दर घर में चैतन्य प्रभु एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त गुणों का निधान भगवान आप हो, हों! भगवान! आप अनन्त गुण के निधान हो। अरे! किस दृष्टि से तूने देखा? समझ में आया? किस दृष्टि से देखा? प्रभु! यह आत्मा अनन्त गुण का निधान है न मेरा, इस दृष्टि से आपको व्यक्तरूप से पूर्ण देखा। समझ में आया या नहीं इसमें?

निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान, ऐसे हे नाथ! नाथ! नाथ किसे कहते हैं? प्राप्त चीज़ का रक्षण करे और अप्राप्त को प्राप्त करावे, दे। पत्नी का पति नाथ कहलाता है न? अथवा प्रजा का राजा नाथ कहलाता है। क्यों? प्रजा को दु:ख हो, उसे मिटावे और सुख की सामग्री हो, उसे घटने नहीं दे। ऐसे पत्नी का पति नाथ कहलाता है। उसे प्राप्त चीज़ की हीनता न होने दे और न प्राप्त हुई हो उसे दे। वह तो पुण्य होवे तो दे और मिले, वह यहाँ बात (नहीं है), अभी तो दृष्टान्त है।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा... धन्नालालजी! समझ में आया? यह भक्ति, यह भक्ति। समझकर, इसका नाम भक्ति है। अरे! भगवान! बापू! जहाँ निश्चय की भक्ति शक्ति की प्रगटी है, वहाँ उसे परमात्मा की व्यवहार भक्ति का विकल्प उसे मुख्य नहीं करता और मुख्य करता है स्वभाव को। उसे व्यवहार भक्ति पुण्य की कहने में आती है। जाओ, ऐसा करना और ऐसा करना... ऐसा करते-करते ऐसा हो जाएगा। भगवान की पूजा करे और भक्ति करे और भगवान की श्रद्धा है। नहीं, यहाँ कहते हैं, भगवान की श्रद्धा नहीं है। भगवान अर्थात् आत्मा महिमावन्त, जिसके एक-एक गुण की कली शक्तिरूप से पूर्ण पड़ी है और पूर्ण का अर्थ ही शक्ति है, इसलिए उसमें मर्यादा क्या? ऐसे पूर्ण कली से स्थित प्रभु, उसे उसकी एकाग्रता से विकसित करना, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान का जहाँ धर्म का भान नहीं, वह भगवान की भक्ति व्यवहार से भी नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया?

आप इस लोक में सदा जयवन्त रहो। क्या कहते हैं? प्रभु! इस लोक में जयवन्त रहो, नाथ! समझ में आया? आटा माँगने आते थे न ब्राह्मण? वे ऐसा बोलते थे। लक्ष्मी को वे क्या कुछ बोलते। महालक्ष्मी प्रसन्न। महालक्ष्मी प्रसन्न। क्यों वजुभाई! छोटी उम्र में सब देखो हुआ हो न!

मुमुक्षु : इसके बिना महिलाएँ आटा किसका दें?

पूज्य गुरुदेवश्री : महिलाएँ आटा न हो तो ऐसा कहे कि आज आटा बहुत है। हो रहा हो न आटा। आटा नहीं है, ऐसा नहीं कहे। क्योंकि आटा नहीं है तब तो हो गया। गरीब हो जाएँगे, अपन रंक हो जाएँगे। अब आटा नहीं है, ऐसा कहने में रंक क्या? वह तो भाषा उसे समझाने की थी। आज आटा बहुत है। बहुत है अर्थात्? जगत की भाषा ही उल्टी है।

यहाँ तो आटा भरा है आत्मा में, कहते हैं, सकलगुण का निधान भगवान आत्मा जयवन्त रहो। तुम्हारे श्रद्धा-ज्ञान और चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे ऐसे के ऐसे रहो। वे तो रहने के ही हैं। वे कहीं इसके कहने से रहनेवाले हैं? परन्तु कहनेवाले को इस चैतन्य ध्रुव चिदानन्द मूर्ति ध्रुव की दृष्टि होने पर जो ध्येय पकड़ में आया है, उसके अनन्त गुण ऐसे के ऐसे पड़े हैं। उसे श्रद्धा-ज्ञान द्वारा कहते हैं कि जयवन्त रहो। अर्थात् प्रगट दशा का परिणमन सदा चालू रहो, अतः भगवान को भी कहते हैं कि सदा जयवन्त रहो। कहो, समझ में आया? लो, यह नाथ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्राप्ति धर्मी को स्वयं की हुई हो, उतनी भगवान की वाणी और उसका श्रवण-मनन-चिन्तवन, वह तो विकल्प है परन्तु स्वभाव के साधन की ओर जो जाता है, उसे उतना तो अब घटने का नहीं है और भगवान का स्मरण स्वरूप अर्थात् परमात्मा स्वयं ही है ऐसा।

केवली की स्तुति किसे कहना, ऐसा कहा न? समयसार में शिष्य ने पूछा— प्रभु! केवली की स्तुति किसे कहना? सर्वज्ञ भगवान की स्तुति किसे कहना? ३१वीं (गाथा) **'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहाधियं मुणदि आदं'** गुरु को शिष्य ने प्रश्न किया, भगवान केवलज्ञान की स्तुति किसे कहना?

तब कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं, भाई! केवली की स्तुति उसे कहते हैं कि केवलज्ञान भण्डार अन्दर पड़ा है, उसकी ओर दृष्टि करने पर उसे पाँच इन्द्रिय के विषय, पाँच इन्द्रियाँ जड़ और भावेन्द्रिय अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का अंश एक विषय को जाननेमात्र जो खण्ड-खण्ड है, उन सबको मिटाकर—रुचि छोड़कर अखण्ड चैतन्य असंज्ञी पदार्थ में दृष्टि करनेवाला, उसे हम केवलज्ञान की स्तुति कहते हैं। भगवान! परन्तु आपको पूछा हमने कुछ और जवाब कुछ? वजुभाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछा था केवली की स्तुति कैसे करना? परन्तु उसका अर्थ प्रभु! तू एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में गुण का निधान चैतन्य शक्ति सत्व, स्वभाव ध्रुवता जो है, उसे अन्तर की अधिकता में न लेकर तथा राग और अल्पज्ञता और निमित्त को अधिकता दे, तब तक वह केवली की स्तुति करनेवाला कहने में नहीं आता। समझ

में आया इसमें कुछ ? ....भाई ! अधिकता लक्ष्मी को दे, स्त्री को दे, पुत्र को, अरे ! पुण्य के परिणाम को अन्दर अधिकरूप माने। यह बहुत किया, भारी किया... भारी किया... दया, दान, व्रत, जप, तप का विकल्प उठा, वह मैंने बहुत किया। उसे अधिक माननेवाला चैतन्य के स्वभाव को हीन... हीन, दरिद्र और कमजोर माननेवाला इस भगवान का शत्रु है। उसे केवली की स्तुति करना नहीं आता। समझ में आया ? धन्नालालजी !

मुमुक्षु : भगवान का शत्रु...

पूज्य गुरुदेवश्री : शत्रु है। उसे अधिक बनाया, उसे अधिक बनाया—राग को अधिक बनाया, विशेष बनाया। निमित्त को अधिक बनाया न ? चैतन्यमूर्ति एक समय में ज्ञायकमूर्ति प्रभु है, उसे अधिक श्रद्धा-ज्ञान में बनाता नहीं (तो तू) भगवान का-केवली का शत्रु है। स्तुति करनेवाला, अपना स्वभाव एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में, जो सकल गुण रहा पहले कहा था न ? ऐसा निधान तू और मैं दोनों। ऐसे अपने सकल गुण का धारक भगवान, उसके प्रति...

अपनी शक्ति सत्त्व अर्थात् कि वस्तुरूप से पूरी वस्तुरूप से उसमें वास—बसी हुई शक्तियाँ और गुण, उनके के धारक आत्मा के प्रति जिसे अधिकता की, महत्ता की महिमा, महत्ता की प्रियता नहीं आती और देहादि की क्रिया और पुण्य परिणाम की अधिकता और प्रियता आती है, वह भगवान का पक्का शत्रु है। उसे भगवान की भक्ति करना नहीं आती।

यहाँ यह कहा है न ? हे प्रभु ! आप तो नाथ हो न ! हमारे साधक स्वभाव की जो श्रद्धा, उसकी हम रक्षा करनेवाले, आप रक्षा करनेवाले। और बढ़कर हमारे पास चारित्र की, शान्ति की, आनन्द की पूर्णता नहीं, उस पूर्णता में आप निमित्त हो; इसलिए हमारी पूर्णता के नाथ ही आप हो। हमारे साधक के नाथ अर्थात् उसे न्यूनता और हीनता होने दे (नहीं)। वापस गिरने की बात नहीं, ऐसा कहते हैं। ओहोहो ! वापस गिरना, अर्थात् समझ में आया ? वे पूछते हैं न कि यह समकित पाकर गिर जाए या नहीं ? सुन न ! पहले से गिरना गिरना लगाया तूने ? नेमिदासभाई ! तुझे अधिकता किसकी भासित हुई कि जिसकी महत्ता छोड़कर इसमें नीचे आ जाऊँ तो ? नीचे आ जाऊँ तो ? दूसरे की महत्ता करूँ तो ऐसा होगा या नहीं ? तो फिर तुझे वर्तमान ज्ञान और आनन्द ऐसे

ध्रुवस्वभाव की महत्ता और महिमा और अधिकता दृष्टि में नहीं आती। गिरा ही है। अब गिरा है, उसे गिरेगा या नहीं, यह प्रश्न कहाँ है ? समझ में आया ?

यहाँ आचार्य कहते हैं, हे नाथ! पहली लाईन में ही उठाया है न पूरा। मुनि थे, भावलिंगी सन्त थे। जंगल में ताड़पत्र पर ये श्लोक उत्कीर्ण हो गये। ताड़पत्र पर, हों! देखो, यह भक्ति, यह भान, यह सेवक, यह दास, स्वामी भगवान व्यवहार से; निश्चय से सहजात्मस्वरूप स्वयं स्वामी, भानपूर्वक की भक्ति को वास्तविक व्यवहार से भक्ति कहा जाता है। वह व्यवहार से वास्तविक, ऐसा।

हे नाथ! आप इस लोक में जयवन्त रहो। हमारे स्वरूप में मदद करने, सहारा देने में निमित्तरूप जो कहा है, वह सदा ही रहो। हमारे लक्ष्य की डोरी में से आप हटना नहीं। हमारे लक्ष्य के बाण में से आप हटना नहीं। हमारा ध्येय परमात्मा के प्रति है अर्थात् कि हमारी पूर्ण दशा प्रगट होने के प्रति हमारा लक्ष्य है। इसलिए यह परमात्मा पूर्ण हमारे लक्ष्य में से प्रभु! यह हटना नहीं। हमारे हृदय में से जाना नहीं, ऐसा कहते हैं, लो! हमारे हृदय में से जाना नहीं। सदा जयवन्त रहो। ऐसा कहकर आत्मा की स्तुति-भक्ति के वर्णन में भगवान की भक्ति का वर्णन किया है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १३, शनिवार, दिनांक - २०-८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र गाथा - २-३, प्रवचन-२

यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति (चलती है)। पद्मनन्दी आचार्य महाराज हजार वर्ष या नौ वर्ष लगभग पहले जंगल में बसते थे। वे अपने आत्मा का स्वभाव परमात्मपद जो प्राप्त हुए, ऐसा ही प्राप्त करने का मेरा स्वभाव है और मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द पुण्य-पाप के विकल्प के कारणरहित और देहादि की क्रिया के संयोगरहित मेरी चीज़ अन्दर के स्वभाव में अखण्ड आनन्द के भरचक स्वभाव से भरपूर पदार्थ, ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि और ज्ञान तथा रमणता की भूमिका में रमते थे, उन्हें परमात्मा की भक्ति विकल्प आया। सर्वज्ञ परमात्मा आदि जिनेश्वर ऋषभदेव भगवान। ऐसा भाव भक्तों को भगवान के प्रति आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

कोई कहे, परन्तु ऐसी निश्चय की बात वहाँ और भगवान की भक्ति क्या? भाई! वही कहते हैं। इसीलिए तो पहली बात हुई। ऐसा आत्मा जिसे क्षण में और पल में जैसे हथेली में आँवला दिखायी दे, वैसे क्षण में और पल में सप्तम (गुणस्थान) अन्तर दशा अप्रमत्त आनन्द की दिखायी देती है, अनुभव में आती है और दूसरे क्षण में जरा शुभराग आता है तो किसी समय अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य के भाव का भी मुनि को शुभराग होता है और किसी समय परमात्मा या देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव भी धर्मी को स्वलक्षी दृष्टि होने पर भी पूर्णता की प्राप्ति न हो, वहाँ ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता, तथापि धर्मी उसे पुण्यबन्ध का कारण समझता है। उसे राग की मन्दता का भाव भगवान के प्रति प्रेम, प्रियता और भक्ति के उछाल में उसे—शुभभाव को वह पुण्यबन्ध का स्वभाव जानता है।

धर्म तो उस रागरहित अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य हूँ, ऐसी जिसे श्रद्धा-ज्ञान में चीज़ को धारण किया है, पूरी चीज़ को जिसने श्रद्धा-ज्ञान में धारण करके, टिकाकर, अवलम्बन कर ध्येय किया है। उसमें जो दशा हुई, उसे वह धर्म समझता है। कहो, समझ में आया? केवलचन्दभाई! इस पूजा-भक्ति में धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब तो उसे भक्ति का भाव छूटकर पूर्णानन्द की प्राप्ति न करे। परन्तु पूर्णानन्द की प्राप्ति तो, उन भगवान को भी दूसरों के प्रति जो धर्म के प्रति लगनी या दूसरे समझें यह इत्यादि विकल्प उठता था, उसका अभाव करके स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति की है, तथापि उन्हें पहली शुरुआत की भूमिका में ऐसा भाव परमात्मा के प्रति, सर्वज्ञदेव के प्रति स्वलक्ष्यी रुचि, दृष्टि और रमणता होने पर भी परलक्ष्यी का भाव पूर्णता की प्राप्ति के पहले आये बिना नहीं रहता। पहली स्तुति पहली गाथा में की।

अब दूसरी गाथा। बोलो।

गाथा २

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।।२।।

अर्थ :- समस्त जो सुर तथा असुर, उनके जो चित्र-विचित्र मणियों से सहित मुकुट, उनकी जो किरणों, उनसे कुर्वरित, अर्थात् चित्र-विचित्र हैं सिंहासन जिनका - ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं, आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं, वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थ :- हे जिनेन्द्र! आपको बड़े-बड़े सुर-असुर भी आकर नमस्कार करते हैं, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को आपके दर्शन का, आपकी स्तुति का, आपके जप तथा ध्यान का सुलभ रीति से अवसर नहीं मिल सकता, किन्तु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं, जिनको आपका दर्शन मिलता है; आपकी स्तुति, जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है, वे मनुष्य, संसार में धन्य हैं, अर्थात् उन मनुष्यों को धन्यवाद है।

गाथा - २ पर प्रवचन

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।।२।।

समस्त सुर–असुर के चित्र–विचित्र मणियों से सहित मुकुट की किरणों द्वारा उनका सिंहासन चित्र–विचित्र हैं। क्या कहते हैं? भगवान पूर्व में विकल्प में पहले थे, तब जो पुण्य बँध गया, उस पुण्य के संयोगरूप से क्या मिलता है, यह बात साथ में बतलाना चाहते हैं। हमें भी भगवान के प्रति भक्ति और शुभराग का जो भाव आया, वह मन का विस्तार है, प्रसार है, चित्त उसमें जुड़ा हुआ है। उसके फलरूप से तो संयोग मिलेंगे। यह बात हमारे लक्ष्य में और श्रद्धा में है। ऐसा बतलाते हुए भगवान को भी कहते हैं कि हे प्रभु! आपका सिंहासन कोई आपके पूर्व के पुण्य के कारण से, शुभराग के कारण से वह पुण्य बँधा, उसका जो सिंहासन—आपकी बैठक। ले! वीतराग हुए और बैठक सिंहासन की! वे तो अध्धर बैठते हैं परन्तु नीचे उन्हें सिंहासन होता है। उससे चार अँगुल ऊँचा निरावलम्बन उन जिन परमात्मा की देह सर्वज्ञदेव की होती है। परन्तु नीचे सिंहासन है, उनके पूर्व के पुण्य के फल को वर्णन करके कहते हैं और अपनी दृष्टि में भी रखते हैं। हम जो आपकी भक्ति और स्तुति करते हैं, उसमें हमें शुभभाव होता है, उसके फल में स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती; उसके फलरूप से तो संयोग प्राप्त होंगे। बराबर होगा? धन्नालालजी! यह सब धर्म-धर्म करते हैं। उसमें धर्म होता है, धर्म होता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : रयणसार में कुन्दकुन्दाचार्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : रयणसार में वह तो व्यवहारधर्म की बात की है। निश्चय की धर्म की बात नहीं। निश्चय अर्थात् सत्यधर्म। ऐसा चिदानन्द जहाँ घुलता है और उसकी अन्तर की एकाग्रता की दशा की शुद्धता की व्यक्तता, वह धर्म है।

आचार्य—कुन्दकुन्दाचार्य ही प्रवचनसार में कहते हैं। प्रवचनसार में नहीं, १७२ गाथा में नहीं? कि शुभ-अशुभभाव, यह शुभभाव का फल, यह अशुभभाव का फल, वह धधकते अंगारे जैसा है। अशुभभाव का फल हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम, क्रोध, ममता, कमाना, कमाना - ऐसी वृत्तियों का भाव, उसके फल में तो धधकते अंगारे मिलेंगे। बराबर होगा इसमें? और शुभभाव के फल में उबलते हुए गर्म पानी की दाह जैसा फल मिलेगा। यह तो उबलता पानी लिया है, भाई! घी भी लिया है। परन्तु उबलता पानी हो गर्म और घी जैसा गर्म हो, ऐसे शुभभाव में संयोगरूपी फल

मिलकर उसमें उबलता राग होकर जीव दु:खी होता है। ओहोहो! कहो, समझ में आया? यह कुछ शब्द है अवश्य। सुख-दु:ख में सुलगता हुआ नहीं? १७२ में। १७२, पंचास्तिकाय। हों! प्रवचनसार नहीं। पंचास्तिकाय, नहीं? कहो, समझ में आया? आहाहा!

देखो तो सही! स्वयं स्तुति करे, भक्ति करे, विकल्प आवे, मुनियों भी सिद्धभक्ति नहीं करते? जहाँ भिक्षा के लिये जाते हैं, वहाँ सिद्धभक्ति स्तोत्र करके फिर आहारादि की क्रिया बनने की हो तो बनती है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा, हे प्रभु! आपकी हमें भक्ति का शुभराग और हमारे चैतन्यधातु ज्ञानानन्द की जो अन्तर भक्ति निश्चय से वर्तती है, उसका फल तो शान्ति है, परन्तु आपके फल में जो भक्ति के राग में आपको भी यह सिंहासन आदि वीतराग होने के पश्चात् मिले हैं। वह कोई राग से या जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा है, उस भाव से प्रभु! आपको भी कहीं वीतरागता नहीं हुई। आत्मा की शान्ति कहीं उस भाव से नहीं हुई। उस भाव से तो ये संयोग बँधे कर्म के। क्योंकि शुभभाव वह संयोगी भाव है; स्वाभाविक भाव नहीं।

यह नामस्मरण, भगवान का नाम स्मरण, जाप, भगवान का-पर का ध्यान और पर भगवान को देखना, दर्शन करना, ऐसा भाव धर्मी जीव को भी अशुभ न हो, तब उस काल में भक्ति का शुभभाव आये बिना नहीं रहता। मन्दिर, पूजा, भक्तिभाव होता है परन्तु धर्मी की दृष्टि में उस शुभभाव के फलरूप से ऐसा समझता है कि प्रभु! वह तो संयोगीभाव, इन संयोग को प्राप्त (कराने का) कारण है। हमारे आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति कहीं संयोगीभाव से नहीं होती। कहो, बराबर होगा इसमें? नेमिदासभाई! तो ऐसा सब सुनकर नहीं बनावे यह सब मन्दिर-बन्दिर न। ये दोनों साथ बैठे हैं। नेमिदासभाई ने बनाया है और भगवानजीभाई अभी तो बनाते हैं। होता है वहाँ जामनगर। कोई कहता था, माघ शुक्ल अष्टमी का वहाँ खातमुहूर्त है। मधुवन में श्वेताम्बर में एक बड़ा महोत्सव है। माघ शुक्ल अष्टमी का। भगवान की प्रतिष्ठा है और कुछ है। माघ शुक्ल अष्टमी कुछ दिन ऐसा आता लगता है। भगवानजीभाई! वहाँ भी मुहूर्त आया है किसी का, कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, भाव तो ऐसा होता है, भाई! जब तक अरागी-वीतरागी आत्मा की दशा न हो और श्रद्धा वीतरागस्वभाव ऐसा आत्मा, उसके प्रति रुचि, श्रद्धा, ज्ञान होने

पर भी राग की रुचि नहीं, राग का आदर नहीं तो भी, आदर नहीं होने पर भी आये बिना नहीं रहता। तो कहते हैं, प्रभु! आपको जो सिंहासन मिला है न, उस सिंहासन पर क्या होता है? वहाँ इन्द्र बड़े मुकुटवाले... कहते हैं कि **समस्त सुर-असुर के चित्र-विचित्र मणियों से सहित मुकुट की किरणों द्वारा उनका सिंहासन चित्र-विचित्र हैं।** ऐसा कहकर यह कहते हैं कि सिंहासन मिला और इन्द्र आकर ऐसे मणिरत्न के मुकुट में, मणिरत्न ऐसे जड़े हैं, उनकी किरणें सिंहासन में पड़ती है। यह सब पुण्य के फलरूप से आपको प्राप्त हुआ है। समझ में आया?

अब कहते हैं, **ऐसे हे जिननाथ!** ऐसे हे वीतरागी प्रभु! अपना कल्याणस्वभाव चैतन्य की जाति की पहले दृष्टि और रुचि किये बिना इसे—शुभराग को व्यवहारभक्ति का आरोप भी कहने में नहीं आता। परन्तु जब आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप सहज आनन्द-ज्ञान का पिण्ड हूँ, मैं जगत के कोई विकल्प, राग यह भक्ति का आवे, उसकी कर्ताबुद्धि (नहीं है) और दृष्टि में वह कर्तृत्व नहीं है, तथापि आता है, उसे वह पुण्यबन्ध का कारणरूप से समझकर कहता है, प्रभु! हे जिनेन्द्र! हे वीतराग! **जो मनुष्य आपको देखता है...** वीतराग ऋषभदेव परमात्मा को लक्ष्य में लेने से और ऐसे निश्चय से तो भगवान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य को लक्ष्य में लेकर कहता है कि हे प्रभु! आपको देखता है।

आपको देखता है, इसमें दो प्रकार—एक चैतन्य ज्ञायकमूर्ति शुद्ध रागरहित हूँ, ऐसा जो श्रद्धा-ज्ञान से आत्मा को देखता है और शुभराग होने पर भगवान की प्रतिमा, मूर्ति या साक्षात् भगवान समवसरण में विराजते हों, उन्हें देखता है, वह धन्य है—कहते हैं। उसको धन्य कहते हैं। भगवानजीभाई! स्त्री को नहीं देखता अशुभराग से? पुत्र को नहीं देखता अशुभराग से? ऐसा हृदय का हार और मेरे नेत्र और आँखें स्थिर होती है पुत्र, मेरा कलेजा स्थिर हो तुझे देखकर। नहीं बातें करते, गप्प... गप्प... हों! कुँवरजीभाई! यह सब गप्प चलता है सब। परन्तु मोह की गाँठ ऐसी जबरदस्त है।

'माया बड़ी मोहनी जैना, वज्रमय गाळा, अे सांगो कहे सलवाळा कंईक जडया ने कंईक पाळा।' पाळा समझते हो? पैर से चले उसे पाळा कहते हैं और ऊँट पर बैठकर चले... जेल होती है न जेल? कैद में कोई ऊँट के ऊपर बैठा हो और कोई नीचे बैठा हो। सब फँसे हैं जेल में।

इसी प्रकार कोई संसार में और त्यागी में भी जिसे यह आत्मा चिदानन्द की मूर्ति है, ऐसी खोलने की दृष्टि और रुचि हुई नहीं और अकेले शुभ-अशुभराग के बन्धन के जड़ की जेल में, यह जड़ वह विकार जो चैतन्य जो उसे अन्धकारमय भाव, उसकी जेल में बँधे हैं, वे फिर त्यागी हुए हो तो भी भोगी जैसे हैं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! आपको जो देखता है न, आहाहा! वैसे ज्ञायक चैतन्य देखता है श्रद्धा-ज्ञान में और शुभराग होने पर भगवान ऐसे परमात्मा सर्वज्ञ हैं, ऐसा देखता है, उसे पुण्यबन्ध होता है, स्वभाव को देखने की जितनी एकाग्रता (होती है), उसमें संवर और निर्जरा होती है। संवर-निर्जरा अर्थात् धर्म। उसे धन्य कहते हैं। सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना भी धर्म की साधारण जिज्ञासा में भी अशुभभाव के नाश के काल में या अभाव के काल में व्यवहार से उसे शुभभाव भी आये बिना रहता नहीं। परन्तु उसे धर्म व्यवहार से है, ऐसा कहने में नहीं आता। ओहोहो! सेठिया-बेठिया हुए हों और पैसा-बैसा हुए हों और पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख खर्च करे, वहाँ धर्मधुरन्धर और भारी धर्म किया, कहते हैं। केवलचन्दभाई! धूल में भी धर्म नहीं है। अभी तुझे यह जन्म-मरण का अंश लेना, इस चौरासी के अवतार में अनादि काल से डण्डे खा-खाकर मरकर पूरा उतर गया अन्दर। क्या तेरी चीज़ है, उसकी तुझे खबर नहीं। बड़ा राजा अनन्त बार हुआ, अनन्त-अनन्त बार हुआ, नारकी अनन्त बार हुआ, स्वर्ग का देव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक का हुआ परन्तु चैतन्य की शान्ति की श्रद्धा क्या है और उसका ज्ञान, उसके भान बिना इसका चूरा हो गया।

वर्तमान दशा में... नहीं आता यह ? आत्महनो भवंति। आत्मा का घातक है। पर को मैं जिला सकता हूँ, पर को मैं मार सकता हूँ, मैं पैसा कमा सकता हूँ, मैं पैसा खर्च कर सकता हूँ, मैं व्यवस्था परिवार की, जाति की, देश की कर सकता हूँ और उनकी रक्षा मैं मेरी व्यवस्था का भाग है, ऐसा जो मानता है और पुण्य तथा पाप के परिणाम को आत्मा के स्वभाव के साथ एकरूप करके पड़ा है, चद्दर तानकर, आत्महनो भवंति। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, भाई! आत्मा का घात है, हों! चोट लगती है, भाई! ऐसे चमड़ी उतरकर गर्म पानी छांटे और छिड़के नमक-नमक। जलन... जलन... अरे! भाई! जलन शरीर की नहीं। अन्दर में आकुलता की वृत्तियाँ खड़ी होती हैं। परमस्वभाव

ऐसा भगवान, उसे स्मरण में, श्रद्धा-ज्ञान में न ले (और) अकेली आकुलता... आकुलता... आकुलता में जल रहा है। जलहल सुलग रहा है। आहाहा! और ऐसा मानता है कि हमने अब कुछ किया। कोई शुभभाव हुए हों, पुण्यबन्धन हमने कुछ किया और हम अब कुछ ऊँचे आयेंगे। ऊँचा क्या धूल में आवे? प्रभु! आपको आपके प्रभुत्व अन्तर के स्वभाव को देखता है और आपकी बाह्य सर्वज्ञ आदि प्रभुता को व्यवहार से देखता है आपका जप करता है, आपकी स्तुति करता है।

क्या कहते हैं? यह मुनि है, भावलिंगी सन्त हैं। एकावतारी-एक भव में मुक्ति पानेवाले हैं, सर्वज्ञपद को पानेवाले हैं। वे भी जब ऐसे भक्ति के काल में ऐसे उछल रहे हैं, प्रभु के प्रति। प्रभु! आहाहा! हमारी प्रभुता के लक्ष्य से आपकी प्रभुता के गीत हम गाते हैं। समझ में आया? तो भी फिर इसका विवाद इतना। परन्तु यह राग आया, इस कारण से हुआ या नहीं अन्तर में आत्मा के स्वभाव को प्रगट करने के लिये? भाई! कारण होवे तो उसे छोड़कर पूर्ण कैसे प्राप्ति करे? अन्तर में ध्यान में वे तो गुम हो गये। अन्तर चिदानन्दस्वरूप के अन्तर के घोलन में सातवें गुणस्थान में गुणी आते हैं और छठवें में आवें, वे वापस हटकर वहाँ जाते हैं और छठवीं भूमिका आवे, तब ऐसे विकल्प होते हैं तो उन विकल्प की आत्मा के स्वभाव के लिये कुछ कीमत हो तो छोड़कर अप्रमत्त अन्दर में क्षण-क्षण में क्यों होते हैं? बराबर है? धन्नालालजी! विवाद तो बहुत करेंगे पण्डित लोग। अनादि काल से है। यह तो अनादि काल से चला आता है। भाई! तेरी चीज़ क्या है और तू कैसे प्राप्त करेगा, इसकी तुझे खबर नहीं है।

कहते हैं कि हे भगवान! आपकी स्तुति करते हैं। भगवान की स्तुति में शुभभाव है। अपने स्वभाव की स्तुति ज्ञानस्वभाव केवलज्ञान में एकाकार होना, वह निश्चयस्तुति है। भगवान की स्तुति, वह व्यवहार स्तुति। और आपका जाप करता है। जाप के दो प्रकार—आत्मा आनन्दस्वरूप की एकाग्रता, वह आत्मा का जाप है और भगवान का स्मरण करना, वह भगवान का व्यवहार जाप है। वह शुभराग है। ओहो! यह तो पहले कहा। ऐसे राग से सिंहासन आदि ऋद्धि मिलेगी, हों! ऐसा कहते हैं। और हमारे चैतन्य की अन्दर श्रद्धा-ज्ञान-जाप-ध्यान और देखने से पूर्ण की प्राप्ति उसके स्वभाव से ही होगी। दूसरे से होगी नहीं। ऐसी श्रद्धा की डोर जिसने अन्तर में महान निर्मल की है और

उस निर्मल डोर के राग से चला जाए, उसे ऐसी भक्ति का भाव आवे, उसे व्यवहारभक्ति कहा जाता है।

जप और ध्यान करता है, वह मनुष्य धन्य है। प्रभु आपका ध्यान करता है। अकेला भगवान का ध्यान नहीं, हों! रात्रि में प्रश्न करते थे न? किसने कहा? कि भगवान का चिन्तवन कैसे करना? भाई! पहले तो इस आत्मा का स्वभाव बराबर शास्त्र से, गुरुगम से उसे लक्ष्य में, वास्तविक क्या है? ऐसे लेना चाहिए और लेकर उसकी ओर के प्रयत्न परायणता द्वारा श्रद्धा-ज्ञान का अनुभव करके जो आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान की शान्ति प्राप्त हो, वह वास्तविक भक्ति है। वह वास्तविक ध्यान है। वह स्थिर न रह सके, तब भगवान की विचारणा भी आती है। शुभ विकल्प होवे तो कहते हैं कि निश्चय से निश्चय प्रकार से धन्य है और व्यवहार से व्यवहार प्रकार से उस मनुष्य को व्यवहार से धन्य कहा जाता है। परन्तु निश्चय की भान की भूमिका हो तो (कहा जाता है)। नहीं तो अकेला जप और ध्यान, वह कहीं आत्मा के स्वभाव को शान्ति देनेवाले नहीं हैं।

हे जिनेन्द्र! बड़े-बड़े सुर-असुर भी आकर आपको नमस्कार करते हैं। बड़े-बड़े इन्द्र। अब वहाँ कहाँ साधारण का गजु है, ऐसा कहते हैं। अर्थात् साधारण प्राणी नहीं, बड़े-बड़े महात्मा सन्त भी आत्मा का ध्यान करते हैं और बड़े-बड़े इन्द्र और नरेन्द्र और चक्रवर्ती तथा बलदेव भी भगवान के दर्शन करने आते हैं। दोनों प्रकार से लेना। आत्मा बड़ा, उसका ध्यान, नमस्कार और भगवान बड़े। उन्हें बड़े-बड़े आकर नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को आपके दर्शन का तथा आपकी स्तुति का और आपके जप और ध्यान का अवसर सुलभ रीति से नहीं मिल सकता। ऐसा कहते हुए कहते हैं, अनन्त काल के भटके हुए, अनन्त काल के भटकते हुए, ऐसे चैतन्यमूर्ति को अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान का अवसर नहीं मिलता और ऐसा अवसर मिलकर सच्चे परमात्मा के दर्शन, भगवान की भक्ति आदि ऐसे शुभभाव भी हुए वे व्यवहार से भी दुर्लभ हैं। निश्चय से स्वभाव के दर्शन दुर्लभ, व्यवहार से भगवान के दर्शन दुर्लभ हैं। कहो, समझ में आया? **सुलभ रीति से नहीं मिल सकता।**

इसलिए जो मनुष्य ऐसा पुण्यभाव है... जो पुण्यवान है कि जिसे आपके

दर्शन... कहो, समझ में आया? **आपके दर्शन मिलते हैं, तथा आपके स्तुति तथा जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है, वह मनुष्य संसार में धन्य है।** अर्थात् ऐसे मनुष्य को हम धन्यवाद देते हैं। उस निश्चय और व्यवहार की दोनों बात साथ में है, हों! स्त्री-पुत्र का स्मरण करता है या नहीं? मौके से यह आया या नहीं? पुत्री आयी या नहीं? पुत्र आया या नहीं? विवाह के समय का प्रसंग हो तो अपने विवाह की शोभा बढ़ेगी। मण्डप की शोभा बढ़ेगी, ऐसा पत्र में लिखते हैं। तुम्हारे आने से मण्डप की शोभा बढ़ेगी। धूल में भी शोभा नहीं। तेरा मण्डप भी नहीं और शोभा भी नहीं। वजुभाई! लिखते हैं या नहीं वहाँ?

मुमुक्षु : लिखना ही पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में सुलग रहा सब दाह में। परन्तु जहाँ अच्छा समधि हो अच्छा रिश्तेदार हो और सगा और कुटुम्बी कोई, उसके पुत्र के वे... सही अवसर पर आपको आना चाहिए, हमारी शोभा में वृद्धि होगी। यहाँ कहते हैं, प्रभु! आया है न? प्रवचनसार में नहीं आया? शुरुआत में। प्रभु! हमारा चिदानन्दस्वरूप है न, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके हम स्वरूप की रमणता उपशम करना चाहते हैं। प्रभु! हमारे स्वयंवर में आपकी उपस्थिति होना चाहिए। अरिहन्तों को, सिद्धों को बुलाता है। ओहोहो! प्रभु! हम आत्मा के साथ विवाह करने लगे हैं। चिदानन्द प्रभु अखण्डानन्द की अन्दर लगन लगी है और अब उपशमभाव, चारित्रभाव, शान्तभाव, धर्मभाव हम ग्रहण करना चाहते हैं। ग्रहण तो किया हुआ है परन्तु उस प्रकार की विधि दूसरे को बतलानी है न! ऐसे भाव के समय हे अरिहन्तों! अनन्त सिद्धों! मेरे स्वयंवर मण्डप की चारित्रदशा में आपकी उपस्थिति होना चाहिए। आपकी उपस्थिति से हमारे चारित्र की शोभा बढ़ेगी। केवलचन्दभाई! कहो, यह बात ऐसी आती है। वे स्त्री-पुत्र को याद करे, पुत्री को याद करे, दामाद को याद करे, पुत्र को याद करे।

यहाँ कहते हैं... आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता तुमने तो प्रगट की। समझ में आया? प्रीतम नहीं कहते? प्रीतम कहते हैं न? भगवान को प्रीतम कहा जाता है। क्यों? कि वे प्रियतम हैं। वे प्रीतम व्यवहार से प्रीतम अर्थात् प्रियतम हैं। नेमिदासभाई! क्या कहा? देवचन्दजी स्तुति करते हैं, वहाँ कहते हैं,

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो और न चाहूँ कन्थ,
रिझो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त॥ भांगे सादि अनन्त...
ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो...

प्रीतम का अर्थ प्रियतम—प्रियतम। वह प्रिय नहीं, प्रियतर नहीं और प्रियतम। समझ में आया? भगवान आत्मा निश्चय से प्रियतम है। समझ में आया? प्रियतम। आत्मा अखण्डानन्द, वह प्रियतम। प्रीतम तो आत्मा अपनी पर्याय का स्वामी शुद्ध का हो, वह स्वयं प्रियतम है। वह स्वयं ही प्रीतम है और ऐसे काल में पूर्ण वीतरागता न हो, तब उसे सर्वज्ञ परमात्मा भी व्यवहार से प्रियतम-प्रीतम कहे जाते हैं। प्रभु! आपके प्रति हमें प्रेम है। इष्ट नहीं कहते? इष्टदेव कहते हैं न? इष्टदेव कहो, प्रेम कहो। उसे धर्मी को जैसा प्रेम साधर्मी और सर्वज्ञ और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होता है, वैसा प्रेम विषय के निमित्त स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और पैसे (के प्रति) वैसा प्रेम उसे नहीं होता। समझ में आया?

जैसा प्रेम सर्वज्ञ परमात्मा और आत्मा के प्रति होता है, वैसा प्रेम उसे विषय और कषाय मान और अभिमान के सब निमित्त हैं, पैसे, इज्जत, कीर्ति, धूलधमाका, उनके प्रति धर्मी को ऐसा प्रेम नहीं होता और यदि अधिक प्रेम वे ले जाएँ तो भगवान के प्रति उसे प्रेम नहीं है और आत्मा के स्वभाव के प्रति भी उसे प्रेम नहीं है। वह तो मूढ़ और अज्ञानी चार गति में भटकने के रास्ते में-पन्थ में पड़ा है।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! आपको जहाँ ऐसा देखे... आहाहा! हमारे प्रियतम प्रभु व्यवहार से। निश्चय से प्रियतम प्रभु आत्मा। शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, वह हमारी प्रियतम चीज़ है। व्यवहार से प्रीतम आप। आपका दर्शन, आपका जाप, आपका ध्यान करनेवाले को, प्रभु! हम धन्य कहते हैं। अब जरा दूसरा आधार देते हैं। है न? यह... कुछ नाम नहीं वहाँ लिखा। बोलो! .....

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुर,-स्त्रीलोचनैः सोर्च्यते;
यस्तं वन्दति एकशस्त्रिजगता, सोऽहर्निशं वन्द्यते।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमन, -स्तोमेन संस्तूयते;
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः, स ध्यायते योगिभिः।।

देखो! मुनि स्वयं भी भगवान की यह स्तुति करके (कहते हैं) हे नाथ! **जो**

मनुष्य पुष्पों द्वारा जिनेन्द्र भगवान का पूजन करता है,... धर्मी को अपने प्रियतम ऐसा आत्मा के प्रति प्रीति-रुचि वर्तते हुए शुभराग के काल में उसे भगवान की पूजा का भाव आता है। पुष्पों द्वारा जो मुनि, जो कोई जीव, हे जिनेन्द्र! आपका पूजन करता है। गजब भाई! और पुष्प आये। फूल आये, एकेन्द्रिय जीव मरते हैं। अरे! भाई! उस शुभभाव में, उस भाव में ऐसा निमित्त अन्दर आता है। एकेन्द्रिय में फूल आदि जीवों, उनका ऐसा भगवान के प्रति रखता है, हे प्रभु! इस कामबाण ने हमें हैरान किया, यह कामबाण के फूल हैं। हम कामबाण छोड़ना चाहते हैं। हमारे आत्मा के ज्ञानानन्द में रहना चाहते हैं, तो आपको यह फूल रखकर शुभभाव जो होता है, उसे वह पुण्यबन्ध का कारण जानता है। वापस उसका फल कहेंगे।

जो मनुष्य पुष्पों द्वारा जिनेन्द्र भगवान का पूजन करता है, वह मनुष्य परभव में मन्द हास्य सहित ऐसी देवांगनाओं के नेत्रों द्वारा पूजा जाता है... देखो! क्या कहा? उसमें साथ में बात रखते हैं। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान भी मेरे पास है, ऐसा रखते हैं और हे प्रभु! आपकी पुष्पों द्वारा शुभभाव से पूजन करते हैं न, वह तो स्मरण करना, जाप करना, पूजा-भक्ति सब शुभभाव है। कोई ऐसा कहे कि णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं करे तो कुछ अधिक.... ? नहीं। वह शुभभाव है। समझ में आया? और भगवान की पूजा के समय जो पुष्प द्वारा शुभभाव हो, (उसका) फल कि मन्द हास्यसहित वह परभव में ऐसी देवांगनाओं के नेत्रों द्वारा पूजित होता है अर्थात् बड़ा देव (होता है)।

आत्मा की दिव्य शक्ति है, उसकी जितनी दृष्टि और एकाग्रता का विकास होता है, उसके फलरूप से तो शान्ति और आनन्द आता है। परन्तु जितना भगवान की पूजा में शुभभाव होता है, उसके फल में देवांगनाएँ, उनके नेत्रों में उसकी प्रीति लगे उस देव के प्रति। पूर्व में भगवान के प्रति प्रीति से पूजा की है तो उसके फल में देवांगनाएँ इसे नेत्रों द्वारा पूजें अर्थात् बहुमान करती हैं। समझ में आया? और यह कहाँ आया पूजित होता है और यह होता है? भाई! शुभभाव के फलरूप से ऐसी स्थिति को प्राप्त (होता है), परन्तु धर्मी जीव को वर्तमान शुभभाव का अन्तर (में) आदर नहीं होता, तो वहाँ उसके फल का उसे आदर नहीं होता, परन्तु वह आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया?

एक पण्डित कहता था। बहुत वर्ष की बात है (संवत्) १९९१-९२ की। एक पण्डित कहे कि यह क्या शास्त्र में लिखा? यहाँ पालन करे ब्रह्मचर्य और वहाँ मिले इन्द्राणियाँ? समझ में आया? यहाँ पालन करे ब्रह्मचर्य और मुनिपना, त्याग और उसके फल में मिले वहाँ इन्द्राणियाँ! यह शास्त्र कैसे? पण्डित वापस शास्त्र का। अरे! भाई! तुझे किसने सिखाया यह? ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द—ब्रह्मानन्द की श्रद्धा, ज्ञान की रमणता, उसके फल में ऐसी देवांगनाएँ हैं? नहीं, नहीं। उसमें जरा भक्ति का राग या महाव्रत का राग रह गया है और पूर्णता की प्राप्ति नहीं की, स्वभाव चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान की श्रेणी में चढ़ा है, पूर्ण की प्राप्ति हुई नहीं और देह का आयुष्य पूर्ण हो गया। वह कहाँ अवतरित होगा? कहा, कहाँ गधे में अवतरित होगा? वजुभाई! तब कहे, इस प्रकार से तो हमको (समझ में नहीं आया)। परन्तु तुम शास्त्र के अर्थ समझते नहीं और पण्डिताई के नाम से (ऐसी प्ररूपणा करो कि) जाओ, शास्त्र में ऐसा लिखा है। उसके फल में... उसके फल में नहीं। सुन तो सही!

आत्मा सच्चिदानन्द मूर्ति सिद्ध समान सदा पद मेरो। ऐसे चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान में कोई मेरे कारण राग या निमित्त का नहीं है। ऐसे स्वतन्त्र श्रद्धा-ज्ञान किये, किंचित् रमणता भी थोड़ी हुई। पूर्ण रमणता होवे, तब तो केवलज्ञान होकर देह छूट जाए और अशरीरी हो जाए। अब पूर्ण रमणता नहीं है, तब कमजोरी में राग आये बिना रहता नहीं और वह राग भक्ति आदि, पूजा आदि का, महाव्रत आदि का होता है, उसके फल में अवतार कहाँ मिलेगा? मुक्त तो हो नहीं, पूर्ण प्राप्ति नहीं। तब वह प्राणी नरक में जाएगा? पशु में जाएगा? ढ़ोर समझे? तिर्यंच। मनुष्य में नहीं जाएगा। धर्मी का इतना पुण्य होता है, मनुष्य तिर्यंच का कि वह मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं होता। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर पशु नहीं होता। पशु मरकर पशु नहीं होता। तिर्यंच में भी सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु वह तिर्यंच समकिती तिर्यंच नहीं होता, वह तिर्यंच मरकर मनुष्य भी नहीं होता। उसे आत्मा की जो दिव्यशक्ति का भान होकर प्रतीति वर्तती है, उसमें भगवान के प्रति, सर्वज्ञ के प्रति का भाव और दया, दान आदि का भाव हुआ, उसके फल में वह स्वर्ग की इन्द्राणियाँ उसके फल में मिलेंगी।

मुमुक्षु : राग का फल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग का फल है। वह धर्म का, गुण का नहीं। और न हो तो तब उसे अवतार कहाँ लेना? तब उसने कहा, हाँ, परन्तु इस प्रकार से हमें कोई समझाता नहीं। परन्तु समझाता नहीं किन्तु तुम सीधे नास्ति से शास्त्र के उल्टे अर्थ करो। शास्त्र ऐसा कहता है... शास्त्र ऐसा कहता है। अब शास्त्र क्या कहता है? उसे समझने में...

यहाँ तो आया कि पुष्पों द्वारा, हे भगवान! आपकी पूजा करे, वह देवांगना के नेत्रों से पूजित होता है। अर्थात्? दो बातें की हैं। एक देवांगनाएँ उसे मिलती हैं और देवांगनाओं को उसका आदर होता है—वे देव का आदर करती हैं। क्योंकि यहाँ भगवान का पुष्पों द्वारा आदर किया है और आत्मा में भान वर्तता है कि राग मेरी चीज़ नहीं है। वह राग आये बिना रहता नहीं, तो राग का आदर नहीं, तो भी उस राग के फल में उसे इन्द्राणी (कहती है), खम्मा अन्नदाता! कहाँ से आप पधारे? कहाँ से आये? कहाँ से आपका यहाँ जन्म हुआ? ऐसे इन्द्राणियों के नेत्र के पुष्प द्वारा (पूजा जाता है)। यहाँ कहा था न? पुष्प द्वारा भगवान को पूजे। नेत्र कमलरूपी पुष्प इन्द्राणी के। वह देव होकर समकिती धर्मी, उस नेत्ररूपी कमल के फूल से पुजेगा। समझ में आया? गजब भाई!

यह लालच तो नहीं दिया न? इसीलिए तो पहली बात की है। अरे! भगवान! यह तो वीतरागी सन्तों की वाणी है। उसका कारण क्या? उसका फल क्या? और वह फल किस प्रकार का कहाँ मिले? इसकी व्यवस्था की बात है। भगवान की पुष्प द्वारा जो भक्ति करे, उसके फल में इन्द्राणियों के नेत्रोंरूपी पुष्पों से वह पुजेगा। अर्थात् ऐसे संयोग में उसका अवतार होगा। तथापि धर्मी की दृष्टि (वहाँ नहीं है)। समझ में आया? यह आगे आयेगा। आगे तो कितनी गाथा चली। अन्त में तो यह लेंगे कि हे नाथ! उस इन्द्र के अवतार या स्वर्ग के अवतार होंगे अवश्य। हमें लगता है। हम पंचम काल के मुनि हैं। पंचम काल में हमें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं है, परन्तु हम अभी से ही उस राग का निषेध करते हैं और राग के फल का अनादर करते जाते हैं। यह नहीं रे, नहीं। यह सड़े हुए तिनके जैसे इन्द्र के भोग और इन्द्राणी के नेत्रों से हमारा आदर, यह सड़ा हुआ कचरा (जैसा भासित होता है)। उकरडा समझते हो? ढ़ेर होता है न? सड़े हुए तिनकों का, कूड़े का ढ़ेर। ऐसा हम समझते हैं, मुनि कहते हैं। परन्तु मिले बिना रहेगा नहीं, हों!

क्योंकि राग का फल, संयोगी भाव का फल क्या होगा ? संयोग होगा। भले दया, दान, भगवान की पूजा का भाव (हो) परन्तु वह संयोगी (भाव है), स्वाभाविक भाव नहीं। इसलिए संयोग के फल में संयोग ऐसे मिलेंगे।

हे प्रभु! जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्रदेव को वन्दन करता है, वह मनुष्य अहर्निश (तीन लोक में) वन्दनीय होता है। क्या कहते हैं ? तीन लोक में वन्दनीय। एक बार भी चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान के भान द्वारा अन्तर का वन्दन स्वरूप का किया और ऐसे वन्दन करता है तो कहते हैं कि वह पुण्य ऐसा बँधेगा कि तीन लोक में वन्दनीय जो तीर्थंकर होगा। सातिशय पुण्य ऐसा बँधेगा कि जिस पुण्य के फल में तीन लोक के देव और तीन लोक के इन्द्र या अधिपति उसे वन्दन करेंगे। समझ में आया ? यह तो उसका स्वरूप बताते हैं। उसे लालच देकर कि ऐसा कर, ऐसे करने की कर्ताबुद्धि जहाँ नहीं। आहाहा! गजब बात परन्तु भाई! समझ में आया ?

तीन लोक में उसे वन्दन करते हैं। **वह मनुष्य अहर्निश (तीन लोक में) वन्दनीय होता है।** अहर्निश। तीर्थंकर प्रकृति बँध जाए या कोई महान गणधर आदि पद प्राप्त हो या अनेक प्रकार के बाह्य के इन्द्रादि के पद मिलें तो लोग ऐसे खम्मा-खम्मा (करे)। यह भगवान की पूर्णता की खम्मा-खम्मा की है। भगवान सर्वज्ञ को अनन्त चतुष्टय प्राप्त है भगवान। अनन्त ज्ञान दर्शन, आनन्द और वीर्य। खम्मा-खम्मा तुम्हारा साध्यपद प्रगट हुआ। अहो! जयवन्त रहो। ऐसा जिसने किया है, उसने आत्मा की भूमिका के भान के काल में भाव आया। तीन लोक के मनुष्य और देव उसे वन्दन करेंगे। क्या कहते हैं यह ? नेमिदासभाई! तीन लोक के वन्दनीक किसे ? समकिती जीव को इन्द्र आदि या तीर्थंकर वन्दनीय होते हैं। समझ में आया ?

इसीलिए कहते हैं कि प्रभु! हमारा आत्मस्वभाव करण उपाय, उसे तो हम जानते हैं कि आत्मा कैसे तिरे और पूर्ण की प्राप्ति हो। अत: आप तिरकर, तरणतारण होकर बैठे, उनको हम वन्दन और भक्ति करते (हैं)। तीन लोक में उसका वन्दन और आदर होगा। ऐसे शुभराग के फल को वास्तविक स्थिति क्या है, यह वर्णन करते हैं।

अर्थात् तीन लोक आकर उसे वन्दन करता है। जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करता है... एक बात। ओहोहो! आदि ही की नहीं एक बार, कहते

हैं। ऐसा चैतन्य भगवान, प्रभु चैतन्य चमत्कार के निज रस से भरपूर आत्मा की जिसे श्रद्धा-ज्ञान और भाव किये और पूर्ण प्राप्ति परमात्मा को हुई, उनकी जो स्तुति करता है, उसकी तीन लोक में बड़े-बड़े इन्द्र स्तुति करते हैं। उसकी परलोक में। यहाँ ऐसा करे तो परलोक में उसे इन्द्र आदि भी आदर करेंगे। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो उत्कृष्ट लोकोत्तर पुण्य का वर्णन करते हैं। साधारण पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाता है, तब वहाँ देवों आदि की सभा भरती है, तो सभा भराने पर वे साधारण आराधक पुण्य जिसका नहीं है, वह बोलना चाहे तो दूसरे देव आकर (कहे), मा भास्य देवा। बोलना नहीं, बैठ जाओ। नेमिदासभाई! इसने आत्मा को बैठा दिया था और स्वभाव का भान नहीं किया था और अकेले राग का आदर (करके) ऐसा पुण्य बँधा। सभा भरी हो और बोलने जाए, सामने पड़ने जाए (तो कहे) बैठ जाओ। और आराधक पुण्यवाला धर्म के ध्यान और आत्मा के भान सहित जिसने ऐसे पुण्य किये, भगवान की स्तुति की, उसके पुण्य में वहाँ अवतरित हुआ। एक ओर ऐसे बैठा हो। अरे! कौन है वह पीछे बैठा है? आओ... आओ... आओ... आओ... अरे! बोलो तो सही कुछ। क्या बैठे हो तुम। अरे! तुम्हारे वचन हैं, उन्हें झरने तो दो। भगवानजीभाई! ऐई! केवलचन्दभाई! किसकी बात चलती है यह? ऐसे भगवान को स्तवन किया है न, भगवान को ऐसे आदर दिया है और पूर्ण स्वभाव का विकल्प द्वारा। ऐसा आदर। अन्तर में तो आदर दिया है। कहते हैं कि उसके फल में देवलोक के देव भी आदर-स्तुति करेंगे। आओ, बैठो, पधारो, सामने बोलो। कुछ बोलो, कुछ स्तुति करो, कुछ हमें चर्चा-वार्ता धर्म की सुनाओ। ऐसे-ऐसे भगवान की जिसने स्तुति की, उसकी स्तुति स्वर्ग में देव भी करेंगे। क्या है यह? धीरुभाई! लालच नहीं होगा न? भाई! यहाँ लालच कहाँ? यहाँ तो वीतरागता है न! वीतरागभाव। आहाहा!

यह १७२ गाथा में कहा है, नहीं? पंचास्तिकाय में। एक वीतरागभाव प्रमुखरूप से... वीतरागभाव... वीतरागभाव... एक रजकण की पीड़ा इस देह की कौन आदरे? कौन करे? कौन भोगे? राग का कण, वह शुभराग कहाँ मेरी चीज़ है? ऐसी जिसकी दृष्टि, ऐसी जिसकी स्थिरता, वह पूरे शास्त्र और सर्वज्ञ परमात्मा के सिद्धान्त और शास्त्र का तात्पर्य है। उपेक्षा कर राग की और निमित्त की; स्वभाव का आश्रय कर। ऐसे

वीतरागभाव में लालच नहीं हो सकती, परन्तु उस धर्मात्मा को शुभभाव होता है। उसके भावरूप से उसे क्या फल मिलता है, उसकी यहाँ बात कर रहे हैं।

और जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करता है... एक बार अर्थात् अनादि काल का अज्ञान टालकर, छेदकर ज्ञानानन्द के आदर में ध्यान में एक क्षण रहा, (उसके) जन्म-मरण का अन्त आ गया। भगवान! तेरी स्तुति पूर्णानन्द प्राप्ति हुई, उसकी एक बार भी निश्चयसहित करता है, वह **समस्त कर्मों से रहित हो जाता है।** वह समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। **और बड़े-बड़े योगीश्वर भी उसका ध्यान करते हैं।** कहो, भगवान का ध्यान करके भगवान हो जाए। वह योगीश्वर भी उसका ध्यान करते हैं। सिद्धपद और अरिहन्त पद में मिल जाता है। शुभरागरूप से तो समवसरण और बाहर की चीज़ें प्राप्त होती है और स्वभाव के ध्यानरूप से पूर्णता होती है। दूसरे देव या इन्द्र या गणधर भी उसका ध्यान करते हैं। जिसने हे भगवान! आपका ध्यान किया, उसका इन्द्र भी ध्यान करते हैं।

इसलिए भव्य जीवों को भगवान का पूजन, वन्दन, स्तुति और ध्यान सर्वदा करना चाहिए। सर्वदा करना; सर्वदा का अर्थ दो प्रकार से है, हों! आत्मा के ज्ञान की सर्वदा दृष्टि रखना चाहिए और भगवान की भक्ति आदि, स्तुति आदि का ध्यान भी उसे होना चाहिए।

गाथा ३

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ।।३।।

अर्थ :- हे जिनेन्द्र! हे भगवान! यदि हम आपको चर्म की आँख से भी देख लें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनों लोकों में नहीं समाता। फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्र से देखें, तब तो हम कह ही नहीं सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

भावार्थ :– चर्म के नेत्र का विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है, इसलिए उस चर्म–नेत्र से आपका समस्त स्वरूप हमको नहीं दीख सकता, किन्तु हे प्रभो! उस चर्म–नेत्र से जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे ही हमें इतना भारी हर्ष होता है कि और की तो क्या बात? वह तीनों लोक में भी नहीं समाता, किन्तु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपके समस्त स्वरूप को देखें, तब हम नहीं जान सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

गाथा – ३ पर प्रवचन

च मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ।।३।।

हे जिनेन्द्र! हे भगवान! **हम आपको चर्मचक्षु से भी देखते हैं तो भी हमें ऐसा भारी हर्ष होता है।** ऐसा भारी हर्ष होता है। क्या कहते हैं? चर्मचक्षु से अर्थात् विकल्प द्वारा भी हम भगवान को देखते हैं। यह विकल्प, वह चर्मचक्षु। शुभराग। अन्तर का निर्विकल्प स्वभाव का तो क्या करें? निर्विकल्प की प्राप्ति होने पर हमको कितना आनन्द आयेगा? निर्विकल्प की पूर्ण प्राप्ति। समझ में आया इसमें? ऐसे गुण–गुणी का भेद नहीं। ऐसे अभेद की श्रद्धा–ज्ञान की दृष्टि प्रगट होने पर, पश्चात् रमणता होने पर हमें निर्विकल्प अर्थात् अभेद दशा पूर्ण प्रगट होगी, उसके आनन्द की तो क्या बात करना? उसके आनन्द की तो क्या बात समझना? परन्तु प्रभु! आपको ऐसे विकल्प द्वारा भी यदि हमारी दृष्टि स्वभाव की रखकर आपको देखते हैं तो हमको इतना पुण्य होता है। **भारी हर्ष होता है। वह हर्ष तीन लोक में नहीं समाता।** ओहोहो! भारी बात, भाई! इसका अर्थ हर्ष... हर्ष... हर्ष... यह हर्ष जीमण (प्रीतिभोज) नहीं करते? मलूकचन्दभाई! क्या होगा यह? यह लड़के–बड़के का विवाह करे और फिर जाए न, क्या कहलाता है? बरोठी करे। फिर वह करे प्रीतिभोज सामनेवाला। आज तो प्रीतिभोज है। धूल का नहीं। पाप का भोज है।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! हमारा चैतन्य निधान, उसे देखने को हमें जो हर्ष वर्तता

है, श्रद्धा-ज्ञान वर्तते हैं और उसकी पूर्णता से हमको क्या आनन्द आयेगा! उसकी तो क्या बात करना? परन्तु आपके दर्शन से हमें तीन लोक में वह पुण्य समायेगा नहीं, ऐसा पुण्य बँधेगा। उस पुण्य का विस्तार करेंगे, तीन लोक में नहीं समाये, ऐसा पुण्य हमें बँधेगा और जो कोई ऐसा करेगा, उसे ऐसा पुण्य बँधता है। नेमिदासभाई! ओहो! तीन लोक के जाननेवाले होंगे और तीन लोक अर्थात् लोकालोक के, अन्दर के भान द्वारा और शुभभाव से आपको भी देखा है न! आहाहा!

इन्द्र, भगवान जब जन्मते हैं न, तब इन्द्र हजार आँख से ऐसे देखते हैं। हजार नेत्रों से। इतना तो सुन्दररूप, इतनी तो उनकी पुण्य प्रकृति का प्रभाव। ओहोहो! यह है कौन? यह शरीर क्या यह! पूर्व में तीर्थंकर प्रकृति बँधी थी, उस विकल्प से। उसमें यह जो पुण्य बँध गया, तीन लोक में उसका हर्ष नहीं समाता, कहते हैं। तीन लोक के जीव को हर्ष (वेदन में आयेगा)। भगवान का जन्म होता है तो तीन लोक में घड़ी (भर) साता हो जाती है। क्या कहा? तीर्थंकर परमात्मा का जन्म होता है न, जन्म? तीन लोक में घड़ी भर साता हो जाती है। किसके कारण? यह तो उनकी योग्यता उनकी। इनके पुण्य का जो विकल्प था, (उसके फल में) तीन लोक में साता (होगी)। ऐसा तो प्रभु! आपके दर्शन और आपकी स्तुति का फल है। क्या है यह? धन्नालालजी! क्या है? इतना सब? तीन लोक में समाता नहीं, कहते हैं। ओहोहो! बाह्य पुण्य इतना कि तीन लोक में वह पुण्य पसरता है, विस्तरित होता है। नहीं लोग बहुत पुण्य होवे तो ऐसा कहते हैं कि ओहोहो! इसका कोई पुण्य! हाम, दाम और ठाम। बातें नहीं करते लोग? धूल में भी नहीं अब मरकर जाएगा नीचे। नेमिदासभाई! क्या कहते हैं? इसे तो हाम बहुत, हिम्मत बहुत। ठाम बहुत, मकान बहुत और हाम-दाम बहुत। धूल बहुत, ऐसा। हाम, दाम और ठाम। आहाहा! कुछ नहीं होता, भाई! यह हाम, दाम, यह ठाम नहीं। असंख्य प्रदेशी चैतन्य ठाम, उसमें हाम आत्मा की पुरुषार्थ की उग्रता हिम्मत द्वारा एकाग्र होना और अपना दाम अन्तरलक्ष्मी भरी है, उसमें स्थिर होना। यह हाम, दाम और ठामवाला कहलाता है।

परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु हमें हमारा ठाम तीन लोक में हमारे पुण्य का हर्ष नहीं समाता। सम्यग्दर्शनसहित की बात करते हैं, हों! यह सब। मिथ्यादृष्टि को ऐसा

पुण्य नहीं होता। जहाँ तीन लोक—तीन काल को जाननेवाला चैतन्य। ऐसे लोकालोक को जानने का स्वभाव, ऐसी जिसे अधिकता और महिमा रागरहित होकर आयी है, उसके पुण्य में भी तीन लोक में हर्ष नहीं समाये, ऐसा पुण्य बँधता है। ऐसा उसके फल का वर्णन करते हैं।

तो फिर यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपको देखें... ओहो! क्या कहा? चर्मचक्षु। यह आँख। आँख तो ठीक, वह विकल्प है। भगवान आत्मा शान्तरस से विराजमान परमात्मा। जिन नहीं, परन्तु जिनसरीखा। जिनप्रतिमा जिनसारखी। जिनप्रतिमा जिनसारखी। प्रभु! हमारी अन्तर वीतरागी आलोकन दृष्टिसहित आपको जब हम अवलोकते हैं और विकल्प से आपकी पूजा-भक्ति करते है, तब प्रभु! उसके फल की तो क्या बात करें? परन्तु यदि ज्ञान नेत्र से आपको देखा, अर्थात् ज्ञाननेत्र से अन्तर में स्थिर होकर पूर्णता को प्राप्त किया तो उसके आनन्द की क्या बात करना? समझ में आया? इतने देखो, तात्त्विक बात भी साथ ही आती है या नहीं इसमें? यह तात्त्विक बात है, अकेली भक्ति की बात नहीं।

मुमुक्षु : अकेली भक्ति नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेली भक्ति को, व्यवहारभक्ति को व्यवहारभक्ति कहते ही नहीं। निश्चयभक्तिसहित भक्ति अर्थात् कि सम्यक्। निश्चयभक्ति अर्थात् आत्मा रागरहित पूर्णानन्द की प्रतीति, वह निश्चयभक्ति अर्थात् सम्यक्। और भगवान की श्रद्धा आदि की भक्ति का राग, वह व्यवहार समकित अर्थात् कि व्यवहारभक्ति। व्यवहारभक्ति के फल में तीन लोक में हर्ष नहीं समाये, ऐसा हमें प्राप्त होगा। अथवा उसके करनेवाले को प्राप्त होगा। ऐसा उसका वर्णन करते हैं।

तो हमें कितना आनन्द होगा, यह हम जान नहीं सकते। अर्थात् कि वर्तमान में हमें अभी केवलज्ञान की, आनन्द की पूर्ण दशा नहीं है। पूर्ण आनन्द, नेत्र द्वारा अन्तर में निहारकर स्थिर होऊँगा और केवलज्ञान प्राप्त करूँगा, तब उसके आनन्द की क्या बात करना? परन्तु आप पूर्णानन्द को प्राप्त हुए और पूर्णानन्द आत्मा की दृष्टि होने पर, पूर्णानन्द को प्राप्त के दर्शन से हमें इतना पुण्य बँधेगा तो अन्तर की पवित्रता प्रगट होने पर क्या आनन्द हमें नहीं आयेगा! ऐसा करके भगवान की स्तुति करते हैं। कहो, समझ में आया?

इस चर्मचक्षु से... चर्मचक्षु का विषय परिमित और बहुत थोड़ा है। आँख का विषय कितना? ऐसे भगवान को देखे, राग को देखे। यह सब चर्मचक्षु हैं। अन्तर के ज्ञाननेत्र से देखने पर आत्मा अपरिमित स्वभाव है। उसे जानने के स्वभाव बिना इन्द्रिय के ज्ञान से और विकल्प से कितना जाने? विकल्प से कितना जाने? चौदह पूर्व का पठन और सब विकल्प से कुछ होता है? अन्तर चैतन्यस्वभाव उछलता है अन्दर। भर समुद्र अन्दर से उछलता है। आहाहा! भर समुद्र ज्वार में आवे, वह ज्वार कहीं बाहर के पानी से नहीं आता। अन्दर से चैतन्यमूर्ति अपरिमित को हम देखते हैं तो कहते हैं कि हमारा क्या कहना? परन्तु यह इन्द्रिय का विषय और विकल्प का विषय ही परिमित है। शुभराग का विषय परिमित है। भगवान को देखे तो इतना अल्प होता है। कहो, समझ में आया?

चर्मचक्षु द्वारा आपका... आपका है न? **समस्त प्रकार से हमको दिख नहीं सकता।** तथापि हे प्रभु! यदि चर्मचक्षु से आपका जो कुछ स्वरूप दिखता है... हमें दृष्टि गोचर होता है। **उससे भी और भारी हर्ष होता है।** ऐसा भारी हर्ष होता है कि दूसरा तो क्या, परन्तु तीन लोक में भी नहीं समाता। तीन लोक में नहीं समाये, ऐसा हमें हर्ष होता है। **तो फिर हम ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा यदि आपके भलीभाँति समस्त स्वरूप को देखे...** समस्त स्वरूप की व्याख्या है, हों! यहाँ। **तो हम नहीं जानते कि हमें कितना आनन्द प्राप्त होगा?** ऐसा कहने से शुभराग से तो परिमितता अमुक हद ज्ञात होती है ज्ञान में। और ज्ञान की वर्तमान दशा को अन्तर्मुख एकाकार ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान के भेद टालकर एकाकार होकर जो पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द की क्या बात करें। वह भी अभी खबर नहीं पड़ती। वह होगा, तब उसका अनुभव होगा। परन्तु अभी हम कहते हैं कि हमारा आनन्द हमें प्रगट होगा और अभी इस परिमित ज्ञान से-आपको राग से देखते हैं। उसका हमें परिमित बाहर का तीन लोक में न समाये, ऐसा पुण्य और ऐसा हर्ष हमें प्राप्त होगा। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो प्रकार से स्तुति के फल और स्तुति का वर्णन करते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १४, रविवार, दिनांक - २१-८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र गाथा - ४ से ७, प्रवचन-३

पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर सन्त भावलिंगी मुनि आत्मा के सहजानन्दस्वरूप में उग्ररूप से झूलनेवाले, ऐसी स्वतन्त्र स्वभाव की दशा में परमात्मा की भक्ति करते हैं। जो आदीश्वर भगवान, जिन्हें हजारों वर्ष का अन्तर, असंख्य अरब वर्ष का अन्तर पड़ा, उसका अन्तर तोड़कर ऐसे भगवान परमात्मा अरिहन्त साक्षात् जब (विराजते थे), उसकी बात है, हों! सिद्ध हुए, उसकी यहाँ बात नहीं है। ऋषभदेव भगवान सिद्ध हुए, उसकी बात नहीं है। अरिहन्त पद में मानो अभी विराजते हैं, ऐसा करके भगवान की स्तुति मुनि पद्मनन्दि आचार्य करते हैं।

वास्तव में तो स्तुति में दो प्रकार हैं। वह यहाँ कहते हैं, देखो! तीन गाथाएँ तो हुई न? तीन गाथा हुई। प्रभु! आपको चर्मचक्षु से देखे, उस पर हर्ष का पार तीन लोक में नहीं समाता, इतना होता है, तो जिसने इस ज्ञान, ज्ञान की वर्तमान दशा द्वारा ज्ञायक को पहचानकर ज्ञायक की पूर्णता जिसने प्राप्त की, उसके आनन्द और अतीन्द्रिय निर्विकल्प अर्थात् रागमिश्रित दशा छूटकर अरागी वीतरागी आत्मा की स्तुति, भक्ति जो परिणति हो, उसके आनन्द का क्या कहना? शान्तिभाई! यह स्तुति करते हैं ऋषभदेव भगवान की। समझ में आया? यह तो आगे अभी आयेगा, माता की बात और वह।

इस प्रकार इन्द्र, भगवान का जब जन्म होता है—यह देह की स्थिति, अन्तर जन्म तो अपनी निर्मल पर्याय में होता है और वृद्धिगत होता है। जब भगवान जन्मते हैं देह से निमित्तरूप से मरुदेवी माता के गर्भ से, (तब) इन्द्र आते हैं। इन्द्र आकर माता को वन्दन करते हैं। नमो रत्नकूखधारिणी! हे रत्न को कूख में रखनेवाली माता! भाषा तो सरल है। समझ में आता है न? नेमचन्दजी! थोड़ा-थोड़ा ध्यान रखे तो समझ में आये, (ऐसी बात है)। इन्द्र आकर माता का स्तवन करता है। माता! आपके गर्भरूपी सन्दूक रत्न का, उसमें भगवान आये और जन्मे, माता! नमो—नमस्कार करता हूँ। आप जगत की माता हो। भगवान की माता, वह जगत की माता।

फिर कहते हैं, बालवय हों! अभी। भगवान को तो तीन ज्ञान हुए हैं। तीन ज्ञान

तो लेकर आये हैं। कहते हैं कि माता! यह आपका पुत्र जो है न, यह 'पुत्र तुम्हारा स्वामी हमारा, तरणतारण जहाज रे...' तीन ज्ञान के स्वामी इन्द्र को शुभ विकल्प से जब भक्ति उछलती है। माता के गर्भ में से (जन्म होने के पश्चात्) जब मेरुपर्वत पर स्नान कराकर और लाकर गोद में जब स्थिर अर्थात् स्थापित करते हैं, तब इन्द्र कहता है,

पुत्र तुम्हारा स्वामी हमारा, तरणतारण जहाज रे
माता यत्न करके रखना....

केवलचन्दभाई! कौन कहता है यह? केवलचन्दभाई!

माता यत्न करके रखना, तुम सुत हम आधार रे....

हे माता! तुम्हारा पुत्र हमारा आधार है। देखो! एक व्यवहारभक्ति विकल्प उठने पर भी कितनी होती है! समझ में आया? इसी प्रकार माता-पिता को नहीं कहते कि आप तो सिरछत्र हो। आपकी छत्रछाया में पिताजी हम उच्छर्या, बड़े हुए, हमें आपका विरह पड़ता है। अन्तिम स्थिति में ऐसा कहते हैं या नहीं? चन्दुभाई! आपकी छत्रछाया के तले हम बड़े हुए, मलाया, आपने हमें सुलाया। अब आप चले जाते हो, हमें अन्दर विरह लगता है। यह तो बाहर के अशुभराग की बात है।

इन्द्र भी ऐसे भगवान का शरीर देखता है। स्नान कराकर लाता है। यह शरीर तो देखो कैसा! जन्मते... लेकर वहाँ ऐसे पाण्डुकशिला पर विराजमान करे और कितने जल का बड़ा घड़ा ऐसा आता है। १०८ कलश सिर पर डाले।

मुमुक्षु : डॉक्टर कैसे माने?

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर कितने हैं इसमें? चन्दुभाई एक है या दूसरा है कोई?

भाई! जिसका आत्मस्वरूप अन्तर में आनन्द-सच्चिदानन्द ध्रुव को खिलने की कली जिसे अन्दर परिणम गयी है, परन्तु अपूर्णता है, इसलिए राग था, (इससे) तीर्थंकर गोत्र बँध गया; इसलिए शरीर का संयोग आया परन्तु वह शरीर भी ऐसा होता है। जैसे चैतन्य ध्रुव वज्रमय चैतन्य प्रभु, उसकी दृष्टि में एकाकार होकर उत्कीर्ण करके परिणमन करता है, उसमें बाकी रहा हुआ राग, उसका पुण्य बँधा, उसमें शरीर मिला। ऐसा शरीर कि हजार कलश, १०८ कलश में कितना पानी, कितनी बड़ी-बड़ी बातें हैं। है, हों!

सब ऐसा है। दूसरा तो जन्मते ही पानी एक बार डाले तो मर जाए। चन्दुभाई!

अरे! भाई! यह आत्मा का स्वभाव अचिन्त्य और उसकी भूमिका में होता राग और पुण्य भी कोई सत् पुण्य है। उस पुण्य को भी सत् पुण्य कहा जाता है। समझ में आया? आत्मा की अखण्डानन्द चैतन्य ज्योति जो निर्मलानन्द, जिसका पर से पृथक् रूप से, संयोग और राग से पृथक्रूप से जिसकी—चैतन्य की झलक अन्दर दृष्टि में लेकर उठी है, ऐसे वज्रमय चैतन्य की सम्हाल में जो कुछ विकल्प भगवान की भक्ति आदि का आता है कि तीर्थंकरों को, जगत के जीव धर्म समझे, ऐसी वृत्ति उठती है कि मैं पूर्ण होऊँ, यह वृत्ति होती है, उसके फल में शरीर वज्र... वज्र जैसा। चाहे जितना पानी गिरे। ऐसा स्नान (जन्माभिषेक) कराकर माता की गोद में रखते हैं।

(इन्द्र कहता है) माता! यह पुत्र तो तुम्हारा, परन्तु हमारा स्वामी है, हों! ले! ऐ इन्द्र! परन्तु तू एकावतारी क्षायिक समकिती, एक भव वहाँ से करके मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला। परन्तु यह स्वरूप की भक्ति जिसे प्रगट हुई है, उसे स्वरूप को प्राप्त पुरुष के प्रति भक्ति का ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। चन्दुभाई! तथापि ज्ञानी समझता है कि यह राग बन्ध का कारण है, पुण्यबन्ध का कारण है, हेय है, वास्तव में आदरणीय नहीं। व्यवहार से व्यवहार आदरणीय है, ऐसा जानते हैं। परमार्थ दृष्टि में वह आदरणीय नहीं है। आधार, माता! तुम्हारा पुत्र तो हमारा स्वामी और हमारा आधार है। तरणतारण है। माता यत्न करके (रखना)।

और एक ओर क्रमबद्ध में होना हो, वह होता है। और यह क्या? भाई! ऐसे विकल्प आते हैं और ऐसी वाणी भी वाणी के काल में निकलती है। यत्न करके रखना, माता! यह बड़ा होगा, मुनि होगा, केवलज्ञान प्राप्त करेगा। हमारा आधार है। हमें समवसरण में इनसे दिव्यध्वनि सुनना है। ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि जीव को आये बिना नहीं रहता।

यहाँ अब उनके ज्ञान की व्याख्या करते हैं, देखो! प्रभु! आपका ज्ञान कैसा है? देखो! यह ज्ञान। पूर्ण प्राप्त हुए, तब की बात। यह तो शुरुआत में इन्द्र ऐसी भक्ति करते हैं। जब पूर्ण ज्ञान पाते हैं, तब उस ज्ञान का विस्तार कैसा? ऐसा लक्ष्य में लेकर पद्मनन्दि आचार्य भगवान की स्तुति कर रहे हैं।

गाथा - ४।

गाथा ४

अब, चौथे श्लोक में स्तुतिकार अपनी निर्मानता बतलाते हुए कहते हैं–

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो।।४।।

अर्थ :– हे जिनेन्द्र! जो पुरुष, नहीं है अन्त जिसका तथा जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है – ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है, वह कुएँ का मेंढ़क समुद्र की कथा का वर्णन करता है।

भावार्थ :– जिस प्रकार कुएँ का मेंढ़क समुद्र की कथा नहीं कर सकता, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता, उसका ज्ञान समस्त पदार्थों का विषय करनेवाला नहीं होता किन्तु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है, उसको विस्तृत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

गाथा – ४ पर प्रवचन

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो।।४।।

हे जिनेन्द्र! जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है, ऐसे अनन्त ज्ञानस्वरूप आपकी जो पुरुष स्तुति करता है, वह पुरुष कुपमण्डूक (कुएँ का मेंढ़क समुद्र के विस्तार का वर्णन करता है), उसके जैसा है। जरा क्या कहते हैं भक्ति करते हुए? भगवान परमात्मा, हे नाथ! यह शुभ विकल्प उठता है न हमें, आपके अनन्त.. अनन्त.. बेहद एक समय में, सेकेण्ड के एक असंख्यवें भाग में तीन काल–तीन लोक का जो विस्तार, सामान्य और विशेष, एक–एक समय की पर्याय, प्रभु! आपके ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से ज्ञात होती है। समझ में आया?

भगवान के केवलज्ञान में सर्व पदार्थ का विस्तार क्षेत्र से, काल से, द्रव्य से और भाव से जितना स्वरूप है, वह भगवान के ज्ञान में आ गया है। कहते हैं कि भगवान!

आपके इस केवलज्ञान की स्तुति किस प्रकार हो? मेंढ़क कुएँ में रहा हुआ, उसे समुद्र का एक मेंढ़क का उसके कुएँ में। तब समुद्र का मेंढ़क कहता कि भाई! मैं जिस स्थान में रहता हूँ न, वह स्थान बहुत बड़ा है। कुएँ का मेंढ़क पेट फूलाकर कहते हैं कि इतना? इतना तो नहीं होगा तेरा स्थान? भाई! यह माप ऐसे आवे, ऐसा नहीं है। उस कुएँ के अन्दर की पेढली में एक पेढली से दूसरी पेढली में कूदकर कुएँ का मेंढ़क पड़े कि ले, तेरे समुद्र का माप इतना तो होगा न? और इससे कितना अधिक होगा? नहीं, नहीं, भाई! यह तेरे पेट के फुलाव से समुद्र का माप नहीं आता। परन्तु तेरे फुदक्के-फुदक्के से भी उस समुद्र का माप नहीं आता।

इसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा की विकल्प के भाव द्वारा, शुभराग द्वारा उनकी स्तुति करे, प्रभु! पार नहीं आता। उनकी केवलज्ञान की—परमात्मा की स्तुति विकल्प द्वारा पार नहीं पड़ती। वह तो राग से रहित होकर अन्तर चैतन्य के ज्ञान में गुम हो, स्वभाव की शक्ति के पिण्ड में प्रभु आत्मा स्वयं गुम हो, तब ही वह भगवान की स्तुति कर सके, ऐसा कहने में आता है। कहो, वजुभाई!

यहाँ तो भाई! भगवान के पास बहुत स्तुति और भक्ति करे। 'तार जो रे तार जो महाराज शिवपद हमको देना।' स्तुति आती है या नहीं? केवलचन्दभाई! कहते हैं, बापू! यह सर्वज्ञ परमात्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (सर्व को जानते हैं)। द्रव्य अर्थात् वस्तु अनन्त है, क्षेत्र अनन्त है, काल अनादि-अनन्त है; भाव—एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण, इस संख्या से माप आवे ऐसा नहीं है। और उनकी तीन काल की पर्यायें भगवान के ज्ञान में आयी, उनकी स्तुति शुभराग द्वारा हो सके, ऐसा है नहीं। वह तो व्यवहारस्तुति है, कहते हैं। तुम्हारी निश्चयस्तुति तो जिसने की, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया?

इसमें ही विवाद उठा है न अभी बहुत। भगवान ने ज्ञान में सब देखा है। परन्तु सब नियत-अनियत दो देखा है। बड़े-बड़े नाम धरानेवाले अभी ऐसी गड़बड़ करते हैं। भगवान ने देखा परन्तु जगत के पदार्थ जिस समय में, उसी समय में यह पर्याय होगी, ऐसा नहीं। उल्टी-सीधी भी हो, उसे भी जाने और क्रमसर हो, उसे भी जाने। नेमिदासभाई! ञ्चया करते हैं, कुछ खबर नहीं पड़ती। इन भगवान को पहिचानते हैं और भगवान की

बात करते हैं या नहीं, यह उन सर्वज्ञ की। आचार्य (कहते हैं), एक समय का ज्ञान, प्रभु! आपके ज्ञान का विस्तार अपार-अपार! ओहोहो!

एक आत्मा का एक ज्ञानगुण, शक्ति, सत्त्व और उसकी एक समय की पूर्ण प्रगट हुई दशा की स्तुति करनेवाला (कहता है), अपार... अपार... अपार है। प्रभु! यह आपकी विकल्प द्वारा स्तुति करते हैं, वह तो कुएँ के मेंढ़क जैसे हैं। समझ में आया? उसे आत्मा का ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसा विस्तारपने का विषय उसे प्रगट होगा नहीं, ऐसा कहते हैं। चन्दुभाई! तेरी भक्ति में भी यह! यह प्रभु आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में चैतन्य ज्योति स्वभाव के सामर्थ्य से भरी है। उसमें डुबकी लगाकर जो आपकी स्तुति अर्थात् कि स्व की स्तुति करे, वह आपकी स्तुति वास्तव में करता है और उसे ज्ञान में तीन काल-तीन लोक का विस्तार ख्याल में अर्थात् ज्ञान के परिणमन में आ जाता है और वह वास्तविक भक्ति करनेवाला तथा स्तुति करनेवाला ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? सुनाई देता है? ऐसे दूर क्यों बैठै हो?

जिस प्रकार कुएँ का मेंढ़क समुद्र की कथा नहीं कर सकता। कहाँ समुद्र का माप! केवलज्ञान अर्थात्? लोग ऐसा कहते हैं कि वर्तमान में विचारकों में विशिष्ट जो हो, वह केवलज्ञानी कहलाता है। जब.. जब.. उस-उस काल में विशिष्ट विचारक हों, उसे सर्व को जाननेवाला ऐसा सर्वज्ञ कहा जाता है। अरे! भगवान! तू तो कुएँ के मेंढ़क जैसा तेरा फुदक्का है। उसे केवलज्ञानी नहीं कहा जाता। बापू! अरिहन्त। णमो अरिहंताणं। नमस्कार हो अरिहन्त को। कब होगा? कि जब अपना आत्मा रागरूपी शत्रु को रुचि में से भगाकर और स्वभाव चैतन्य की झलक सर्वज्ञ परमात्मतत्त्व मैं हूँ—ऐसी दृष्टि करे, तब उसे केवलज्ञान की स्तुति कहा जाता है। शान्तिभाई! भारी बातें, भाई! इस केवलज्ञान की उसने स्तुति की। अकेले ज्ञान की स्तुति करके राग को मिलाये बिना। अकेले ज्ञानस्वभाव की स्तुति की, वह केवलज्ञान पानेवाला है। उसे तीन काल और तीन लोक का ज्ञान एक समय में आनेवाला है।

तब कहते हैं उन्होंने जाना, तद्नुसार होवे तो फिर अपने पुरुषार्थ कहाँ रहा इसमें। अब बड़ा विवाद है न। आज क्रमबद्ध चला अपने, अभी एक से ढाई चला न! जाना, वैसा होता है। अभी यह विषय आया नहीं, बाद में लेंगे। क्रमबद्ध जहाँ बाहर

प्रमुखरूप से आया, तब यह सब सर्वज्ञ में भी, केवलज्ञानी में भी विवाद उठाने लगे। यह अब आयेगा, नहीं ? भगवान! वीर हो।

जो तेरी चीज़ है, वह चीज़ तो अकेला ज्ञान का सत्त्व है। और ज्ञान का सत्त्व जो है, एक मिश्री की... क्या कहलाती है वह ? सैकरीन। क्या कहते हैं उसे ? सैकरीन होवे थोड़ी परन्तु मिठास कितनी होती है ? परमाणु मिट्टी में भी मिठास बड़ी मिश्री की डली और सैकरीन। कितना मिठास का अन्तर! यह मिठास, वह उसकी दशा है, वह उसकी अवस्था है। गुण तो उसमें रसरूप पड़ा, वह त्रिकाल है। परमाणु में भी। तो उस मिठास में भी उस मिश्री की डली की अपेक्षा सैकरीन में मिठास का स्वाद कितना ? यह सब अवस्था कहाँ से हुई ? उस परमाणु के रसगुण में से आयी है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा, वह सर्वज्ञ परमात्मा कहाँ से हुए ? कहते हैं कि जो आत्मा का अन्तर सर्वज्ञस्वभाव, उसका अन्तर आश्रय लेकर, प्रतीति-अनुभव करके सर्वज्ञ हुए। ऐसी प्रतीति और अनुभव करे, वह भगवान की स्तुति करनेवाला कहलाता है और विकल्प उठे, वह व्यवहारस्तुति कहने में आती है। निश्चयस्तुति होवे तो उसके विकल्प को व्यवहारस्तुति कहने में आती है। व्यवहार, वह पुण्यबन्ध का कारण, निश्चयस्तुति वह मुक्ति अर्थात् वर्तमान राग से मुक्त होने का कारण। समझ में आया ? उसमें भी विवाद (करते हैं)। नहीं, भगवान की पूजा में शुभभाव है। उस शुभभाव में संवर, निर्जरा किंचित है। अरे! शुभभाव में संवर-निर्जरा नहीं, वह तो आचार्य भक्ति में बात करते हैं, तब ऐसा ही करे न, प्रभु! आपकी स्तुति करे, इसलिए आपकी अर्थात् आत्मा की, ऐसा। ओहोहो! बहुत अन्तर है।

महिमा करे, जिसके केवलज्ञान की महिमा। केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में केवलज्ञान की अस्ति इस जगत में है, ऐसा स्वीकार, उस सत्ता के चैतन्यस्वभाव का आश्रय लिये बिना उसका स्वीकार नहीं होता और उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया ? वह भगवान को देखता है। वह भगवान को देखता है कब कहलाये ? कि भगवान महिमावन्त आत्मपदार्थ है, उसकी प्रतीति और ज्ञान किया, तब भगवान को व्यवहार से देखा और अपने भगवान को निश्चय से देखा, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

हे जिनेन्द्र! जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका... देखो! आप तो ज्ञानस्वरूप हो, प्रभु! आप तो ज्ञानस्वरूप हो। स्व-रूप हो ज्ञान का। मैं भी एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। रागादि और पर आदि मेरा स्वरूप नहीं है। **आपका स्तवन...** है न? **तथा आपको नमस्कार नहीं करता, उसका ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला नहीं होता।** आपकी स्तुति नहीं करता, आपकी भक्ति नहीं करता। अर्थात्? कि आपने कहा हुआ आत्मतत्त्व, उस निजतत्त्व की अन्तरस्तुति-भक्ति एकाग्रता नहीं करता, **उसे सकल लोक का विषय हो, ऐसा केवलज्ञान कभी प्रगट नहीं होता।** कहो, समझ में आया? बीच में शुभभाव आवे, उसका हर्ष समाये नहीं, इतना पुण्य बँधता है और यह पवित्रता की प्रगट दशा होती है, उसे वास्तविक स्तुति और भक्ति कहते हैं। **परन्तु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है, उसे विस्तृत ज्ञान की प्राप्ति होती है।**

पाँचवीं (गाथा)

गाथा ५

अब, इस श्लोक में नामनिक्षेप लेकर स्तुतिकार कहते हैं-

अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी।।५।।

अर्थ :- हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके नाम के कीर्तनमात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा को माँगती हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है।

भावार्थ - हे जिनेन्द्र! आपके नाम में ही इतनी शक्ति है कि आपके नाम के कीर्तनमात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के सामने हमारी आज्ञा को माँगती हुई लक्ष्मी दौड़ती फिरती है। तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त कर लेगा तो फिर उसकी बात ही क्या है? अर्थात् उसको तो अवश्य ही अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।

गाथा – ५ पर प्रवचन

अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी।।५।।

ओहोहो! देखो यह। हे परमात्मा! हे सर्वज्ञदेव! अरिहन्त प्रभु ऋषभनाथ पूर्णानन्द को प्राप्तिरूप पुरुष! **हे जिनेन्द्र!** हे प्रभु! **आपके नाम के कीर्तनमात्र से...** पाठ में है न? **'गोत्तकित्तणेण' 'गोत्तकित्तणेण'** यह गोत्र तो निमित्त से बात है। समझ में आया? भगवान ऋषभदेव इस गोत्र के थे। नाभिराजा के पुत्र थे, ऐसे आपका नाम **कीर्तनमात्र से भी हम सरीखे...** लो! मुनि कहते हैं। **आपके नाम के कीर्तनमात्र से भी हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा माँगती हुई लक्ष्मी दौड़ती हुई घूमती है।** लो! क्या कहते हैं यह? भगवान! आपका जो ज्ञान और आनन्दस्वरूप, ऐसे जिसमें आप अवतरित हुए, उसका नाम ले न, नाम; परन्तु उस नाम में उस स्वरूप का स्मरण आवे, उसे नाम कहा जाता है। नाम आत्मा। अतति गच्छति इति आत्मा। अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमन करे, उसे आत्मा कहा जाता है। ऐसा आत्मा जहाँ जन्मे, उसके गोत्र का नाम लेने से उस आत्मा का स्मरण होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसका है। अकेले नाममात्र से तो पुण्य बँधता है। ऐई! केवलचन्दभाई! यह सब विपरीतता लगा दे सबको कि देखो भाई! भगवान का नाम (लेने से ऐसा होता है)। आती है न बात एक वृद्धा की? बहुत वर्ष पहले सुनी थी, एक माटली गाँव है न? कहाँ गये धीरुभाई? नहीं? माटली गाँव है न तुम्हारे गाँव के पास। नहीं? जामनगर के पास। माटली है न, माटली। मटवा माटली। माटली में गये थे, वहाँ एक ब्राह्मण आया। बहुत वर्ष की बात है, हों! यह (संवत्) १९८१ का वर्ष। ८१ के वर्ष की बात है। पश्चात् वहाँ आया। कहता है कि, ओहोहो! नाम में ऐसा गुण है! क्या है नाम में? इस तुम्हारे गाँव का नाम माटली है, कहा। माटली (नाम होवे तो) वह माटली पानी भरने की हो गयी? इसी प्रकार भगवान का नाम... (तब वह कहे), हाँ, हाँ। एक वृद्धा थी। ऐसा उसने दृष्टान्त दिया। वृद्धा थी तो कभी भगवान का नाम—राम

का नाम ले नहीं कभी। फिर उसे मरते-मरते मरते उसको राम का नाम लेने के लिये एक अच्छा रामपात्र (मँगाया)। रामपात्र होता है न, रामपात्र? वह रामपात्र बताया। बुढ़िया! क्या है यह? तो वह भड़ की पुत्री थी। इसलिए कहती है कि यह सकोरा है। यदि राम का नाम ले, यह रामपात्र ऐसा कहे तो बेड़ा पार हो। धूल में भी नहीं होता। कुँवरजीभाई! वह भी बोली सकोरा, वापस रामपात्र नहीं कहा।

मुमुक्षु : गाँव के....

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँव में तो रामपात्र.... बेचारी को उसे खबर भी नहीं कि यह क्या है।

मुमुक्षु : वह रामपात्र कहलाता है, इतनी भी खबर नहीं होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसे खबर भी न हो। यह सकोरा कहलाता है। सकोरा? राम का नाम लेने के लिये सकोरा लाया तो भी राम का नाम नहीं लेती। यदि राम का नाम ले तो उसका कल्याण हो जाए। ऐसा नहीं है धूल में भी। णमो अरिहंताणं... अरिहंताणं... अरिहंताणं... रटकर मर जाए। अनन्त बार जाप करे तो वह शुभभाव है। वह कहीं धर्म-बर्म नहीं है। उससे कल्याण नहीं है। शान्तिभाई!

मुमुक्षु : भगवान का नाम कोई नहीं लेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो नाम आये बिना रहता नहीं। यहाँ भी यह कहा है और वहाँ भी कहा है न! अनुभवप्रकाश में, नहीं? वहाँ भी कहा है दीपचन्दजी ने। प्रभु! आपके नाम में ऐसी ताकत है कि नाममात्र लेने से भी पाप का नाश हो जाए और कल्याण हो जाए। इसका अर्थ यह है कि वह नाम जिसका है, उसका आत्मा किस प्रकार की चीज़ को प्राप्त हुआ है, वह चीज़ मेरी चीज़ में वह वस्तु भरी हुई है, ऐसा नाम नाम नमन। नमन अर्थात् झुकना अर्थात् ढलना अर्थात् जुड़ना। अन्तरस्वरूप पूर्णानन्द ज्ञान से भरपूर है, उसमें नमे, उस भगवान का नाम लिया कहलाता है। कहो, समझ में आया? धन्नालालजी कहाँ हैं? नाम में लिखा है, देखो!

मुमुक्षु : अन्तरंग में जब तक न जाए...

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तरंग में नमन... नमन होता है। नमन नमन में अन्तर है।

समझ में आया? एक... ऐसे दूसरे को पकड़ना हो तो ऐसे नमन करके पकड़ता है। तेंदुआ होता है न? तेंदुआ को पकड़ते हैं। विनय... विनय... विनय से ऐसे (नमते हैं)। प्रभु! भगवान के पास सिंह आवे, बाघ आवे समवसरण में। ऐसे दो पैर नीचे रहे। होवे सिंह। और फणीधर नाग जंगल में से भगवान के दर्शन करने आवे समवसरण में। वहाँ तो उसे हाथ कहाँ है? ऐसे मुख नम्रीभूत हो जाता है। ऐसे ऊपर से फण माँडे न सामने? वह फण ऐसे नहीं माँडकर सिर ऐसे-ऐसे करता है। वह नमन अन्दर के शुभविकल्प से सर्वज्ञ परमात्मा का बहुमान करता है, उसे पुण्य बन्धन होता है और जो सर्वज्ञस्वभावी प्रभु आत्मा में नमा है और राग की अधिकता जिसने दृष्टि में से छोड़ी है और जिसने स्वभाव की अधिकता दृष्टि में ली है, उसने भगवान का नाम लिया - ऐसा परमार्थ से कहने में आता है। आहाहा! गजब बात, भाई! इसमें तो ऐसा है, देखो! अर्थ बदल डालते हो। चन्दुभाई! सब लोग आरोप देते हैं, लो! सत्य बात है?

हमारे जैसे मनुष्य के पास आज्ञा माँगती लक्ष्मी दौड़ी आती है। एक तो यह कि हम हमारे चैतन्यस्वभाव में प्रभु आपकी शक्ति की जो व्यक्तता हुई, उसका हमारे में सामर्थ्य है, ऐसे नमे तो अन्तर की लक्ष्मी भी दौड़ती हुई अल्प काल में आती है और आपकी भक्ति का जो शुभराग हुआ, उसमें ऐसा पुण्य बँधे, जहाँ जाओगे वहाँ लक्ष्मी सामने आज्ञा माँगती आयेगी। क्या चाहिए, क्या पैसा, क्या इज्जत-कीर्ति का ढ़ेर ऊपर से। तीर्थंकरपना समवसरण मिले। उसके जैसी लक्ष्मी कोई इन्द्र की ऋद्धि (भी नहीं है)। यह भगवान के स्मरण की स्तुति, स्वभाव के भूमिका के भान में ऐसा राग होवे तो बाहर की लक्ष्मी दौड़ती आती है, ऐसा कहते हैं। दौड़ती आती है, हमें ढूँढ़ने जाना नहीं पड़ता। गोतवा समझते हो? शोधना-शोधन। ढूँढ़ना नहीं पड़ता। अत: लक्ष्मी दौड़ती आती है। लक्ष्मी शब्द से इज्जत, कीर्ति, पैसा यह सब लक्ष्मी में जाता है। पुत्र, पुत्री, स्त्री, जगत में ठाठ-बाट जो कहलाता है, वह प्रभु! आपकी भक्ति के शुभराग में वह लक्ष्मी दौड़ती आती है। अर्थात् हमें हठ से प्राप्त करना और प्रयत्न से प्राप्त करना, ऐसा हो नहीं सकता। और आत्मा का स्वभाव, उसमें हमारा नमन हो, वह तुम्हें ही हम नमे हैं। तब ही हमने आपकी स्तुति की कहलाती है। इससे हमारी केवलज्ञान लक्ष्मी भी अल्प (काल में प्रगट होनेवाली है)।

.... अर्थात् इतनी लक्ष्मी आवे, इसका अर्थ यह कि इच्छा मन्द होने पर भी लक्ष्मी के ढ़ेर, इज्जत के ढ़ेर, कीर्ति के ढ़ेर (होते हैं)। तीर्थंकर जहाँ उपजते हैं, अरे! महापुण्यानुबन्धी पुण्य आत्मा के भान की भूमिका में जहाँ बँधता है, वह पुत्र जहाँ जन्मता है, वहाँ के आगे-पीछे के पत्थर नीलमरूप परिणमित हो जाते हैं और समुद्र की मछलियों में मोती पके, ऐसी लाखों मछलियाँ जहाँ कुँवर जन्में (वहाँ होती है)। जिसने भगवान की भक्ति की है अर्थात् चैतन्य सच्चिदानन्द चैतन्य चमत्कार की प्रीति, रुचि को जिसने उसे प्रीतम बनाया है, ऐसे परमात्मस्वरूप का अपना ध्यान किया है, उसकी लक्ष्मी अन्तर की तो दौड़ती आती है अल्प काल में, परन्तु शुभराग हुआ, वह जहाँ जाए वहाँ उसे दुनिया से हिस्सा नहीं करवाना पड़ता। (हीन पुण्यवान की) लक्ष्मी इज्जत-कीर्ति उसकी चली जाती है। अभी देखो न यह राजा। पशु कर (टैक्स) और यह क्या करते हैं सब? उत्तराधिकार कर चूल्हा कर। डालते हैं न सब? चूल्हा कर नहीं? कहो, समझ में आया? आगे था पहले। यह दूसरे प्रकार से लूटने की एक पद्धति है। परन्तु उसमें जो ऐसे पैसे को प्राप्त करे वह राजा, वह राजा नहीं है। राज्यते इति शोभते इति राजा।

प्रभु! हम हमारे चैतन्य के... आपको प्रगट (हुई) परमात्मदशा के भान की भूमिका की हमने रुचि, दृष्टि और प्रतीति की है। उसके भान में हमें केवलज्ञान भी अल्प काल में दौड़ता आयेगा। दौड़ता आयेगा, ऐसा कहते हैं। और शुभराग से बाह्य लक्ष्मी भी आज्ञा माँगती हुई सामने जाएगी। हम जहाँ जन्मेंगे वहाँ हमारे समक्ष ऐसा स्थल (आयेगा)। ऐसे स्थल, ऐसे माता-पिता, ऐसे क्षेत्र, ऐसा संयोग, ऐसे मित्र, वे सब वहाँ उपस्थित होंगे। हमें प्राप्त करना नहीं पड़ेंगे। कहो, समझ में आया?

यह वह बात नहीं करते? एक पुण्यहीन प्राणी था, तो यहाँ घर में हमेशा ज्वार की रोटी और कलथी खाता था। कलथी समझते हो? कलथी होती है। कुलथी समझते हो? धन्नालालजी! काला इतना छोटा कठोर अनाज होता है। तो घर में ज्वार... ज्वार समझते हो? ज्वार की रोटी और कुलथी खाता था। एक बार विचार हुआ कि सदा का यह है। लाओ न आज लड़की और बहिन के यहाँ जाऊँ। वहाँ तो लापसी और लड्डू मिलेंगे। वहाँ जाता है, वहाँ उसे भी घर में नयी ज्वार आयी हुई थी और कुलथी नयी

आयी हुई थी। उन्हें विचार हुआ कि आज ज्वार की रोटियाँ और कुलथी बनावें। उसमें वह ठीक दस बजे आया। आओ... आओ... जहाँ कुलथी और रोटी पड़ी, जयनारायण। सामने आकर पड़ गया। मैं मानो कि इसे छोड़कर ऐसा और कहीं बहिन-पुत्री के यहाँ जाऊँ तो लापसी मिलेगी। शान्तिभाई! जय ज्वार माता! मेरे नसीब में यह सामने थी। वे कहें, परन्तु नयी ज्वार ऐसी ताजा आयी है और कुलथी भी... कुलथी मेवा कहलाती है, हों! सब्जी ऐसी सरस बनायी है। चढ़ गया फर्स्ट क्लास, पच जाएगी तुम्हारे। बाजरे की रोटी या ज्वार की। डाला उसमें घी और... यह उसके इस नसीब में सामने आया यह तो।

यहाँ सर्वज्ञ की स्तुति करते हुए मुनि महाराज भावलिंगी सन्त हैं, (ऐसा कहते हैं), हम जहाँ जाऐंगे, वहाँ पुण्य के फल सामने आयेंगे। समझ में आया? और पवित्रता प्रगट होने की दौड़ती है। अर्थात्? अल्प काल में—शीघ्र काल में हम केवलज्ञान लेनेवाले हैं और पुण्य के संयोग भी हमें दौड़ते हुए आनेवाले हैं। यह प्रभु! आपकी भक्ति का फल है। ऐसा कहकर विनय से वर्णन करते हैं। भगवानजीभाई!

हे जिनेन्द्र! आपके नाम में भी इतनी शक्ति है। नाम में शक्ति है, ऐसा लिखा है, देखो! कि **आपके नाम के कीर्तन मात्र से ही हमारे जैसे मनुष्यों की आज्ञा मात्र से लक्ष्मी-कीर्ति...** समझ में आया? लक्ष्मी **दौड़ती-फिरती है।** लो! **आज्ञा माँगती हुई।** तो फिर जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त कर लेता है, साक्षात् प्राप्त कर लेता है अर्थात् आत्मा का साक्षात् रागरहित, मन के संग रहित असंग पदार्थ को साक्षात् प्राप्त करे, उसको तो क्या कहना? उसकी बात ही क्या? **उसे तो अवश्य अन्तरंग तथा बाह्य लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।** देखो! यह भगवान की भक्ति। यह समझ की भान की भूमिका में भक्ति। अकेला राग (खींचे) और अकेला बाहर का समझे बिना करे, उसे पुण्यबन्धन होता है परन्तु साथ में मिथ्यादृष्टि उस पुण्य के परिणाम को कल्याण का कारण मानकर उसमें घुटाया करे, उसे मिथ्यात्व अर्थात् असत्य दृष्टि, दुःखदृष्टि का लाभ होता है। उसे यह लक्ष्मी निश्चय और व्यवहार एक भी नहीं मिलती।

छठवीं (गाथा)

गाथा ६

अब कहते हैं कि हे भगवान आपके बिना अकेले पुण्य की शोभा नहीं है–

जासि सिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि।।६।।

अर्थ – हे सर्वज्ञ! हे जिनेश! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी, वह शोभा आपके इस पृथ्वी–तल पर उतरने के बाद, आपके वियोग से उत्पन्न हुए दुःख से नष्ट हो गयी–ऐसी मैं (ग्रन्थकार) शंका (अनुमान) करता हूँ।

भावार्थ – हे भगवान! आप में यह एक प्रकार की विशिष्टता विद्यमान है कि जहाँ आप निवास करते हैं, वहीं उत्तम शोभा भी रहती है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान में विराजमान थे, उस समय उस विमान की बड़ी भारी शोभा थी, किन्तु जिस समय आप इस पृथ्वी–तल पर उतरकर आये, उस समय उस विमान की भी उतनी शोभा नहीं रही, बल्कि इस पृथ्वी तल की शोभा अधिक बढ़ गयी।

गाथा – ६ पर प्रवचन

जासि सिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि।।६।।

हे जिन सर्वज्ञ! हे जिनेश्वर! **जब आप सर्वार्थसिद्धि के विमान में थे।** देखो! अब क्या कहते हैं ? परमात्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण स्वरूप चतुष्टय दर्शन–ज्ञान–चारित्र और आनन्द को प्राप्त हुए, ऐसे परमात्मा का जिसे अन्तर्लक्ष्य और दृष्टि हुई और उन परमात्मा की भक्ति जिसे उछली, जहाँ–तहाँ परमात्मा देखता है। वह जहाँ–तहाँ परमात्मा... परमात्मा...। उनकी ही महिमा और अधिकता देखता है। प्रभु! यह ऋषभदेव भगवान सर्वार्थसिद्धि में से आये हैं। सर्वार्थसिद्धि एक देव है ऊपर, वैमानिक का अन्तिम। वे

आये हैं महाविदेहक्षेत्र में से। वहाँ महामुनि थे और तीर्थंकरगोत्र वहाँ बाँधा हुआ था। वहाँ से देह छूटकर सर्वार्थसिद्धि देव वैमानिक का अन्तिम विमान है, उसमें उनका अवतार हुआ। महा आत्मा।

कहते हैं, प्रभु! आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे न, तब उसकी जो शोभा थी, वह आप वहाँ से निकलकर जब मरुदेवी के गर्भ में आये (तो) वहाँ की शोभा लुट गयी। समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा की प्राप्ति हुई, तब उस राग और पुण्य की शोभा कहलाती है। नहीं तो वह शोभा-बोभा-कहलाती नहीं। प्रभु! आप सर्वार्थसिद्धि में थे, तब जो विमान की जैसी शोभा थी, वह शोभा आपके इस पृथ्वी तल पर पधारने से **आपके वियोग से हुए दुःख के कारण नष्ट हो गयी है।** लो! क्या कहा? वहाँ सर्वार्थसिद्धि के विमान को दुःख हुआ कि आहाहा! यों ही ऐसा नहीं कहलाता? पुण्यवन्त प्राणी, पैसा आदि हो, उसे जब जलाने ले गये। पहले जब तक था, तब तक ऐसी शोभा भरपूर सब लगे। यह तो वह पुण्य है न, इसलिए अपने को महिमा उसके प्रति (आती है)। घर शोभता-भरपूर सब लगता है। जहाँ जलाकर आये श्मशान में से... आहाहा! सूनसान-सूनसान। सिरच्छत्र गया। उसकी आज्ञा थी हमारे ऊपर, वह गया।

इसी प्रकार भगवान आप सर्वार्थसिद्धि... देखो! यह भगवान।

हरतां-फरतां प्रगट हरि देखूँ, अरे मेरा जीवन सफल तब लेखूँ।
मुक्तानन्द का नाथ बिहारी रे, ओघा जीवन डोरी हमारी रे॥

परमात्मा पाप के हरनेवाले और विकार का नाश करनेवाले ऐसे हरि अर्थात् परमात्मा। यह हरि, हों! दूसरे हरि-हरि कहते हैं, वह नहीं। शान्तिनाथ! पाप ओघं हरति इति हरि। जिसने विकार के पुण्य-पाप के ओघ को ढ़ेर को नष्ट करके जिसने आत्मदशा प्रगट की, ऐसी जिसे श्रद्धा आत्मा की होने पर भगवान की व्यवहार से श्रद्धा लक्ष्य में वर्तती है, वह कहता है कि 'हरतां फरतां प्रगट प्रभु देखूँ' प्रभु! सर्वार्थसिद्धि में भी तुम थे तो शोभा (थी), हों! परन्तु वहाँ से आप निकले, वहाँ उसे दुःख हुआ। वहाँ की शोभा नष्ट हो गयी और यहाँ की शोभा (हो गयी)। क्या कहते हैं यह?

आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसकी प्रतीति, रुचि के कारण सब शोभायें हैं। तब उस

शुभभाव को भी व्यवहार की उपमा दी जाती है। और उस आत्मा की शोभा फटकर राग से आत्मा का समीपपना मिटा, राग और पुण्य का समीपपना हुआ (वह तो दु:खदायक है)। और राग तथा पुण्य का समीपपना टलकर स्वभाव का समीपपना हुआ तो पुण्य को शोभा व्यवहार की कहने में आता है और अकेले राग का समीपपना रहा तो प्रभु! वह तो दु:खदायक है। कहो, समझ में आया?

ओहो! मुनियों ने तो वीतरागपने के गीत गाये हैं। 'धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं।' आनन्दघनजी कहते हैं—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं, भंग न पड्शो हो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मन मन्दिर आणुं नहीं, ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर,
ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर, धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं॥

धर्म अर्थात् आत्मा का पवित्र शुद्ध चैतन्यस्वभाव का जहाँ अन्दर आदर हुआ, उसके गीत गाते हैं, वहाँ हे नाथ! हे आत्मा! राग की एकतारूप जो अन्दर भंग पड़ता है, वह नहीं होगा। 'भंग न पडशो प्रीत...' प्रभु! आत्मा के स्वभाव की प्रीति रुचि और सन्तोष जागृत हुआ, वह अब भंग नहीं पड़ो। ऐसे भगवान का स्तवन करते हुए अपने स्वभाव का स्तवन करते हैं। वास्तविक तो ऐसा है। केवलचन्दभाई!

'बीजो मन मंदिर आणुं नहीं'। आत्मा की वीतरागदृष्टि और वीतरागस्वभाव के अतिरिक्त राग को, पर को मन-मन्दिर में अन्तर में आने नहीं दूँगा। 'भंग में पड्शो प्रीत (जिनेश्वर), बीजो मन मंदिर आणुं नहीं, ए अम कुलवत रीत...' अनन्त तीर्थंकर, सर्वज्ञ परमात्मा हुए, हम उनके कुल के पथानुगामी। नेमिदासभाई! ऐसा कहते हैं। उनके कुल के पथानुगामी हम। यह हमारे कुलवट की रीति टूटेगी नहीं। यह हम कुलवट रीत।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि हे प्रभु! आप जब विमान में विराजते थे, (तब) उसकी ऐसी शोभा लगती थी और वहाँ से छूटे (तो) शोभा गयी। ऐसी मैं शंका अर्थात् अनुमान करता हूँ। अनुमान अर्थात् यह तो एक... है। शोभा तो है, वह आत्मा की है। वह विमान तो वहाँ का वहीं है। वह कहीं वहाँ से कम-ज्यादा नहीं होते। परन्तु प्रभु वहाँ विराजते

थे और हमारा जो लक्ष्य और दृष्टि थी, हमारी दृष्टि में आत्मा जहाँ था, उसके कारण सब शोभा थी। बाकी बाहर की सामग्री, स्त्री, पुत्र, परिवार और खम्मा-खम्मा छियानवें हजार स्त्रियाँ चक्रवर्ती को, छियानवें करोड़ सैनिक, रत्न के ढ़ेर जिसके घर में। वह उसकी शोभा नहीं है। शोभा तो चैतन्य तत्त्व की है। ऐसे स्वभाव को पाकर वहाँ पड़े थे, इसलिए विमान की शोभा थी। वहाँ से निकले, उसकी शोभा नष्ट हो गयी।

हे भगवन! आपमें एक प्रकार की अति महान विशिष्टता वर्तती है। विशिष्टता यह है कि जहाँ आप निवास करते हो, वहाँ ही... कहो, समझ में आया? **वहाँ ही उत्तम शोभा रहती है। क्योंकि जब आप सर्वार्थसिद्धि नामक विमान में विराजमान थे, तब उस विमान की बहुत बड़ी शोभा थी।** बहुत बड़ी शोभा थी। **परन्तु जब आप वहाँ से उतरकर इस पृथ्वी के ऊपर पधारे...** अवतरित हुए, **तब उस विमान की शोभा पहले जैसी नहीं रही। परन्तु इस पृथ्वीतल की शोभा अधिक हो गयी।** यह तू (जहाँ) हो, वहाँ (सब शोभा है)। नियमसार में कहते हैं न आचार्य? मेरे दर्शन में भी आत्मा, ज्ञान में भी आत्मा और चारित्र में भी आत्मा। **'जस्स संणिहिदो अप्पा' 'जस्स संणिहिदो अप्पा'**। जहाँ आत्मा जिसके अन्तरस्वभाव की दृष्टि में, समीप में वर्तता है, वहाँ सब दर्शन, वहाँ ज्ञान सब, चारित्र, आनन्द, शान्ति और शोभा है। परन्तु आत्मा दृष्टि के समीप में से गया और पुण्य और पाप तथा निमित्त की दृष्टि के समीप में आया, सब शोभा भ्रष्ट (हो गयी)। चन्दुभाई! आता है न? नियमसार में आता है।

'जस्स संणिहिदो अप्पा' जिसका आत्मा सन्निद्ध—निकट में वर्तता है। तथा राग और पुण्य तथा निमित्त जिसके वियोग में वर्तते हैं दृष्टि में। पृथक्‌रूप से कहो, वियोगरूप से कहो, भिन्नरूप से कहो। और जिसकी दृष्टि में रागरहित, पुण्य-पाप के मलिनभाव रहित चैतन्यस्वभाव की समीपता में जो वर्तता है, वहाँ दर्शन है, वहाँ ज्ञान है, वहाँ चारित्र है, वहाँ तप है और वहाँ धर्म है। अन्यत्र कहीं धर्म नहीं होता। अत: यहाँ कहते हैं, यहाँ पृथ्वीतल की शोभा अब अधिक हो गयी। वहाँ की शोभा टलकर यहाँ की हुई।

सातवीं (गाथा)

गाथा ७

अब, सर्वार्थसिद्धि में से यहाँ भगवान अवतरित हुए, तब इस पृथ्वी का नाम वसुन्धरा पड़ा–ऐसा कहते हैं—

णाहिघरे वसुहारावडणं जं सुइर महितहो अरणी।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमयी जाया।।७।।

अर्थ – हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वीतल पर उतरे थे, उस समय जो नाभि राजा के घर में बहुत काल तक धन–वर्षा आकाश से हुई थी, उसी से हे प्रभो! यह पृथ्वी वसुमती हुई है।

भावार्थ – पृथ्वी का एक नाम वसुमती है। जो धन को धारण करनेवाली होवे, उसी को वसुमती कहते हैं। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वी का नाम वसुमती जो पड़ा है, वह भगवान! आपकी कृपा से ही पड़ा है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान से पृथ्वी–मण्डल पर उतरे थे, उस समय बराबर पन्द्रह मास तक रत्नों की वृष्टि इस पृथ्वी–मण्डल पर नाभि राजा के घर में हुई थी, इसलिए पृथ्वी के समस्त दारिद्रय दूर हो गये, किन्तु इससे पूर्व इसका नाम वसुमती नहीं था।

गाथा – ७ पर प्रवचन

णाहिघरे वसुहारावडणं जं सुइर महितहो अरणी।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमयी जाया।।७।।

लो! अब यहाँ का लिया। आहाहा! जहाँ हो वहाँ तू और तेरे ज्ञान के गीत और ज्ञान की प्रीति–रुचि न हो तो तू कहीं अन्यत्र नहीं।

हे जिनेश्वर! आप जब इस पृथ्वीतल पर अवतरित हुए, तब नाभिराजा के घर में बहुत काल तक... क्या कहा? आकाश में से बहुत काल तक जो धन की

वृष्टि हुई... धन की धारा। धन की धारा अर्थात् धन की वर्षा हुई, **उससे यह पृथ्वी वसुमति...** क्या कहते हैं ? वसु अर्थात् पृथ्वी। वसु अर्थात् पैसा। इस वसुरहित नर पशु नहीं कहलाते ? वसुरहित नर पशु। भगवानजी भाई ! कहने की बात है। और जहाँ वसु हो वहाँ पागल हो, वह चतुर कहलाता है।

मुमुक्षु : गांगजीभाई कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वसु आया, इसलिए गांगजीभाई, नहीं तो गांगुलो कहलाता था। केवलचन्दभाई ! यह दुनिया की बातें। वसु, यह नहीं।

यहाँ तो वसु अर्थात् लक्ष्मी। आत्मा की लक्ष्मी जो है, वह जहाँ अन्तर में से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में प्रगट हुई, तब शोभा को प्राप्त हुआ। मैं शोभा को प्राप्त हुआ और पृथ्वी भी शोभा को प्राप्त हुई। यहाँ तो कहते हैं कि यह पृथ्वी तब से वसुमति कहने में आयी है। पहले वसुमति नहीं थी। वसु अर्थात् लक्ष्मीवाली तब कहलायी है। है तो अनादि की परन्तु ऐसे पृथ्वी को भी इस ज्ञान से देखता है। हम पृथ्वी को नहीं देखते, हम हमारे ज्ञान को देखते हैं। क्या कहा, समझ में आया ?

वहाँ विमान की शोभा जो थी, वह हमारे ज्ञान का ज्ञेय, उसमें इस ज्ञेय को वास्तव में हम देखते हैं। हम तो उस काल में भी हमारे ज्ञान को ही देखते हैं, हम स्वर्ग में थे तब दूसरे भव में। इसी प्रकार परमात्मा ! आप भी आपके ज्ञान को ही देखते और देखते थे। यहाँ नीचे अवतरित हुए तो वसु-पृथ्वी को आप नहीं देखते। पृथ्वी से शोभा नहीं है। आपके ज्ञान की ऊर्ध्वता पहले (हुई),... जिसके ज्ञान में स्व आये बिना पर का ज्ञान होता नहीं। अर्थात् जिसमें ज्ञान की मुख्यता हुई, उसके कारण यह सब शोभा पृथ्वी हुई है। समझ में आया ? समझना भारी मुश्किल पड़े, ऐसा है। कुँवरजीभाई ! क्या इसमें एक-एक लाईन याद रहे, ऐसा है।

मुमुक्षु : उस लाईन का मुद्दा—वस्तु का याद रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वसु और धूल में यह वसु कहाँ थी ? इस वसु के ढ़ेर पड़े हों और फिर दुःख आवे शरीर में, रोग आवे, शास्त्र में ऐसा लेख है कि तू मेरी... मेरी लक्ष्मी करता और उसका ढ़ेर कर तेरे पास और उसका ढ़ेर करके प्रार्थना कर। हे

लक्ष्मी ! तेरे लिये खाया नहीं, पिया नहीं, सुख से सोया नहीं और लड़के के लिये, प्राप्त करने के लिये मर गया पूरी जिन्दगी। यह ढ़ेर (हुआ परन्तु) अब मेरी दुर्गति होगी, यहाँ से मरकर, तो तू किंचित शरण करना लक्ष्मी !

मुमुक्षु : लक्ष्मी ने कुछ जवाब दिया या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिया उसने कि हम किसी के हुए नहीं और किसी के कहीं हम रहे नहीं। तू व्यर्थ में ममता करके यहाँ छिपता है। लक्ष्मी का ढ़ेर ऐसा आता है, भाई इसमें। सूयगडांग में एक लेख आता है। लक्ष्मीवाला था एक बड़ा और फिर उसकी मरने की तैयारी हुई। पश्चात् ऐसा कि सब लक्ष्मी का ढ़ेर कराया कि मेरी आमदनी मुझे मेरे पास बताओ। ऐसे ढ़ेर किये।

मुमुक्षु : सिकन्दर....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो सिकन्दर की बात अलग है। यह तो श्वेताम्बर में सूयगडांग में आता है। यह तो आता है, मुझे खबर है सिकन्दर की। खबर तो होवे न सब बातों की। बहुत छोटी उम्र से सुनते आते हैं न। वह सिकन्दर मर गया, तब कहे यह सब ढ़ेर करो और मरते समय जिसने मेरे वर्षासन खाये, ऐसे डाक्टरों के, वैद्यों के, हकीमों के सिर पर मेरा मुर्दा उठवाना। समझ में आया ? हकीमों को हमने उत्तराधिकार दिया वे हमको रख सके नहीं तब मेरा जनाजा उन वैद्यों, हकीमों के सिर पर (उठवाना)। लोगों को खबर पड़े कि इतने अरबों रुपये थे, तथापि इसे कोई रख नहीं सके। उन हकीमों के सिर पर उठवाकर गाड़ने ले जाते हैं। कहो, बराबर होगा या नहीं ? कुँवरजीभाई ! कौन रखता होगा ? हकीम रखता होगा ? हकीम उसे ले जाए। और यह सब मेरे जो बन्दूकों के लश्कर मुर्दे के सामने करना। जनाजा के सामने आगे रखना, ढ़ेर करना और वहाँ कब्र में जहाँ गाड़ो, वहाँ ढ़ेर दिखाना कि यह मर गया, कुछ ले नहीं गया और कुछ हो.. हा.. हो.. हा.. मर गया, वह मर गया। हकीम ने रखा नहीं, पैसे ने रखा नहीं, पुत्र ने रखा नहीं। बड़े-बड़े लश्कर की बन्दूकों जहाँ हजारों करे... और ऐसा अमुक-अमुक करते हैं न ! उतरे तब नहीं करते ऐसा करके ?

मुमुक्षु : सलामी देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सलामी देते हैं, सलामी। वहाँ दी थी न एक बार दयाशंकरभाई की। उस मैदान में। अपने है न मन्दिर के पास मैदान? दयाशंकरभाई को सब पुलिस ने सलामी दी। वह दयाशंकर वापस बैठ गया जूनागढ़।

यहाँ तो कहते हैं, अरे! यह बाहर की सलामी और बाहर व्यर्थ-व्यर्थ श्मशान में, उस श्मशान में लकड़ियाँ चित्रामण करके, रंग भरकर या पॉलिश करके उसे जलावे या ऐसे और ऐसे लकड़ियाँ और कण्डे जलावे, उसमें मुर्दे को कुछ नहीं है। होगा उसमें कुछ शोभा होगी या नहीं मुर्दे की? उसमें आता है। मुर्दे को ऐसा कहे। मुर्दा होवे न, उसके चार नारियल बाँधे हो न, चारों ओर चार। दु:ख होता है, उसके घरवालों को अरे! परन्तु नारियल बाँधे हैं न। अर..र..र! परन्तु यह बीस वर्ष का जवान। अठारह वर्ष की छोड़कर के गया, चला जाए। हाय.. हाय..! 'हाड जले ज्यों लकड़ी, घास जले ज्यों केश' घास जले, वैसे केश जलते हैं। आहाहा! यह बात यहाँ नहीं, यहाँ तो कहते हैं।

यहाँ तो जिसने शाश्वत् चैतन्य तत्त्व दृष्टि में लिया, उसकी लक्ष्मी की शोभा उसके काल में उसे स्वयं को प्रगट यहाँ हो जाती है। मैं जहाँ लक्ष्मी-आत्मा के चैतन्य की लक्ष्मीसहित होऊँ, वहाँ ही मेरी ओर पर की सब शोभा है। उसके कारण है, पर के कारण मेरी कुछ शोभा नहीं है।

धन की वर्षा हुई। क्या कहते हैं? भगवान जन्मने से पहले, छह महीने पहले इन्द्र आकर वर्षा करते हैं। आकाश में से स्वयं वर्षा करते हैं, आकाश के परमाणुओं का स्कन्ध, सहज स्वाभाविक पुरुष है और आत्मा के भान की भूमिका लेकर आये हैं तो वे परमाणु के स्कन्ध हीरा और रत्नरूप परिणमकर ढ़ेर उसके, क्या कहलाते हैं? उनके मकान के आँगन में, उस मकान के आँगन में आकाश में से हीरे गिरते हैं। ओहोहो! और इन्द्र आकर वर्षा करते हैं। प्रभु! आपकी शोभा तो देखो! इस आपकी शोभा के कारण यह सब शोभा है। आपने यदि चैतन्यमूर्ति का भान न किया हो तो शोभा कहीं है नहीं। कहो, यह छह महीने और नौ महीने माता के गर्भ में रहते हैं, तब तक इन्द्र नौ महीने (कुल पन्द्रह महीने) वर्षा करते हैं। इन्द्र आकर, इन्द्र जिनके सेवक इन्द्र जिनके किंकर। किंकर। क्या करें? क्या दें? क्या लें? ऐसा पुण्य आत्मा की सत्शक्ति के स्वभाव के अवलम्बन से जिसकी भूमिका है, उसे ऐसे राग की वृत्ति में ऐसा पुण्य

बँधता है। तब उस पुण्य को व्यवहार सत्पुण्य का आरोप दिया जाता है। वह सत्पुण्य, लो। यह सत्स्वभाव प्रगट हुआ। अर्थात् राग हुआ, उसे सत्पुण्य कहने में आया, तब उस पुण्य की शोभा हुई।

आकाश में से जो वसु की धारा, धन की वर्षा हुई, उसके कारण यह पृथ्वी वसुमति हुई। नहीं तो यह वसुमति थी नहीं। प्रभु! आपके कारण है, आपके कारण यह सब है। अर्थात् चैतन्यस्वभाव निर्लेप, निर्दोष, निर्ग्रन्थस्वरूपी प्रभु की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता के कारण सब क्रियाएँ व्यवहार की, पूजा-भक्ति-दया-दान और व्रत और व्यवहार की शोभा आत्मा में आवे। नहीं तो उन्हें व्यवहार भी नहीं कहा जाता। कहो, समझ में आया इसमें? **पृथ्वी का नाम वसुमति है और जो धन को धारण करनेवाली हो, उसे वसुमति कहा जाता है। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा अलंकार करते हैं।** उत्प्रेक्षा—इस प्रकार की विचारधारा में पुण्य का ठाठ, उसे न गिनकर पवित्रता को गिना और पुण्य की शोभा व्यवहार से है, ऐसा कहना चाहते हैं।

और इस पृथ्वी का जो वसुमति नाम पड़ा है, वह भगवान के-आपकी कृपा से ही पड़ा है। हे भगवान! आपकी कृपा से पड़ा है। **क्योंकि आप सर्वार्थसिद्धि विमान में से इस पृथ्वी मण्डल पर आये, पृथ्वी मण्डल पर अवतरित हुए, तब ठीक पन्द्रह मास—महीने तक रत्नों की वृष्टि हुई।** जगत को आचार्य तो कहना चाहते हैं कि पवित्रता की भूमिका में पुण्य का फल कैसा (होता है), यह लोगों को विश्वास में आवे, ऐसा नहीं है। पवित्र चैतन्यशक्ति का प्रभु, उसकी तो प्रतीति कैसे आवे? परन्तु उसकी प्रतीति की भूमिका में बँधा हुआ राग और राग के फलरूप जो संयोग आया, पन्द्रह महीने रत्नों की वृष्टि (होती है), लोगों को विश्वास में नहीं आता। समझ में आया? पन्द्रह महीने वृष्टि। छह महीने पहले जहाँ नरक में से भी तीर्थंकर निकले, जैसे यह श्रेणिक राजा अभी नरक में है। ८४ हजार वर्ष का आयुष्य है। जब छह महीने बाकी रहेंगे, तब तीर्थंकररूप से जहाँ अवतरित होंगे, आयुष्य बँधेगा। आयुष्य बँधेगा तो देव आकर यहाँ माता के वहाँ उनके आँगन में रत्न की वृष्टि करेंगे। और फिर माता के उदर में आने के बाद तो नौ महीने वृष्टि (होगी)। पन्द्रह महीने। सवा वर्ष। उनका सवाया काम है। भगवानजीभाई! रत्न के ढ़ेर। यहाँ पाँच-पच्चीस लाख हो, वहाँ ओहोहो! हमने

प्राप्त किये, अपने को मिले। धूल भी मिली नहीं। ममता मिली है। यह हमको मिले, ऐसी ममता (मिली है)।

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि प्रभु! पृथ्वी का नाम वसुमति आपके कारण पड़ा है, हों! आप हो वहाँ वसुमति; आप न हो वहाँ इस पृथ्वी को वसुमति नहीं कहते। समझ में आया इसमें? **जब आप सर्वार्थसिद्धि विमान में से इस पृथ्वी मण्डल पर आये, तब ठीक पन्द्रह महीने रत्नों की वृष्टि हुई। इस पृथ्वी का नाम तब पृथ्वी मण्डल में नाभिराजा के घर में वृष्टि हुई थी, इसलिए पृथ्वी का समस्त दारिद्र दूर हुआ।** क्या कहते हैं? इतनी बाहर में लक्ष्मी आयी कि जगत के प्राणी निर्धन का दारिद्र मिटा। हम भी प्रभु **जहाँ आपकी वस्तु की स्थिति को सुनते हैं, देखते हैं, तब हमारी दरिद्रता नष्ट हो जाती है।** और दरिद्रपना नाश होकर पुण्य बँधने से जो लक्ष्मी बाहर आती है, उसका व्यवहार से दारिद्रपना हमारा और पर का भी नाश होता है। यह सब शोभा चैतन्य चमत्कार आत्मा के, परमात्मा के गुण गाने में है। यह परमात्मा सर्वज्ञ है, यह प्रतीति में आना और उस प्रतीति से स्वसन्मुख होना, यह उसकी शोभा, यह सब शोभा है। इसके अतिरिक्त दूसरी शोभा होती नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १५, सोमवार, दिनांक - २२-८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र गाथा - ८ से ११, प्रवचन-४

(आत्मा) सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसका भान हुआ, इससे पुराना प्रवाह ताजा होकर नया सम्यग्दर्शन-ज्ञान में प्रगट हुआ। तो भगवान को बहुत काल हुआ। इसलिए मानो भगवान हमारे समीप में हों, ऐसा धर्मी को लगता है। यह तो बहुत काल हुआ परन्तु मानो समवसरण में विराजते हों, इस प्रकार से पंचम काल के मुनि ने स्तुति की है। अपना स्वरूप दूर जो दृष्टि में था, राग और विकल्प और निमित्त के भाव में जो दृष्टि अटक गयी थी, उस दृष्टि ने चैतन्य निज घर देखा। निज घर श्रद्धा-ज्ञान में लिया और अपना आत्मा भी समीप है और उसे सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ और दूर काल में हुए, वे भी मानो वर्तमान में समीप में हैं, ऐसे मुनि भक्ति कर रहे हैं। तत्प्रमाण धर्मात्मा को कैसी भक्ति होती है, उसका भी वर्णन साथ में करते हैं।

भगवान को कहा। सातवीं गाथा में कहा न, प्रभु! आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, वहाँ से आये हैं भगवान ऋषभदेव। वह स्थान भी बताया। कहीं मुक्ति में से आये नहीं है। समझ में आया? जो कुछ अवतार होता है, वह तीर्थंकर हो या कोई भी हो, वे कोई मुक्ति में से आवें, सिद्ध हुई दशा में से जन्में, ऐसा नहीं हो सकता। यह वर्णन समझाने के लिये (कहते हैं कि) प्रभु! आपने पूर्व में पूर्णानन्द आदि की कितनी ही प्राप्ति तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में की थी, राग बाकी रहा, उसका पुण्य बँधा, (उसके फल में) सर्वार्थसिद्धि में गये। प्रभु! परन्तु आप वहाँ थे, तब उस देव की शोभा थी, हों! सर्वार्थसिद्धि के विमान की (शोभा थी)। नीचे उतरे तो सर्वार्थसिद्धि की शोभा नष्ट हो गयी, ऐसा मैं मानता हूँ। कहो, नेमिदासभाई! क्या होगा यह? मुनि ऐसे अलंकार करते होंगे? वे तो पंच महाव्रतधारी हैं। चन्दुभाई! पंच महाव्रतधारी हैं? अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकल्प, उसे व्यवहार पंच महाव्रत का आता है। अन्तर्दृष्टि में उस राग का निषेध और आत्मा की शुद्ध परिणति बहती है। यह कहते हैं कि प्रभु! मैं ऐसी शंका करता हूँ (कि) आप सर्वार्थसिद्धि में थे, तब उसकी शोभा (थी), हों! प्रभु! यहाँ नीचे उतरे न, यह वसुमति पृथ्वी नहीं कहलाती थी! आप जब

माता की गोद में आये, उससे पहले इन्द्रों ने छह महीने तक रत्नों की वर्षा की और माता के गर्भ में सवा नौ महीने रहे। बाहर में रत्न बरसे, अन्तर में आपको चैतन्यरत्न की प्राप्ति है और पूर्व के पुण्य के कारण से बाहर की भी रत्न की वृष्टि हुई। तब से मैं इस पृथ्वी को वसुमति कहना चाहता हूँ। पृथ्वी का नाम लेते हुए भी प्रभु का स्मरण है—ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

पृथ्वी अर्थात् वसुमति। यह तो प्रभु! आपके कारण से है। लोग नहीं कहते? कि भाई! सब शोभा इनके कारण है। इसी प्रकार आत्मा की शोभा ज्ञान और शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा, ज्ञान जिसने किया, उसके कारण सब शोभा आत्मा की कहलाती है और शुभराग को भक्ति और व्यवहार भी उसके ही कहने में आते हैं।

अब यहाँ आठवीं गाथा में (कहते हैं)

गाथा ८

अब, भगवान की माता को स्मरण करते हुए कहते हैं—

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊ पट्टो बज्झइ मज्झे से पुत्तवंत्तीणं।।८।।

अर्थ – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे, इसलिए मरुदेवी माता, इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार किए गए हैं चरण जिसके – ऐसी हुई; अतः जितनी पुत्रवती स्त्रियाँ थीं, उन सबमें मरुदेवी का ही पद सबसे प्रथम रहा।

भावार्थ – संसार में बहुत सी स्त्रियाँ पुत्रों को जन्म देनेवाली हैं, उनमें मरुदेवी के ही चरणों को क्यों इन्द्राणी तथा देवों ने नमस्कार किया? और उनके चरणों की ही क्यों सेवा की? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो! मरुदेवी माता के गर्भ में आकर आप विराजमान हुए थे, इसलिए उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और वे, जितनी पुत्रों को जन्म देनेवाली स्त्रियाँ थीं और हैं, उन सबमें उत्तम समझी गयी, अन्य कोई कारण नहीं।

गाथा – ८ पर प्रवचन

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊ पट्टो बज्झइ मज्झे से पुत्तवंत्तीणं।।८।।

हे प्रभु! हे जिनेन्द्र! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे... वहाँ से आये और यहाँ स्थित (हुए), ऐसा व्यवहार भी अभी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, सर्वज्ञ पद प्राप्त होने से पहले। कोई ऐसा कह दे कि सब मुक्ति में से वापिस आते हैं और अवतार धारण करते हैं, वह वस्तु के तत्त्व को समझता नहीं है। जिसने राग और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि की, वह विपरीत रुचि होने नहीं देता। वह स्थिरता पूर्ण करके जिसने अस्थिरता टालकर पूर्ण पद की प्राप्ति होती है, उसके तत्त्व का स्वभाव पुनः अवतार धारण करे, ऐसा नहीं हो सकता। केवलचन्दभाई! लो, यह तो तत्त्व की बात (आती है)। यहाँ तो जैन के नाम से सब कहे, भगवान यहाँ हुए, ज्योति में ज्योति (मिल गयी)।

एक बार कहते थे न! वहाँ (संवत्) १९९५ में थे न? मणियार है न मणियार? राजकोट में नहीं? ...है न? वे १९९५ में आये थे। ज्योति में ज्योति मिलायी। जिस आत्मा की यहाँ से मुक्ति हुई पश्चात् वहाँ ज्योति है, उसमें इकट्ठे मिल गये। तत्त्व की स्थिति क्या है और वास्तविकता उसका क्या स्वभाव है, इसकी खबर नहीं और जैन के वाड़ा में भक्ति की, पूजा की और भगवान सच्चे। किसके सच्चे? अभी तुझे भगवान का क्या स्वरूप? तेरे आत्मा का क्या स्वरूप? उसके भान बिना भगवान किसमें मिले? कहाँ से लाया? भगवान कोई सत्ता में निर्मल होकर परसत्ता में मिल जाए, ऐसा कभी हो नहीं सकता। अनादि आत्मतत्त्व की सत्ता विकाररूप हो या निर्विकाररूप हो, उसकी सत्ता का सर्वस्व परसत्ता से भिन्नपने ही वर्त रहा है। समझ में आया? मुक्ति हो, इसलिए वहाँ सब इकट्ठे (हो जाएँ)।

एक व्यक्ति कहता था, मुक्ति में भी चौका अलग? चन्दुभाई! एक व्यक्ति और वेदान्तिक दृष्टि हो गयी तथा सब पढ़े समयसार और यह सब, हों! समयसार और भक्तामर में वह आता है न विभु। इसलिए सर्व व्यापक जैसी दृष्टि हो गयी। पश्चात् कहे,

मुक्ति में भी सब चौका अलग होंगे? चौका अर्थात् समझ में आया? सबकी सत्ता अलग होगी? यहाँ तो सबकी अलग सत्ता रखकर बैठे हैं। यहाँ तो चूल्हा अलग-अलग करते हैं न? परन्तु वहाँ चूल्हा अलग? अरे! भाई! यह वस्तु ही कोई अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध सत्स्वरूप है। उसकी भान की दशा न हो तो उस विकार की वृत्ति और रुचि में अटककर चौरासी में भटके। परन्तु वह अपनी सत्ता में है यह सब। इसकी सत्ता पर के कारण नहीं है और इस विकारी सत्ता के अंश में अस्तित्व... वह भी सत् है न? उसका पर्याय में सत्पना जो विकार का था, उसे आत्मा के स्वभाव के भान द्वारा विकार का सत्पना व्यय हुआ—नाश (हुआ), निर्विकारी सत् का अंश वर्तमान परिणति निर्मल प्रगट हुई, उसे फिर से अवतरित होना या अवतार हो नहीं सकता और वह दूसरी सत्ता में मिल जाए, (ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है)। ईश्वरचन्दजी! कहते हैं न? एक में अनेक। नहीं आता। सब आता है। सिद्ध की स्तुति। 'एक मांही अनेक राजे।' किस प्रकार अनेक राजे? अर्थ आता है कुछ? यह तो जहाँ परमात्मा अपने पूर्णानन्द का, सहजानन्द का आह्लाद स्वतन्त्र स्वभाव के आश्रय से जहाँ अनुभव कर रहे हैं, उस स्थान में दूसरे अनन्त परमात्मा सिद्ध स्वभाव से विराजमान हैं। परन्तु एक सत्ता दूसरी सत्तारूप हो, ऐसा कभी नहीं होता।

इसलिए आचार्य कहते हैं, प्रभु! आप सर्वार्थसिद्धि में से आये, तब प्रभु! **आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे।** जब तक राग था और राग के कारण भले तीर्थंकरगोत्र बँधा, परन्तु माता के गर्भ में स्वयं की योग्यता से आये हैं। कर्म के कारण नहीं। समझ में आया? कर्म तो निमित्तमात्र है। ऐसा नहीं। माता के गर्भ में, उस माता के ही गर्भ में रहने की उनकी योग्यता थी। इन्द्र आकर गर्भ साफ करते हैं। जैसे राजा आते हों, तब आँगन और महल और सब साफ करते हैं या नहीं? साफ करते हैं या नहीं? हरिजन से साफ-साफ करो, सब साफ करो। महाराज आनेवाले हैं, अमुक आनेवाले हैं। ऐसे तीन लोक के नाथ आत्मा की शुद्ध पदवी का तो भान हुआ, परन्तु तीर्थंकरपने की प्रकृति के परमाणु बन्धन में (थे), उनकी योग्यता उस प्रकार की थी, उसके कारण जब यहाँ माता के गर्भ में आने से पहले इन्द्रों ने भगवान की माता का गर्भ साफ किया। रत्न की सन्दूक जैसा, उसमें भगवान आकर स्थित हुए। **इसलिए मरुदेवी**

माता के चरण इन्द्राणी और देवों द्वारा नमस्कृत हुए। लो! यह तो माता समकिती है। समझ में आया? उन्हें इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं। वजुभाई! किस गुणस्थान में हैं? समकिती है। परन्तु...

मुमुक्षु : भगवान... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भी समकिती हैं। यह तो अभी उनकी माता को वन्दन करते हैं, ऐसा मुझे तो यहाँ कहना है।

मरुदेवी माता के चरण इन्द्राणी और देवों द्वारा नमस्कृत हुए। अहो! माता! कहते हैं न कि स्त्री नरक की खान है। नरक की खान वह नहीं। तेरे परिणाम विपरीत तू करे तो तेरा भाव नरक की खान है। स्त्री तो यहाँ कहते हैं कि जिसके गर्भ में तीन लोक के नाथ परमात्मदशा उस भव में, उस देह से, वे परमाणु अन्तिम हैं अब संयोग में, उन परमाणुओं का वियोग होकर, अभाव होकर परमात्मदशा इस भव में प्रगट होगी, ऐसी चरम देह जो तीर्थंकर माता के गर्भ में आये। इन्द्राणी और देव उनके चरण को नमस्कार करते हैं। कहो, समझ में आया? किसका प्रताप है? यह पवित्रता प्रभु की प्रगट हुई है। वह तो निमित्तमात्र है। उनकी माता की भी ऐसी योग्यता है। माता की ऐसी (योग्यता)। दो सीप का मोती, वह पूर्णानन्द जिसे उस भव में होना हो, उनके माता-पिता भी मोक्षगामी ही होते हैं। भले माता एकाध भव करे परन्तु उसे अनन्त भव होवें तो या उस माता का जीव अभव्य हों, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। इन भगवान के कारण हो, ऐसा नहीं। ओहोहो! धन्नालालजी! भगवान के गर्भ में आते हैं, तो इस कारण से माता एकावतारी है या नहीं?

मुमुक्षु : अपने-अपने कारण से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं के कारण से है? यह कहते हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताकर, उसका आत्मा का ऐसा कोई तैयार हुआ। माता, स्त्री का हो तो उसके गर्भ में तीर्थंकर आये और उनके चरण इन्द्राणियाँ और देव आकर जिन्हें नमस्कृत करते हैं। नमस्कार हो! रत्नकूखधारिणी। रत्न को गर्भ में रखनेवाली माता! आपको हमारा नमस्कार! तीन लोक के नाथ चैतन्यमूर्ति क्षायिक समकित आदि ऋद्धि के धारक, उन्हें

तो हम नमस्कार करते हैं, परन्तु आपके गर्भ में आये, इसलिए आपको भी नमस्कार करते हैं। ऐसी उनकी माता की भी योग्यता है। कहो, समझ में आया? **इसलिए मरुदेवी माता के चरण इन्द्राणी और देवों द्वारा नमस्कृत हुए। और जितनी पुत्रवती स्त्रियाँ थीं, उन सबमें मरुदेवी का स्थान (पद) सबसे प्रथम था।** उनकी उत्कृष्टता बतायी। माता! धन्य है! धन्य माताएँ जगत में हैं। यह श्लोक नीचे लिखा है। भक्तामर में आता है न! बोलो श्लोक। है? इसमें नहीं? इसमें क्या है अधिक?

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा–
न्नान्या सतुं त्वदुपमें जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्कुरदंशुजालम्।।२२।।

यह लिखा कहाँ से? हरिभाई! ऊपर से? उसमें (भक्तामर में) आया, ठीक! क्या कहते हैं? जगत में दिशाएँ तो बहुत हैं। परन्तु सूर्य को जन्म तो पूर्व दिशा देती है।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा–
न्नान्या सतुं त्वदुपमें जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं

सभी दिशाओं को दिशा कहा जाता है, परन्तु हजार सूर्यकिरण जो खिलती है, वह तो पूर्व दिशा में ही होती है। वह पूर्व दिशा में होती है, दूसरी दिशाओं में नहीं होती। इसी प्रकार हजारों स्त्रियाँ पुत्र को जन्म देती हैं परन्तु माता! तुमने पुत्र को जन्म दिया, वह तू एक ही है। केवलचन्दभाई! यह क्या बात करते हैं?

देखो न! इन्द्र एकावतारी, एक भवतारी। इन्द्र शकेन्द्र है, उसकी इन्द्राणी है (दोनों) एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं। निश्चय से सर्वज्ञ ने कहा है। पति-पत्नी दोनों। इन्द्राणी तो आयी तब तो मिथ्यात्व लेकर आयी थी क्योंकि स्त्रियों में समकिती उत्पन्न नहीं होता और शकेन्द्र जो स्वयं है, वह तो आत्मभान लेकर अवतरित हुआ था और स्त्री की देह धारण हो, तो मिथ्यात्व हो तो ही होता है, तथापि उस इन्द्राणी की ऐसी योग्यता होती है कि भगवान आदि के निकट जाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है और उसे एक ही

भव इस देह का और अन्तिम मनुष्य का (होता है)। दोनों एक भवतारी होकर मोक्षगामी होते हैं। समझ में आया? यह देखो, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से माता और पिता भी ऐसे होते हैं। वे भगवान के कारण से नहीं। क्या होगा इसमें? नेमिदासभाई! भगवान के कारण से... आयी या नहीं?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। इसमें दूसरा लिखा है।

कहते हैं कि वह माता भी ऐसी आत्मा की जाति वाली होती है कि जिसे अल्प भव में पूर्ण मुक्ति, परमानन्द की सिद्ध समान उसकी दशा होनेवाली हो और पिता की भी सिद्ध की दशा होनेवाली हो। ऐसे ही माता-पिता के शीप में वह तीर्थंकर का जीव मोतीरूप पकता है। अन्यत्र वह हो नहीं सकता। ऐसा ही कोई सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना रहता है। लोगों को इसमें से (ऐसा लगता है कि) इससे यह हुआ, इससे यह हुआ, यह बात अन्दर से हटती नहीं। देखो न! हाथ-पैर सब हैं। यह हाथ-पैर यहाँ हैं और दूसरे को नहीं। वह नहीं उसे इच्छा होती है कि इसको ऐसा करूँ। परन्तु कुछ है नहीं, इसलिए होता नहीं। और यहाँ इच्छा होती है, इसलिए हाथ-पैर आदि हिलते हैं, ऐसा है नहीं। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या में ऐसा कहा जाता है कि इन भगवान के कारण से माता-पिता (हुए)। ऐसे अमृतचन्द्राचार्य के कारण से ऐसी टीका हुई और कुन्दकुन्दाचार्य के कारण से ऐसे शास्त्र लिखे गये।

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, भाई! इस जगत के जो पदार्थ हैं आत्मा, परमाणु, छहों द्रव्य, वे ज्ञेय होने के योग्य हैं। परन्तु यह भाषा उसे ज्ञेयरूप से समझ दे, ऐसी भाषा में ताकत नहीं है। और हम यह व्याख्या करनेवाले हैं, छह द्रव्य जगत की चीज़ें, वे प्रमेय होने के योग्य हैं, उसके कारण से परिणम रहे हैं। भाषा के पुद्गल भाषा के कारण से हो रहे हैं और हम व्याख्या और हम व्याख्याता, कहनेवाले, भाषा व्याख्या और जगत के पदार्थ व्याख्येय करनेयोग्य, ऐसा मानना नहीं। भाई! प्रवचनसार में अन्तिम श्लोक में कहा है न? अन्तिम। नहीं मानना, हों! हम तो आत्मा हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पहिचानना अलग बात है परन्तु निमित्त सम्बन्ध में चढ़ नहीं बैठना कि हमने टीका की।

वापस उसकी टीका की, लो, यह लिखा। देखो! उसके निमित्त से लिखा गया, उसका उपकार मानना चाहिए। उसमें लिखा है। समयसार में पीछे पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है। आये। बात वहाँ हुई वहाँ आये वापस कमरे में। लो, इसमें तो ऐसा कहा है। क्या कहा है इसमें? पहला सुना नहीं? शब्दों की रचना की परिणमन व्याख्या, वह भाषा की पर्याय है। व्याख्येय पदार्थ, वे उसके काल में ज्ञेयरूप से परिणम रहे हैं। मैं उनका व्याख्याता हूँ, यह तीन काल में मानना नहीं। ओहोहो! चन्दुभाई!

वहाँ तो ऐसा कहा है कि हे जनो! मोह में न नाचो। ऐसा मोह मिथ्याभ्रम करके और हम व्याख्या करनेवाले हैं और व्याख्या भाषा की तथा ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ भाषा द्वारा (ज्ञात हुए)। नहीं; वे तो ज्ञान में अपने ज्ञान के कारण से ज्ञेय भासित होते हैं। भाषा के कारण से, पर के कारण से और भाषा का परिणमन स्वतन्त्र होता है तो उसके कर्ता-हर्ता हम नहीं हैं। धन्नालालजी! क्या है? व्यवहार का लोप हो जाता है। इसका नाम ही व्यवहार यथार्थ ज्ञान में आता है। है? सर्वज्ञ की वाणी, वह तो विकल्प है नहीं। वाणी के कर्ता भगवान है ही नहीं और भगवान ने दुनिया को वाणी द्वारा समझाया और वाणी द्वारा दूसरे जगत को-ज्ञेय को समझे, यह वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कथन है।

यहाँ भी यह कहते हैं। हे भगवान! आप माता के गर्भ में आये। माता पूजनीक हो गयी। देव और इन्द्राणियों ने उनकी पूजा की और जितन पुत्रवती स्त्रियाँ थी, उन सबमें मरुदेवी उत्कृष्ट समझी गयी। एक पूर्व दिशा को शोभा प्राप्त हुई। उसने सूर्य को जन्म दिया। दिशाएँ तो दसों हैं ऊर्ध्व, अधो,... पश्चिम आदि। उत्तर दिशा, दक्षिण दिशा परन्तु उस पूर्व में ही उस दिशा की शोभा है। इसी प्रकार बहुत सी स्त्रियाँ पुत्र को जन्म देती है। माता! तूने जो तीर्थंकर को जन्म दिया, इससे तेरी शोभा उसके कारण है। यह निमित्त के कथन हैं। वे शोभा इतनी लेकर आये हैं। नेमीचन्दजी! समझ में आया? यह समझने की बात है। कोई कहता है कि दिल्ली में बहुत गड़बड़ है। बहुत गड़बड़ है। क्या करें? समझे स्वयं से, दूसरा क्या करे? किसी की गड़बड़ी कोई निकाल नहीं सकता।

यहाँ कहते हैं, उस पूर्व दिशा की शोभा सूर्य के कारण है। इसी प्रकार हे नाथ! हे देवी! माता! आपकी शोभा यह प्रभु आये और पधारे न, इनसे है। ओहो! यह तो

निमित्त-नैमित्तिक की (बात है)। प्रभु के कारण से उनकी शोभा और यह शोभा यहाँ है, इसलिए भगवान को आना पड़ा। ऐसा होगा या नहीं? चन्दुभाई! इनकी-माता की शोभा होनेवाली होगी, इसलिए भगवान को आना पड़ा। वजुभाई! क्या कहा? यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से भक्ति में शुभराग आया है न। उसमें भगवान निमित्त है। नैमर्िाक अपनी हुई विकारी शुभराग की पर्याय है। अन्तरस्वभाव में समीपता बरतने पर भी भगवान की भक्ति करता है, हे नाथ! बहुत जन्मते हैं, हों! ऐसा भी दुनिया में नहीं कहते?

जननी जन तो भक्त जण अरु या दाता या शूर
नहीं तो रहना बांझ किन्तु मत गंवाना नूर॥

कहा जाता है न? उसमें आता है, यह सब बोलते हैं। जननी जणे कौन? यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कथन है। हे माता! जननी जण तो भक्त जण। आत्मा के स्वभाव की भक्ति करनेवाले ऐसे आत्मा को जन्म देना और या दाता। दाता... दाता... दाता... उदाररूप से दूसरों को जगत को दानादि दे और अपने स्वभाव का अपने को दान दे या दाता अथवा शूर। शूरवीर, वीर को जन्म देना नहीं तो बाँझ रहना। इस शरीर का नूर गँवाना नहीं। ईश्वरचन्दजी! वहाँ किसी के कारण किसी का नूर घटता होगा? और किसी के कारण पृथ्वी के लिये उसके कारण उसकी शोभा होगी? भक्तजन, भगवान जहाँ जन्मे, उस माता को भी धन्य कहते हैं।

संसार में बहुत सी स्त्रियाँ पुत्रों को जन्म देनेवाली हैं। उसमें से मरुदेवी के चरणों में इन्द्राणी तथा देवों ने क्यों नमस्कार किया? और उनके ही चरणों की क्यों सेवा की? इसका कारण केवल यह ही है कि हे प्रभु! मरुदेवी माता के गर्भ में आकर आप विराजमान हुए थे, इसलिए उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और पुत्र को जन्म देनेवाली जितनी स्त्रियाँ थीं और हैं, उन सबमें उन्हें उत्तम समझा गया। धन्य माता! यह उस धर्म की धन्य के कारण यह तो सब (बातें की हैं)। धन्य... धन्य माता! आहाहा! जगत में पुत्र को जन्म दे, परन्तु तुमने जिस पुत्र को जन्म दिया, इस कारण से तुम्हें भी हम नमस्कार करते हैं।

नौवीं

गाथा ९

अब, भगवान के जन्माभिषेक की बात करते हैं–

अंकत्थे तइ दिट्ठे जंतेण सुरालयं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाण पडिवण्णं।।९।।

अर्थ – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! जिस समय इन्द्र आपको लेकर मेरुपर्वत को चला था, तब आपको गोद में बैठे हुए उसने देखा; उस समय उसके नेत्रों का निमेष (पलक) से रहितपना तथा बहुतपना सफल हुआ।

भावार्थ – हे प्रभो! इन्द्र के नेत्रों की अनिमेषता और अधिकता आपको देखने से ही सफल हुई थी। यदि इन्द्र आपके स्वरूप को न देखता तो उसके नेत्रों का पलकरहितपना और हजार नेत्रों का धारण करना सर्वथा निष्फल ही समझा जाता।

तात्पर्य यह है कि आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था।

गाथा – ९ पर प्रवचन

अंकत्थे तइ दिट्ठे जंतेण सुरालयं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाण पडिवण्णं।।९।।

भगवान के दर्शन से इन्द्र के हजार नेत्र सफल हुए। देखो! अब नेत्र आये। समझ में आया? वहाँ कहा था, पश्चात् यहाँ मरुदेवी आये, पश्चात् आये अब नेत्र। आहाहा! जन्म के बाद। प्रभु ऐसे जन्मे, वहाँ से उठाकर रखी है बात, ठेठ से। सर्वार्थसिद्धि में से लेकर आये हैं। प्रभु! आप जब जन्मे और इन्द्रों ने ऐसे हाथ में लिये। इन्द्राणी लेकर ऐसे देती है। और ऐसे हजार नेत्र से आपको देखा। प्रभु! उसके नेत्र सफल। उसने हजार नेत्र सफल किये।

हे जिनेन्द्र! जिस समय इन्द्र आपको लेकर मेरुपर्वत को चला था, तब

आपको गोद में बैठे हुए उसने देखा; उस समय उसके नेत्रों का निमेष (पलक) से रहितपना... ऐसे चमके न! उसकी आँख... कहते हैं न? समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! टनकाररहितपना अर्थात् देवों के नेत्र मुँदते नहीं। ऐसे (देखते हैं)। परन्तु प्रभु! उनके नेत्र मुँदते नहीं इसकी सफलता कब हुई? आपके रूप को जब ऐसे देखा... ओहोहो! तब उनके नेत्र की सफलता। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानरूपी नेत्र को हे नाथ! यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध है, यह नजर में पड़ने से आत्मा नजर में निधान देखा और प्रतीति में आया, तब उसके ज्ञाननेत्र सफल हुए। यह... नेत्र तब सफल कहलाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ऐसा है जरा। चन्दुभाई! कहो, समझ में आया?

यह निश्चय भक्तिसहित की व्यवहार भक्ति का वर्णन करते हैं। नेत्र, यह आँख क्या? इन्द्रियाँ क्या? खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, यह ज्ञान की विकास शक्ति जो नेत्र के स्थान में गिनने में आती है, उसकी सफलता कब गिनी जाती है? उस ज्ञान की दशा द्वारा भगवान चैतन्य जो निर्मल निधान परमात्मस्वरूप है, उसकी नजर में पड़ने से श्रद्धा-ज्ञान होने पर उस ज्ञान के नेत्र की सफलता कही जाती है। नहीं तो पढ़े-गुने की कुछ सफलता नहीं है। कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? नरभेरामभाई! वकालत-वकालत का कुछ नहीं मिलता, कहते हैं। धूल-धाणी। लड़के के लिये मजदूरी कर-करके मर जाता है।

मुमुक्षु : लड़के के लिये कौन करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करता। अपने लिये... करता है। यहाँ आया था न वह तुम्हारा? नटु को बहुत कहा था, हों!

आपको गोद में बैठे हुए उसने देखा; प्रभु उसके नेत्र सफल हैं। उसका शुभभाव भक्ति का उछला, वह व्यवहार से सफल और अन्तर में ज्ञान की पर्याय के नेत्र द्वारा चैतन्य प्रकाश पुंज ज्ञायक समस्वभावी चैतन्यसूर्य है, ऐसे सूर्य को आत्मा की ज्ञान की पर्याय ने जानते हुए वह ज्ञान थोड़ा हो तो भी सफल है। नौ पूर्व और ग्यारह अंग का

ज्ञान न हो, परन्तु अल्प ज्ञान भी यदि अपने स्वभाव को यदि जाने, माने और पहिचाने तो वह अल्प ज्ञान भी हजार नेत्र की तरह सफल है। इसके अतिरिक्त ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़े तो भी सफल नहीं है। यों देवों को वह नहीं होता? समझे न? पलक-पलक। पलक नहीं झपकती परन्तु कहते हैं, पलक नहीं झपकने की कीमत नहीं है। पलक नहीं झपकने की कीमत तो आपको देखा, उससे हुई है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

जहाँ-जहाँ भगवान सर्वज्ञ परमात्मा अथवा सर्वज्ञ ज्ञ-स्वभावी आत्मा को देखना-जानना और मानना, उसकी ही इस जगत में शोभा है। इस दुकान को बहुत देखे और देखे और इस मकान को और... इन्द्र वहाँ कहाँ थे? परन्तु इन्द्रियों का उसमें उपयोग करे, वकालात में, कोर्ट में अमुक, वह सब सफलपना कहलाता है या नहीं?

मुमुक्षु : काम तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आता है?

मुमुक्षु : भव के लिये सफलपना।

पूज्य गुरुदेवश्री : भव के लिये सफल, यह तो कहा है प्रवचनसार में। तेरी क्रिया सफल, बापू! किस प्रकार? कि जो कोई दुनिया के इन्द्रियज्ञान में और इन्द्रिय की ओर के झुकाव में जो तुझे पुण्य और पाप, दया, दान, विकल्प आदि उठा, (वह) तेरा सफल है, भाई! अर्थात्? अर्थात् अनादि काल से भव का फलपना जो पकता आ रहा है, वही भव तुझे पकेगा। चन्दुभाई! प्रवचनसार में कहा है। सफल-सफल है तेरा और धर्मात्मा की क्रिया अफल है। क्योंकि धर्मात्मा अपने ज्ञाननेत्र और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान को स्थिर (करता) है। (इसलिए) उसका अफल है। अनादि का भवफल फलता है, वह फलेगा नहीं। यह भव नहीं फलेगा। उसे परमात्मपद फलेगा। वह फला नहीं कहलाता। भव फले, उसे सफल कहा जाता है। अनादि का फला, वह फला कहलाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

हे प्रभो! इन्द्र के नेत्रों की अनिमेषता और अधिकता... यह बहुत आँख है न? **आपको देखने से ही सफल हुई थी। यदि इन्द्र आपके स्वरूप को न देखता तो उसके नेत्रों का पलकरहितपना और हजार नेत्रों का धारण करना सर्वथा निष्फल ही**

समझा जाता। निष्फल ही गिना जाता है। आहाहा! भगवान! आपके दर्शन हुए न, सफल (हुए)। ...जिनवर परमात्मा देखे, तब कहलाते हैं कि इसे ज्ञाता-दृष्टा की दृष्टि होकर देखे, तब इसने भगवान को देखा कहलाता है। ओहो! समझ में आया? यह भक्ति भी कैसी हो, उसका यहाँ वर्णन चलता है। सवेरे तो निश्चय की वस्तु, दृष्टि का विषय, शक्ति का सामर्थ्य वर्णन, उसके साथ यहाँ भक्तिवाले का शुभराग कैसा होता है, उसका वर्णन किया है। निश्चय तो साथ में पड़ा ही है। यदि निश्चयदृष्टि और यथार्थ भान न हो तो ऐसी भक्ति को गिनने में नहीं आता। उसे व्यवहार भी कहने में नहीं आता। कहो, समझ में आया?

तात्पर्य यह है कि हे जिनेन्द्र! आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था। ओहो! उनके पुण्य का क्या कहना? अनन्त काल में जो आत्मा की शुद्ध सत्ता और शुद्ध चैतन्यमूर्ति के भान बिना के जो पुण्य बँधे, वह कोई अपूर्व नहीं था। यह तो पुण्य भी अपूर्व। समझ में आया? श्रीमद् में एक पत्र में आता है। पूर्व में ऐसा देह न धरा हो तो अब फिर दूसरा अपूर्व देह धरूँगा। अपूर्व अर्थात् इस परमाणु की जाति ही दूसरी आयेगी। ओहो! क्योंकि अनन्त काल में जो चैतन्य के प्रकाश की सत् की प्रतीति बिना के पुण्य के परमाणु बँधे हुए, उनके निमित्तरूप जिन परमाणुओं का संयोग देह का आवे और चैतन्य के स्वभाव की भूमिका में जो पुण्य के परिणाम हों और उसमें जो परमाणु आवे, वह जाति ही दूसरी होती है। ओहो! समझ में आया? यह तो समझ में आये ऐसा है, हों! कुँवरजीभाई! जरा दोपहर को तो समझ में आये, (ऐसा है)। सूक्ष्म सवेरे (आता है), परन्तु मेहनत करना नहीं और सिरपच्ची करना है। घानी के बैल की भाँति सवेरे से शाम तक चल-चलकर चला। जहाँ पट्टी खोली, वहाँ वह घानी और वह घाँची। इसी प्रकार जिन्दगी में... किसी ने लिखा है न? कमाना नहीं और... कहाँ आया था शब्द? कहीं शब्द आया था। ...कमाना। ऐसा कुछ आया था। वाड़ीभाई के पत्र में कहीं आया था। ये तुम वास्तविक कमाते हो। नहीं? ऐसा कुछ आया था। शान्तिभाई पढ़ते हैं। शान्तिभाई हैं या नहीं? ऐई! शान्तिभाई! भटकता गया, देखो! अवसर नहीं होता यह। वजुभाई तो उन्हें बहुत कहे। अवसर नहीं होता। क्या आज कुछ कहते थे न वजुभाई, नहीं?

मुमुक्षु : सब स्वार्थ तो सुनने का करते हैं, निःस्वार्थ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वजुभाई... महाराज यह सब पढ़ेंगे। हम सुनेंगे। परन्तु सुनने में भी तुम कहाँ फुरसत से बैठते हो। तुम्हें तो इतनी फुरसत नहीं। जगत के प्राणी को सत् सुनने की निवृत्ति नहीं। सत्य वस्तु कौन है, सत्य धारा चैतन्य समझने की या समझाने की क्या है? यह समय नहीं मिलता, वह समय घाणी के घाँची जैसा मिलता है। पूरे दिन और रात कमाना... कमाना... कमाना... और कमाना। कमाना। एक पाई की कमायी नहीं होती उसमें और निवृत्त (होता नहीं)। प्रभु! जरा निवृत्त तो हो... निवृत्त तो हो...

वहाँ तो कहते हैं कि इस ज्ञान को प्राप्त करने की सफलता (तब कहलाये कि) आत्मा की अन्दर की दृष्टि हो और भगवान को देखे तथा व्यवहार में भगवान को देखे तो उसका सफलपना है। दूसरे प्रकार से सफलपना नहीं है। आत्मा समान रूपवान नहीं है। अर्थात्? पुण्य का रूपपना भी दूसरे प्रकार का होता है। इस जीव को शरीर, रूप, कीर्ति अनन्त काल में नहीं मिली, ऐसे शुभपरिणाम सत्ता की भूमिका के भान की सत्ता में हुए, ऐसे परिणाम की जाति भी पूर्व में नहीं हुई थी और उनके बन्धरूप परमाणु बँधे, ऐसे भी कभी नहीं थे और फलरूप परमाणु आवे, ऐसे भी संयोगरूप कभी नहीं आये। समझ में आया इसमें? ईश्वरचन्दजी!

इसमें भी कहा है भगवान को। प्रभु! यह जितने शान्तरस के परमाणु जगत में थे, वे आपके शरीर में आये। अब एक भी बाकी रहा नहीं। आपकी शान्ति उपशमरस अविकारी स्वभाव आपको पूर्ण प्रगट हुआ। उसके जो यह डिब्बी-शरीर। बड़ा हीरा पाँच करोड़ का हो, उसे रखने का स्थान अर्थात् डिब्बी भी अलग प्रकार की होती है। उसी प्रकार भगवान चैतन्यरत्न जिसमें-देह में सर्वज्ञ पद को प्राप्त करनेवाले हैं और वे भी वापस तीर्थंकर... समझ में आया? उस शरीर की डिब्बी भी अलग प्रकार की। उसका रूप इन्द्र हजार आँख से देखे तो तृप्ति न हो। इसी प्रकार प्रभु! तेरा चैतन्यरूप इस ज्ञान से बारम्बार देखे तो भी तृप्ति होगी नहीं। स्थिर... स्थिर... स्थिर होकर पूर्ण कब प्राप्त करूँ? पूर्ण कब प्राप्त करूँ? ऐसे चैतन्यनिधान, उसे श्रद्धा-ज्ञान से देख तो तेरे चैतन्य के चमत्कार की अनन्तता का पार नहीं आयेगा, तथापि श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता में वह आ जाता है। कहो, समझ में आया?

गोद में यह बात क्या करते हैं ? यहाँ से ले जाते हुए गोद की बात है, हों ! भगवान को जब यहाँ से ले जाते हैं न, तब इन्द्र की गोद में बैठाते हैं और जब पाण्डुकशिला पर पधराते हैं, तब तो भगवान को ऐसे सीधे बैठाते हैं। पाण्डुकशिला पर सीधा बैठाते हैं। शिला पर बैठाते हैं, वहाँ भी लिखा है... शकेन्द्र गोद में बैठाते हैं। वह कोई सिद्ध भगवान और मानों यहाँ... सिद्ध को शरीर तो न हो परन्तु यह उनका शरीर ही कोई अलग प्रकार का।

सर्वोत्कृष्ट परमाणु की पर्याय सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकरगोत्र का भाव हुआ, उस पुण्य का क्या कहना ! अचिन्त्य जिसका पुण्य है। प्रभु ! आपके रूप को देखा, तब इन्द्र के नेत्र सफल हुए। नहीं तो उसके नेत्र सफल नहीं होते। इसलिए दोनों प्रकार से उसकी... है। कहो, नरभेरामभाई ! समझ में आया इसमें ? ऐसे लड़के को देखे, ऐसा नहीं। यह लड़का अच्छा है और यह है और यह... ओहोहो ! ...पका है न। अब पका। धूल पकी है वहाँ। ऐई ! प्रेमचन्दभाई !

दसवीं।

गाथा १०

अब, मेरुपर्वत पर भगवान का जन्माभिषेक हुआ, उसका अलंकार करके स्तुतिकार कहते हैं कि–

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया।।१०।।

अर्थ – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपको जन्म–स्नान मेरु के ऊपर हुआ था, उस समय उस स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ था, अर्थात् तीर्थ बना था; इसीलिए हे जिनेन्द्र! उस मेरुपर्वत की सूर्य, चन्द्रमा आदि सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भावार्थ – आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! जब तक मेरुपर्वत के ऊपर

आपका जन्म-स्नान नहीं हुआ था, तब तक वह मेरुपर्वत, सामान्य पर्वतों के समान था और तीर्थ भी नहीं था, किन्तु जिस समय से आपका जन्म-स्नान, मेरु के ऊपर हुआ है; उस समय से उस आपके जन्म-स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरुपर्वत तीर्थ, अर्थात् पवित्र स्थान हो गया है।

यह बात संसार में प्रत्यक्ष गोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है, उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं; इसीलिए उस मेरु को पवित्र मानकर सूर्य, चन्द्रमा आदि रात-दिन उस मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं-ऐसा मालूम होता है।

गाथा - १० पर प्रवचन

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया।।१०।।

सर्वार्थसिद्धि में पहले लिये नजर में। फिर मरुदेवी माता, नाभिराजा के घर में जन्मे, इसलिए पृथ्वी को वसुमति कहा, पश्चात् माता को धन्य कहा, और पश्चात् नेत्र को धन्य कहा। अब भगवान को मेरुपर्वत पर ले जाते हैं, उसे लक्ष्यकर भक्ति करते हैं। ओहोहो! क्या परन्तु आचार्य! जंगल में रहकर निर्लेपदशा श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र की प्रगट हुई है, तथापि विकल्प आया है न (तो) ऐसे भक्ति के सूत्र ताड़पत्रों पर लिख गये हैं। हम उनके कर्ता नहीं और हम उनके भोक्ता नहीं। उसका फल हमको न हो। हमारा तो हमारे पास है। उनका फल हमें वेदन में ज्ञान-दर्शन और चारित्र के कर्ता के काल में ही उसका वेदन हमको भोक्तापने है। उसके फल को भविष्य में भोगेंगे, ऐसा है नहीं।

हे प्रभो! हे जिनेश्वर! जिस समय आपका जन्म-स्नान मेरु के ऊपर हुआ था,... जन्म अभिषेक। हजारों घड़े भगवान को ऐसे... इन्द्र, हों! एकावतारी ऐसे। बराबर ऐसे कमर बाँधकर खड़े हों। फट-फट ऐसे रोम-रोम में उसे भक्ति उछली है भगवान के के प्रति। आत्मा में भी आनन्द का प्रहलाद श्रद्धा और ज्ञान होने पर प्रदेश-प्रदेश में आत्मा को प्रहलाद हो जाता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म कहने में

आता है। आहाहा! समझ में आया? असंख्यप्रदेशी धाम प्रभु में एकाग्र होने पर अन्तर की शक्ति की व्यक्तता से असंख्य प्रदेश पर्याय में व्यापक आनन्द को पाते हैं। प्रसादपने, अह्लादपने को पाते हैं, उसमें कोई प्रदेश बाकी नहीं रहता। ऐसा भगवान आत्मा ने अपने में एकाग्र होकर अपना जन्माभिषेक किया। जन्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, चारित्र को जन्म दिया, वह अवतार सफल है।

यहाँ कहते हैं कि **जब आपका जन्माभिषेक हुआ, उस समय उस स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ था,...** क्या कहा? भगवान! वह मेरु तीर्थ हो गया। धर्मात्मा सर्वज्ञ आदि, मुनि आदि जहाँ विराजमान हों, उस क्षेत्र को तीर्थ कहते हैं। निमित्तरूप से तीर्थ कहते हैं। तीर्थ तो तिरने का उपाय अन्दर प्रगट हुआ, इसलिए स्वयं तीर्थ है। भगवान तो उसके निमित्तरूप से कहनेवाले हैं। परन्तु जिस क्षेत्र में धर्मात्मा विराजते हैं, उस क्षेत्र को भी तीर्थ कहा जाता है। ओहो! भगवान! आपको मेरुपर्वत पर ले गये। परन्तु वह तो चौथे गुणस्थान में थे, छठवें गुणस्थान में नहीं थे। वहाँ मेरुपर्वत तीर्थपने को प्राप्त हुआ? समझ में आया? मुनि होंगे, तब मेरुपर्वत में ले जाए। परन्तु कहते हैं कि यह चैतन्यरत्न की भान की दशा प्रगट हुई और यह पूर्व के महापुण्य के कारण यह दशा शरीर की (हुई), ऐसे शरीर के कारण इन्द्र जब मेरुपर्वत पर ले गये, वहाँ जो जन्माभिषेक हुआ, तब मेरु को तीर्थपना प्राप्त हुआ।

इसीलिए सूर्य, चन्द्रमा आदि... समझ में आया? **आदि मेरुपर्वत की सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।** लो, ऐसे चक्कर लगाते हैं। क्या कहते हैं? उनके लक्ष्य में जहाँ भगवान विराजे न, इसलिए यह मेरुपर्वत तीर्थरूप हो गया, इसलिए यह सूर्य-चन्द्र है न, वे घूमा ही करते हैं। प्रकृति के जो चन्द्र, सूर्य ज्योतिषी मेरु को चक्कर लगाते हैं, यह तो अनादि की पद्धति है। यह कहीं नयी नहीं है परन्तु प्रभु! जब आपको वहाँ ले गये न, इसलिए उस मेरुपर्वत को तीर्थपने की उपमा दी। उसके कारण ज्योतिषी वहाँ (चक्कर लगाते हैं)। तीर्थ को प्रदक्षिणा करते हैं या नहीं? इस भगवान को प्रदक्षिणा दे अन्दर में। यह सब व्यवहार है, हों! व्यवहार है। प्रसन्न-प्रसन्न (होकर) देखे। वह विवाह हो तब लड़के को नहीं कहते? यह गाते नहीं तुम्हारे शोभायात्रा में चढ़े तब? अमुक विवाह करे, उसका दादा ऐसे देखे और उसका भाई ऐसे देखे। क्या कुछ कहते

हैं या नहीं ? ऐई ! कुँवरजीभाई ! उसकी ओर देखे और उसकी ओर देखे। ऐसा कुछ गाते हैं। ऐई ! चन्दुभाई ! भाई का काका...

मुमुक्षु : उसे सब खबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने तो सब... की है न। इसे खबर नहीं। अभी नटु का विवाह हुआ है। वह गाये, महिलाएँ गाये, फुरसत होवे न तो गाये सवेरे उठकर। भाई का काका इसकी ओर देखे और उसकी ओर देखे। उसको मलावे आहाहा ! धूल में भी देखने आवे। वहाँ क्या मुर्दा चमड़ी का... है वह।

भगवान त्रिलोकनाथ चैतन्यमूर्ति जहाँ आगे आया और जहाँ जन्माभिषेक हुआ, वहाँ कहते हैं कि देव चारों ओर प्रदक्षिणा देते हैं। ओहोहो ! भगवान यहाँ बैठे थे, भगवान यहाँ बैठे थे। दूसरे में नहीं आता ? कि अमुक सहजानन्द महाराज यहाँ बैठे थे, यहाँ खाते थे, यहाँ धोते थे, इस घोड़ी पर चढ़े थे, उनके सिर पर पगड़ी। आता है या नहीं ? केवलचन्दभाई !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। पगड़ी है न। अमुक ऐसा और अमुक ऐसा।

यह तो एक चीज़ क्या है ? वह समझने जैसी है परन्तु उसे स्मरण करने के सब निमित्त हैं। जिनके स्मरण में भगवान ही वर्तते हैं और चैतन्यस्वभाव ही जिसकी दृष्टि के समीप में वर्तते हैं, उसे तो मेरुपर्वत (पर) भगवान विराजते हैं, इसलिए यह भी भगवान के कारण से तीर्थपने को प्राप्त हुआ। नहीं तो वह पत्थर है, वह तीर्थपने को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार ऐसा कहकर भगवान की ही महिमा गायी है। कहो, समझ में आया ? प्रदक्षिणा करते हैं। **आचार्य उत्प्रेक्षा अलंकार करके कहते हैं...** है सत्य बोलनेवाले परन्तु महिमा करते हैं तब... इसलिए दुनिया में नहीं कहते ? यह विवाह करे तब ऐसा कहते हैं या नहीं ? मोती... क्या कहते हैं ? थाल भर्यो रे सग मोतिये। हराम एक मोती होवे घर में। परन्तु यह वाघरी और कोली यदि विवाह करे न तो यह गाते हैं। थाल भर्यो रे सग मोतिये रे। ऐसा गाते हैं न ? ऐसा बखान करते हैं। वे लेने जाए न क्या कहलाता है ? बर्तन। कुम्हार के यहाँ।

मुमुक्षु : चाक पूजने।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाक। परन्तु ऐसा गाये परन्तु वह मिथ्या बोल क्या बोलते हो, इसकी उसे खबर नहीं। उस पुत्र के प्रेम के समक्ष दूसरा सूझता नहीं।

इसी प्रकार जिसे भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप की जिसे श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं और ऐसे पूर्ण पद को पानेवाला जिसे अन्तिम शरीर मिला, ऐसे भगवान के गीत वह सर्वोत्कृष्टरूप से गाता है। वह थाल भरा सच्चा उसका कहते हैं। सवेरे उगा क्या कुछ कहते हैं न? यह सूर्य। स्वर्ण सम सूर्य उगा। अब सूरज तो है वह है। परन्तु अपने प्रीति के पुत्र के आह्लाद में अन्तिम हो, पहला हो, बापू! साठ वर्ष में यह अन्तिम पुत्र है। विवाह में जो हो वह, अति उमंग / उत्साह यह है। उसकी माँ गाठिया खाया हो, दाल खायी फिर कण्ठ बैठ जाए। दूसरे कहें, परन्तु अब थोड़ा बोलो न! किन्तु बोले बिना चलता है कुछ? उस कण्ठ में फेरफार होवे तो भी शोर मचाया करती है। घूमा करती है मण्डप के नीचे और जहाँ उसके लड़के... समझ में आया? उसके मेहमान उतरे हों, घूमा-घूम करे चारों ओर ऐसे... ऐसे... हर्ष समाये नहीं। धूल में भी हर्ष नहीं है। पाप का है।

यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा को देखकर अथवा सर्वज्ञ जिस देह में होनेवाले हैं, ऐसे भगवान को देखकर प्रभु! यह आपकी प्रदक्षिणा देव करते हैं, हों! वह तीर्थपने को आपके कारण प्राप्त हुआ, कहते हैं। समझ में आया? **जब तक मेरुपर्वत के ऊपर आपका जन्म-स्नान नहीं हुआ था, तब तक वह मेरुपर्वत, सामान्य पर्वतों के समान था...** यह नया नहीं, हों! है तो अनादि का परन्तु उसे ऐसे नयी आदि (शुरुआत) हुई है न स्वयं को। धर्म की आदि होकर प्रदक्षिणा देने लगा अब आत्मा पर। बारम्बार आत्मा, बारम्बार चैतन्यमूर्ति निधान मैं शुद्ध हूँ। ऐसी श्रद्धा और ज्ञान में आश्रय वह है, इसलिए कहते हैं कि प्रभु! यह मेरुपर्वत तो सामान्य पर्वत में गिना जाता था, हों! आप नहीं थे तब। परन्तु यह तो अनादि के भगवान (होते हैं)। पहले होंगे या नहीं कभी भगवान? नेमिदासभाई! पहले भगवान थे? पहले कभी हों नहीं। अनादि के हैं। यह तो इस चौबीसी की अपेक्षा से आदिश्वर भगवान को पहले गिनकर उनकी स्तुति में स्वयं अनादि साधक जीव तो अनादि के हैं। धर्म को प्राप्त, धर्म को प्राप्त करके सर्वज्ञ पद प्राप्त और संसार की पूर्ण निगोददशा को प्राप्त जीव अनादि के हैं।

परन्तु जब साधक को भान आँख खुली, अरे! हम राग नहीं, हों! हम पुण्य नहीं, यह देह की क्रिया हम नहीं। हम तो चैतन्यस्वभाव हैं। तब कहते हैं कि आदि हुई। यह तब से हमारी शोभा है। यह मेरुपर्वत तो सामान्य गिना जाता था परन्तु प्रभु! आपकी प्रदक्षिणा जब जन्माभिषेक में हुई, तब उस जन्म स्थान में जल के सम्बन्ध से मेरुपर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान बन गया है और यह बात संसार में प्रत्यक्ष गोचर है कि जो वस्तु पवित्र हो, उसकी लोग भक्ति तथा प्रदक्षिणा इत्यादि करते हैं। पश्चात् निक्षेप से भगवान की मूर्ति स्थापित करते हैं। भावनिक्षेप स्वयं का भाव है या नहीं? समझ में आया?

वास्तव में भगवान की मूर्ति की पूजा का विकल्प, विषय यह निश्चय से सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है, तब नये विषय करनेवाला है, तब यह स्थापनानिक्षेप उसका विषय होता है। समझ में आया? जब आत्मा चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भावश्रुतज्ञान हुआ, तब उसमें दो पहलू पड़ गये—निश्चय और व्यवहारनय के। तब उस नय का विषय होता है तो निश्चयनय का विषय चौथे में। विकल्प उठा, तब विषय पर हुआ। तब निक्षेप... यह भगवान है। ऐसा व्यवहार से निक्षेप है। वह वास्तविक निक्षेप का लक्ष्य और विषय करनेवाले ज्ञानी का ही विकल्प होता है अथवा ज्ञानी का ही ज्ञान होता है। अज्ञानी को वह व्यवहार निक्षेप लागू नहीं पड़ता। कहो, चन्दुभाई! ओहोहो!

यहाँ यह कहते हैं कि **तब से यह बात संसार में भी कहते हैं कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है, उसकी लोग प्रदक्षिणा देते हैं; रात-दिन उस मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं...** कौन? इस मेरु को पवित्र समझकर रात-दिन करते हैं। **ऐसा मालूम होता है।**

ग्यारह।

गाथा ११

मेरुसिरे पडणुच्छलिय णीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं।।११।।

अर्थ – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! मेरुपर्वत के मस्तक पर आपका स्नान होने पर पतन 'गिरने' से उछलते हुए जल के ताड़न से अत्यन्त नष्ट उन देवों की ऐसी दशा हुई, मानों चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो।

गाथा – ११ पर प्रवचन

मेरुसिरे पडणुच्छलिय णीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं।।११।।

मुनि छठवें गुणस्थान में भावलिंगी सन्त अमृत की डकार क्षण में और पल में आती है। अप्रमत्तदशा क्षण में आती है, दूसरे क्षण में विकल्प उठता है जरा भक्ति का। यह भक्ति लिखते-लिखते सप्तम गुणस्थान अनेक बार आता है। समझ में आया? यह चारित्रदशा, यह मुनिदशा, यह गुरुदशा, यह केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले कैसे होते हैं, कहते हैं कि उन्हें अप्रमत्त तो ऐसे क्षण में आता है। फिर क्षण में प्रमत्त पंच महाव्रत अहिंसा आदि का भक्ति का विकल्प उठता है, उन्हें भी ऐसी भक्ति उठती है। भक्ति का भाव (आवे), ऐसी वस्तु की सहज मर्यादा है। वैसा भाव मुनि को भी आये बिना नहीं रहता। यहाँ तो पहले से कहे, नहीं। यह नहीं। मूर्ति नहीं, पूजा नहीं, अमुक नहीं, अमुक नहीं। तुझे नहीं प्रगट हुआ सम्यग्ज्ञान, नहीं प्रगट हुआ नयभाग, और नहीं निक्षेप विषय किसका कौन करे, इसकी तुझे खबर नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं **हे प्रभो! मेरुपर्वत के मस्तक पर आपका स्नान होने पर...** अब वहाँ आलोचना करे। लो, इन्द्रों ने ऐसा पानी बहाया, अमुक किया, अमुक किया। सुन न, भाई! उसका भाव क्या है? समझ में आया? उनका भाव ऐसे... आहाहा! ....पुतला नहीं करते? पश्चात् उसे स्नान नहीं कराते? परन्तु यह धनतेरस को कुछ करते तो होंगे

या नहीं? क्या कुछ करते हैं। रुपये धोवे और ऐसा कुछ करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : धन को साफ करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुँवरजीभाई! यह धनतेरस आती है न? तो क्या करते होंगे या नहीं कुछ? यह बहियाँ तो पूजते हैं न, लो न! शारदा... शारदा...। अमावस्या के दिन ऐसे। आहाहा! पैसा प्रिय और कमाना और मानो ढ़ेर हो।

मुमुक्षु : लिखते हैं न शालिभद्र की ऋद्धि होओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : शालिभद्र की ऋद्धि होओ और बाहुबली का बल होओ। किसके साथ लड़ना है तुझे? क्या है? और शालिभद्र की ऋद्धि होओ। यह ९९, यह ९९ पेटी डालेगा कहाँ? बड़ी पेटी ९९। ऐसे तो मूढ़ जीव, जिनके पुण्य का ठिकाना नहीं होता। पुण्य की श्रद्धा नहीं होती और मानो यह बहियाँ सदा पूजूँ, इसलिए यह मुझे मिले। यह शारदा नहीं।

स्वरूप केवलज्ञान की लक्ष्मी को प्राप्त ऐसे परमात्मा... आता है न? अनेकान्तमयी मूर्ति-नहीं आता? दूसरे श्लोक में समयसार में आता है। अनेकान्तमय मूर्ति। सरस्वती तो वह है। सम्यक्श्रुतज्ञान। भगवान केवलज्ञान, सम्यक् (श्रुतज्ञान) और भगवान की मूर्ति व्यवहार से पूजनीय गिनने में आते हैं। ऐसा अनादि का स्वरूप सनातन चला आता है। वह कहीं नयी बात नहीं है। नरभेरामभाई! कहाँ गये जगजीवनभाई! कहो, समझ में आया इसमें?

हे भगवान! **आपका स्नान होने पर पतन (गिरने) से उछलते हुए जल...** भगवान को ऐसे स्नान करावे न? तो पानी का प्रपात गिरे न? तो ऐसे उछलता है। पानी उछलता है। पानी उछले, प्रपात उछले। ओहोहो! **इसके कारण से पतन (गिरने) से उछलते हुए जल के ताड़न से... ऐसी दशा हुई,...** देव तो लाखों-करोड़ों देव आते हैं। देवों को वह पानी लगे तो देव पसर जाते हैं। पृथक्-पृथक् आकाश में पूरे व्याप्त हो जाते हैं। कहते हैं कि इन देवों की ऐसी दशा हो गयी। **मानों चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो अथवा उस धोधमार पानी की मार से बचने के लिये मानों कि देवों ने आकाश का आश्रय लिया हो, ऐसे आकाश देवो द्वारा आच्छादित हो गया है।** लो, यह... डाला। आहाहा!

पद्मनन्दि में आया है। पहले में। यह अधिकार ऋषभदेव का। पहले में आया है न? भगवान! जब आपका जन्माभिषेक हुआ, इन्द्र ऐसे हाथ फैला करके आपकी भक्ति करते थे, वहाँ के बादलों का ठोस भाग था, वह बादल टूट गये। वे यह बादल टुकड़े पड़े हुए दिखते हैं। समझ में आया? क्षणभंगुर बादल। वे क्षणभंगुर अर्थात् टुकड़े हो गये। आहाहा! क्या कहते हैं यह? इन्द्र प्रभु की भक्ति करते हुए हाथ लम्बे हुए और वे बादल टूट गये और उसमें का यह थोड़ा टुकड़ा दिखता है।

इसी प्रकार धर्मात्मा भक्ति करते हुए जब ऐसा उछाला आता है कि चैतन्य प्रभु ज्ञायक और आनन्द का कन्द है, ऐसा जब दृष्टि का विकास हुआ, उस बादल की जो आड़ थी न अनादि की? टुकड़े हो गये। थोड़ा-थोड़ा भाग जरा टुकड़ा रह गया जरा। वह ज्ञान जानता है कि यह टुकड़ा है। यह अभी टूटकर समाप्त हो जाएगा। समझ में आया? ओहो! भारी भक्ति भाई!

आकाश ही व्याप्त हो गया हो। ऐसा। पानी उछला न! इसी प्रकार चैतन्यस्वभाव की धारा उछली। ऐसे बाहर में जन्माभिषेक का पानी उछला, इसलिए देवों को ऐसा ताड़न हुआ न... अन्तर में चैतन्य की ज्ञानधारा, सम्यक्धारा श्रद्धा-ज्ञान द्वारा उछले, (उसमें) कोई कारण-फारण राग और निमित्त का है नहीं। ऐसी धारा उछलने पर ऐसा सब छा गया। ज्ञान छा गया। सबको जानना-देखना रह गया। जानना-देखना छा गया। कोई भी चीज़ हो, उसे ज्ञान जानता-देखता है। ऐसी प्रभु आपकी भक्ति और हमारी भक्ति आत्मा की, दोनों होने पर, ऐसे देव वहाँ छा जाते हैं, यहाँ आत्मा सबको जान लेता है। उसे जानने का कुछ बाकी नहीं रहता। कहो, नरभेरामभाई! समझ में आया यह? यह दान का अधिकार नहीं, यह भक्ति का है। कहो, समझ में आया?

-पानी की मार से बचने के लिये मानों कि देवों ने आकाश का अत्यन्त आश्रय लिया हो। भगवान की भक्ति के शुभभाव में भी पाप का दल छूट जाता है। भगवान की भक्ति के शुभभाव में भी पाप के दल की स्थिति, रस घट जाता है और स्वभाव की चैतन्य भगवान देव की स्तुति-भक्ति की एकाग्रता में पुण्य-पाप की दोनों स्थिति, पाप की घटे, पुण्य की घटे रस, (अनुभाग) पाप का घटे, पुण्य का बढ़े। समझ में आया? यह घटाना-बटाना यह तो व्यवहार की बात है, हों! उसकी योग्यता है

इसलिए वहाँ घटने की योग्यता हो। सबने यह विवाद लिया है न? संक्रमण हो, अपकर्षण हो, उसमें क्रमबद्ध कहाँ रहा? शास्त्र में तो ऐसा कहा है कि ऐसे भाव हों, तब कर्म ऐसे पलट जाता है; ऐसे भाव हों, तब स्थिति घट जाती है; ऐसे भाव हों, तब स्थिति बढ़ जाती है। अरे! भगवान! सुन तो सही! यह सब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कथन हैं। उस समय स्थिति घटने के योग्य ही परमाणु के क्रम में होता है। बापू! पदार्थ की व्यवस्था और पदार्थ की जो मर्यादा है, वह ख्याल में न आवे तो एक भी पदार्थ तुझे श्रद्धा में सच्चा नहीं आता। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि जो देवों की इतनी अधिक वहाँ भीड़ की कि पानी के प्रपात पड़ने पर जो पानी उछला, (उससे) आकाश व्याप्त हो गया। इतने तो देव आपकी भक्ति में आये थे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ साधारण मनुष्य को तो... यह समय मिलता नहीं, भाई! समय नहीं मिलता। दुकान और ऐसे जाना हो कहीं अन्यत्र, तब सब समय मिलता है। उगाही करने जाना हो तो (समय) मिलता है, गाँव में वकालत करने जाना हो तो मिलता है, भगवान गाँव में विराजमान हों (तो) दर्शन करने का समय नहीं मिलता! क्योंकि वह तो पुण्य है और भगवान तो जड़ है, वहाँ कहाँ... कहो, समझ में आया? चन्दुभाई!

अरे! भाई! तुझे चैतन्य की महिमा आयी हो तो भगवान में भी तू 'प्रभु है', ऐसा व्यवहार से यह तुझे भासित हुए बिना नहीं रहेगा। 'जिनप्रतिमा जिनसारखी...' 'जिनप्रतिमा जिनसारखी...' भगवान के समीप में मानो जाता हूँ, ऐसा प्रहलाद और भक्ति आये बिना नहीं रहेंगे। यहाँ तो आचार्य महाराज स्वयं की भक्ति स्व की ओर भगवान की भक्ति दोनों साथ में वर्णन कर रहे हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल १, मंगलवार, दिनांक - २३-१-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - १२ से १५, प्रवचन-५

इस पद्मनन्दि पंचविंशति में ऋषभदेव भगवान का स्तोत्र है। उसकी यह व्याख्या चलती है। सवेरे आत्मद्रव्य में शक्तियों की भक्ति की व्याख्या चलती है। अर्थात्? इस आत्मतत्त्व में जो सामर्थ्य और ताकत है, ऐसी ताकत का धारक आत्मा की भक्ति अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान करना, उसे आत्मा की शक्ति की भक्ति कही जाती है।

अभी व्यवहार के लक्ष्य से ऋषभदेव भगवान परमात्मा की भक्ति, शक्तिवान की भक्ति की दृष्टि की भूमिका में ऋषभदेव भगवान की भक्ति कैसी होती है, यह मुनिराज स्वयं वर्णन कर रहे हैं। कहो, नरभेरामभाई! यह मुनि भी भक्ति-पूजा करते हैं, हों! समझ में आया? जंगल में दिगम्बर मुनि थे। छठवें गुणस्थान में, स्वयं छठवीं-सातवीं गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले, उन्हें भगवान परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आने पर यह स्तोत्र स्वयं रच गया है। उसमें यहाँ ग्यारह गाथा चली। ग्यारहवीं आयी न?

क्या कहा ग्यारहवीं में? हे परमात्मा! आपका जब मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक हुआ, तब पानी इतना अधिक था कि पानी का प्रपात पड़ा और पानी उछला, उसके कारण देव आकाश में व्याप्त हो गये।

इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने ज्ञानजलस्वरूप में एकाग्र होने पर इतनी ज्ञान की दशा प्रगट होती है कि वह लोकालोक को अथवा श्रुतज्ञान के प्रमाण में उसे परोक्ष जो जानने का है, वह सब ज्ञात हो जाता है। कहो, केवलचन्दभाई! देखो! यह भक्ति चलती है।

अब बारहवीं गाथा।

गाथा १२

अब, बादल में भी अलंकार करके स्तुति करते हैं।

णाह तुम जम्म ण्हाणे हरिणो मेरुम्मि पणच्चमाणस्स।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तह अज्जवि भंगुरा मेहा।।१२।।

अर्थ – हे प्रभो! आपके जन्म–स्नान के समय जिस समय अपनी लम्बी भुजाओं को फैलाकर इन्द्र ने नृत्य किया था, उन लम्बी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं।

भावार्थ – ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं, उनकी क्षणभंगुरता का यही कारण है कि जिस समय भगवान का जन्म–स्नान मेरुपर्वत पर हुआ था, उस समय उस मेरुपर्वत के ऊपर आनन्द में आकर अपनी भुजाओं को फैलाकर इन्द्र ने भगवान के सामने नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओं से मेघ भग्न हुए थे; इसी कारण अब भी मेघों में भंगुरता है, उनकी भंगुरता का दूसरा कोई भी कारण नहीं है।

गाथा – १२ पर प्रवचन

णाह तुम जम्मण्हाणे हरिणो मेरुम्मि पणच्चमाणस्स।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तह अज्जवि भंगुरा मेहा।।१२।।

आहाहा! हे प्रभु! ...ऋषभदेव भगवान तो बहुत कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अन्तराल में हो गये हैं, परन्तु समीप में वर्तते हों, ऐसे भक्ति करते हैं। दुनिया में राग होता है। पति परदेश में हो और पत्नी देश में हो तो नहीं कहते कि मेरा जीव वहाँ लगा है? देह— हड्डियाँ यहाँ पड़ी परन्तु जीव तो वहाँ लगा है। केवलचन्दभाई! ऐसा कहा जाता है या नहीं? पत्र में लिखते हैं। बहुत राग होवे न, (इसलिए) पत्र में लिखते हैं कि देह भिन्न परन्तु मेरा जीव तो वहाँ लगा है। इसी प्रकार आत्मा एक समय में शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति, ऐसी जिसे विकार और संयोग के निमित्त से रुचि हटकर आत्मा के प्रति प्रेम जागृत

हुआ है, रुचि जगी है, दृष्टि-श्रद्धा जगी है, उसे परमात्मा के विरह में भी मानो परमात्मा नजदीक है, समीप है, इस प्रकार उनकी भक्ति कर रहे हैं। कहो, समझ में आया?

लोग ऐसा कहे वापस यह और क्या? एक ओर निश्चयवस्तु ऐसी... नेमिदासभाई! और यह मन्दिर और यह पूजा और लाखों रुपये का खर्चा! मुम्बई में तो बड़ा चार लाख का तो मन्दिर (बनाया है) और दो लाख सत्तानवें हजार की आमदनी, एक लाख नब्बे हजार का खर्च। यह बड़ी धूमधाम हाथी और यह... ओहोहो! सौ वर्ष में (ऐसा हुआ नहीं)। यह क्या है? कितने ही तर्क करते हैं, ऐई! नरभेदासभाई! तर्क करे, परन्तु उसे भान नहीं कि संसार में भी जहाँ जिसे प्रेम और प्रीति है, वहाँ उछालता है। पुत्र के विवाह के समय नहीं उछालता। समझ में आया?

मुमुक्षु : दिल्ली तक गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दिल्ली तक गये। यह और ठीक याद आया। दिल्ली बारात लेकर गये। कभी देखा नहीं था दिल्ली। वहाँ दिल्ली विवाह करने गये।

मुमुक्षु : हाँ, परन्तु ले गये थे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भाई वह कहीं स्वयं गये बिना, वह कहीं ऐसे नजरें मिलाने देखे बिना कुछ सन्तोष होगा? स्वयं वहाँ जाना चाहिए न।

यहाँ कहते हैं कि यह जाति चैतन्य प्रभु, ओहो! परमानन्द की शुद्ध चैतन्यमूर्ति ऐसे निर्विकार परमात्मा, वैसा आत्मा, उसकी प्रतीति और श्रद्धा हुई, उसे निर्विकारी परमात्मा जिसे पूर्ण दशा प्रगट हुई उसके प्रति भक्ति और प्रेम और राग आये बिना नहीं रहता तथा उस प्रकार का राग न आवे और ऐसा कहे कि हमें भगवान के प्रति राग नहीं आता, वह मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे नहीं है आत्मा के साधकस्वभाव का भान और साधक में भक्ति का प्रेम कैसा होता है, इसकी भी उसे खबर नहीं है।

यहाँ आचार्य महाराज बात अपने हृदय की भी कर रहे हैं और ऐसे भक्ति को भी मिला रहे हैं। **हे प्रभो! आपके जन्म-स्नान के समय जिस समय अपनी लम्बी भुजाओं को फैलाकर...** जन्मस्नान (के समय) मेरुपर्वत पर इन्द्र, अभी एकावतारी, हों! जिसे एक अन्तिम देह है। वह इन्द्र और इन्द्राणी पहले स्वर्ग के उनको-दोनों को अन्तिम देह

है। वहाँ से निकलकर मनुष्यपना प्राप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले हैं। ऐसे शकेन्द्र क्षायिक समकिती एकभवतारी, वह जब जन्माभिषेक में जाता है, वहाँ प्रभु की भक्ति के प्रति इतना आनन्द आ जाता है। अभी प्रभु तो बालक है, उनके प्रति यहाँ आत्मा साधक स्वभाव से जागृत हुआ, पूर्ण साध्य हुआ उसे... पूर्ण साध्य उन्हें होगा अभी। अभी तो उन्हें कहाँ हुआ है ? होगा। स्वयं चौथे गुणस्थान में है और यह भी चौथे में है। तो भी इतनी भक्ति भगवान के प्रति आयी कि महाराज! प्रभु! आपका जन्म हुआ, तब इन्द्र ने हाथ ऐसे फैलाये। ऐसा विस्तार किया, तब बादलों की जो घटा थी, बादलों की घटा अखण्ड एक थी, (इन्द्र ने) ऐसे हाथ किये, वहाँ बादल खण्ड-खण्ड हो गये और बादल खण्ड-खण्ड में बादल जो कुछ क्षणभंगुरता दिखती है, वह क्षणभंगुरता प्रभु! उस दिन की है। समझ में आया ? वे बादल कभी इकट्ठे नहीं होंगे। ये टुकड़े हुए, सो टुकड़े हुए। क्षणभंगुर बादल हैं, क्षणिक हैं, वे सब समाप्त हो जाएँगे।

इसी प्रकार भगवान! हमारा आत्मा आपका स्वरूप जो है, वैसा हमारा है - ऐसा हमें भान हुआ, (वहाँ) अनादि के कर्म के बादल अखण्ड (थे), जिसमें खण्ड पड़े बिना थे ऐसा जहाँ... किया कि अरे! चिदानन्द रागरहित है, ऐसी पहिचान और भान हुए (तो) वह खण्ड-खण्ड (होकर) बादल टूट गये। समझ में आया ? समझ में आता है ? नेमीचन्दजी! भाषा तो भाई! हमारी गुजराती है न। ऐसे हाथ फैलाता है न, नाचता है। आनन्द हुआ तो भगवान को देखकर नाचता है। यहाँ तो अभी शर्म आवे। समझ में आया ? ....चन्दभाई! बराबर है, लो। यहाँ तो अभी शर्म आवे। कारण कि सोंसरवूं निकलना और यह भगवान के दर्शन करना और यह पीतवस्त्र पहना हो तो उघाड़ा पड़ जाए। केवलचन्दभाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूर्ति मानते होंगे ? इस मूर्ति की पूजा ? अमुक यह ?

इन्द्र, जिसे एकावतारीपना है, ऊपर से उतर कर माता के पास जब (प्रभु) जन्मते हैं, तब इन्द्राणी जाकर बालक को लाती है, हाथ में वहाँ ले जाती है, उनका स्नान करते हुए इतना आनन्द उसे आ जाता है (कि उसे) भक्ति का उछाला (आता है)। है तो वह शुभभाव परन्तु वह भक्ति आये बिना रहती नहीं। समझ में आया ? श्रीपालजी! भक्ति।

मेरुपर्वत पर ले गये। कहते हैं कि भगवान! वे बादल खण्ड-खण्ड क्षणभंगुर हैं, हों! क्षणभंगुर।

इसी प्रकार हमारे भी थोड़े कर्म बाकी रहे हैं और हमारा नित्य ध्रुव चैतन्यमूर्ति हमारी दृष्टि और श्रद्धा में हमने लिया है। अब कर्म बाकी रहे, वे क्षणभंगुर हैं। कहो, समझ में आया? यह ऐसा कहते हैं इसमें। क्या कहा? भगवानजीभाई! आहाहा! अरे! भगवान को पहिचाने और भगवान की भेंट हो, उसे कर्म के बादल खण्ड-खण्ड न हो और रहे हुए क्षणभंगुर और अनित्य न हो तो उन भगवान की भेंट हुई नहीं। भगवान को देखा नहीं, भगवान को देखा नहीं, भगवान के दर्शन किये नहीं। कहा था न तब (संवत्) १९७२ के वर्ष में, तब सम्प्रदाय में हमारे बात चली थी। ७२ के वर्ष। ४४ वर्ष हुए। ४४ वर्ष।

वे कहें, भगवान ने-केवलज्ञानी ने देखा होगा, तत्प्रमाण भव होंगे। भगवान ने जिस प्रकार देखा तत्प्रमाण भव में अपना आत्मपुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकते। नववाड से ब्रह्मचर्य पालन करो, नौ कोटि से संथारा करो। संथारा समझते हो? समाधिमरण। सल्लेखना, नौ-नौ प्रकार से सल्लेखना करो, नौ-नौ वाड से ब्रह्मचर्य (पालन करो) नौ वाड होती है न? ब्रह्मचर्य पालन की। नौ वाड से ब्रह्मचर्य पालन करो परन्तु भव नहीं घटेंगे। ऐसी बात १९७२ में चली थी। भव नहीं घटे तो क्या बोलते हो? भगवान के नाम से तुमन क्या उड़ाया यह। आगम की वाणी ऐसी नहीं हो सकती। सर्वज्ञ परमात्मा जिसके हृदय में बैठे... ओहो! भगवान पूर्णानन्द की प्राप्ति की पर्याय की... उसकी वाणी में भी ऐसी वाणी नहीं होती कि तुझे भव नहीं घटेंगे। वह तो कहे, हमें तूने पहचाना, हमारे द्रव्य-गुण और पर्याय... ऐसी तो यहाँ कहाँ थी द्रव्य-गुण-पर्याय की वहाँ। कहो, समझ में आया? परन्तु उन्हें पहचाना और केवलज्ञान जिसे अन्दर जँचा, भगवान की वाणी में भव के नाश की वाणी है। भगवान की वाणी जिसे जँचे और भगवान की जिसे रुचि हो, उसके तो भव का नाश होता है। उन भगवान के ज्ञान में ऐसा देखा है। ऐसा तुम्हारा लप करते हो, ऐसा देखा नहीं। तुम्हें अनन्त भव देखे होंगे, कहा। म्या बोलते हो यह? ऐई! चन्दुभाई! यह तो ७२ के फाल्गुन शुक्ल तेरह की बात है। फाल्गुन शुक्ल तेरह, (संवत्) १९७२। ४४ वर्ष हुए। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! ओहोहो! पूर्णानन्द की प्राप्ति! ऐसा हमें विकल्प आया, आपके प्रति भक्ति का और हमारा ज्ञान भी स्व को जानते हुए आपको जानने के लिये घुल रहा है, ऐसी स्थिति में कर्म के टुकड़े हो गये। निधत और निकाचित और धूल चाहे जो बँधी हो, वह थोड़े बाकी रहे, प्रभु! वे क्षणभंगुर हैं। समझ में आया? क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं, नाश होने को तैयार हो रहे हैं। वे अब रहनेवाले नहीं हैं।

उन लम्बी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं। क्षणभंगुर दिखते हैं। ओहो! जहाँ देखो वहाँ बादल ही देखते हुए यह कहा। भगवान को सर्वार्थसिद्धि में देखा तो कहे प्रभु! आपके कारण वहाँ शोभा (थी)। नाभिराजा के घर आये तो पृथ्वी वसुमति आपके कारण (हुई)। मरुदेवी माता के गर्भ में आयी, इसलिए दूसरी स्त्रियों की अपेक्षा धन्य हो गयी और ये बादल जहाँ जन्माभिषेक करते हुए.... हो गया अन्दर, टूट गये, टुकड़े हो गये।

ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं, उनकी क्षणभंगुरता का यही कारण है कि... देखो! है या नहीं? लिखा है, देखो! गजाधरलाल है न? कौन है ये? **जिस समय भगवान का जन्म-स्नान मेरुपर्वत पर हुआ था, उस समय आनन्द में आकर...** यह दुनिया में भी नहीं उस विवाह-विवाह प्रसंग करे तो कुछ पहरानवी करे, अमुक करे, तब आनन्द में नहीं आते? देखा है? पहले यह काठिया, अब तो सब घट गया। पहले काठियों में ऐसा था। यह काठिया होते हैं न काठी? काठी गरासिया। यह लोहे के चारण हों चारण। उनके, समझे न? क्या कहलाता है। यह सब बारोठ जैसे। ....विवाह हो उसके, तब ऐसे घोड़ियाँ पाँच-पाँच हजार गहने पहनाई हुई घोड़ियाँ उसे देते हैं। एक-दूसरे समधी चढ़े। कन्या का पिता और यह। चढ़े-चढ़े एक-दूसरे को। गये हों न वहाँ। यह कहे कि यह घोड़ी देता हूँ। दूसरा कहे, घोड़ी नहीं हजार गहना दे दूँ। दूसरा कहे...

मुमुक्षु : गाँव दे दूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँव तो कहाँ था उसके पास।

मुमुक्षु : गाँव भी दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँव भी दे, अधिक गाँव हो तो। यह तो गाँव तो मैंने साधारण लिया। उसे और गप्प मारना हो, कौन जाने? कहो, समझ में आया? कहाँ देना है और लेना है, ऐसा कहे। परन्तु यह तो सुना है भाई, हाँ! ऐसे बैठे देहरी पर और विवाह का प्रसंग और जब विदाई का अवसर हो तब दोनों चढ़े... उसके बारोठ को देने के लिये। पाँच हजार का क्या घोड़े का कहलाता है... सोने की मोहर पाँच हजार की और घोड़ी। वह चारण भी उस समय ऐसा-ऐसा करे कि ऐसी खुशहाली बतावे, ऐसी बतावे, वाह रे वाह! विक्रमभोज राजा। कहते हैं कि राग का मारा उस समय भी इस प्रकार से उसकी प्रशंसा करता है।

यहाँ तो तीन लोक के नाथ को ऐसे नजर से देखते हुए सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव मानो समवसरण में विराजते हैं। प्रभु! ओहोहो! आनन्द में आकर। क्या कहा यह? देखो! **आनन्द में आकर अपनी भुजाओं को फैलाकर इन्द्र ने भगवान के सामने नृत्य किया था...** किसने? इन्द्र एकावतारी घुँघरु बाँधकर नाचता है। बालक होगा? तो क्या है? बालक ही है। शरीर की क्रिया तो शरीर के कारण से होती है। भक्ति का भाव उछला है। भगवान की प्रतिमा के निकट... अरे! जहाँ नन्दीश्वर द्वीप है या नहीं? आठवाँ द्वीप है नन्दीश्वर है। जहाँ शाश्वत् मणिरत्न की प्रतिमाएँ भगवान की शाश्वत् है। वहाँ बारह महीने में तीन अष्टाह्निका आती है—कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा; फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा; आषाढ़ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा। आठ-आठ दिन तक इन्द्र वहाँ जाते हैं और बालक की भाँति भगवान के (सन्मुख) ऐसे हाथ में करताल लेकर भक्ति करे, भक्ति। कहो, समझ में आया? जैसे पिता के निकट पुत्र घनघनाहट नहीं करता? राग में आवे तब पिता भी फिर गलगलिया जैसी भाषा नहीं करता? हे बापू! हे बापू! हे भाई! ऐसा नहीं करते। नरभेरामभाई!

इसी प्रकार भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव आनन्दमूर्ति उपशमरस के पिण्ड, अकषायरस को पाकर ढ़ेर पुंज पड़े देह में, उस देह के परमाणु और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध थोड़ा अघातिकर्म है तो रहा है। ऐसे अरिहन्त को लक्ष्य कर कहते हैं कि हे प्रभु! आप तो सर्वज्ञ तो बाद में होओगे, परन्तु जब यहाँ थे और इन्द्रों को आनन्द आया (कि) नृत्य (करते हुए) ऐसे नाचे। पैर नाचे। कहो, समझ में आया? यह कहीं भक्ति छिपी रहती होगी?

उसमें नहीं आता? 'चंचल नारी का नैन छुपे नहीं, दाता छुपे नहीं घर मांगन आया। भाग्य छुपे नहीं भभूत लगाया, चन्द्र छुपे नहीं बादल छाया।' बादल आ जायें तो चन्द्र का ख्याल नहीं आता? चन्द्र का ख्याल आता है या नहीं? कि चन्द्र है। भले बादल आये। इसी प्रकार भभूत लगाने से भाग्य नहीं छिपता। साधु हो जाए और भभूत लगावे, इससे यह पुण्यवन्त प्राणी है, यह कहीं ढँका रहेगा? उसकी पुण्यवन्तता, उसका प्रताप, उसकी शक्ति भी ढँकी नहीं रहेगी। 'चंचल नारी का नैन छुपे नहीं।' चपल स्त्री हो, उसकी आँख गति किया करती है। और 'दाता छुपे नहीं, घर माँगन आया।' वह घर में माँगने आया और दाता कहे, तुझे क्या दूँ? चार आना दूँ।

एक व्यक्ति कहता था, भाई! आठ महीने तक उसके पैर दबाये सेवक ने। यह तो सब बहुत है न, फिर उसका साला उससे पूछता है कि तेरे इस सेवक को आठ आने दूँगा? यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! ५०-६० वर्ष की बात है। समझे न? वह ससुराल गया था, नवविवाहित। अब नयी को लड़का कुछ नहीं, पुरानी को नहीं था। कुछ नहीं था, उसके ससुराल गये और वह सेवक रोज (पैर दबावे)। सेठ का दामाद है इसलिए (सेवक पैर दबावे)। फिर कितने ही वर्ष के बाद कहे, अपने इसे आठ आना और श्रीफल देंगे। उसका साला समझ गया, कहे, इतना बहुत है, हों! वह सेवक कहे कि यह क्या? महीना (हुआ) तू तो सेठ है, लड़का नहीं। हमारी यहाँ लड़की है, वहाँ तेरे घर में उसके लड़का नहीं और महीने दिन तक रात्रि में तेरे पैर दबाये। वाणन्द दबावे न वह आकर? प्रसन्न हो गया तो आठ आना। फिर उसके साले ने ऐसा भी कहा कि कुछ न दो तो कोई आवश्यकता नहीं। यह तो अपना सेवक है। समझे न? समझ गया कि यह मुफ्त की इज्जत गँवाता है।

इसी प्रकार जब भगवान की भक्ति उछले, वह कुछ ढँका रहता होगा? ...हे भगवान! ऐसा करना। प्रभु! यह... ऐसा होता है और ऐसा होता है। अमुक होता है। अरे! भगवान की पूजा, भक्ति में ऐसा आनन्द और उत्साह की भक्ति आये बिना नहीं रहती, तथापि धर्मी जानता है कि वह शुभभाव है। शुभभाव पुण्यभाव पाप से बचने के लिये आता है। धर्म नहीं है, मोक्ष नहीं है, मोक्ष का कारण नहीं है। आरोप से कहते हैं कि हे भगवान! आपकी भक्ति हमें मोक्ष का कारण होती है। कहो, समझ में आया?

नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओं से मेघ भग्न हुए थे; इसी कारण अब भी मेघों में क्षणभंगुरता है,... इस कारण से, हों! उसकी क्षणभंगुरता का कारण दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति (करता है)। जैसे परमात्मा द्रव्य से शक्तिवान, शक्ति और पर्याय से है, उनकी जिसे अन्तर में महिमा स्वद्रव्य के सन्मुख होकर हुई, उसकी कर्म की अवस्था, क्षणभंगुरता अभी भी दिखती है। उस काल में हुई, वह अभी कहते हैं कि हमारे साधक जीव को कर्म चले जाते हैं। ध्रुवता के आश्रय से स्थिरता प्रगट होती जाती है। यह उसे निश्चय और भगवान के प्रति विकल्प, उसे व्यवहारभक्ति कहते हैं।

तेरहवीं (गाथा)

गाथा १३

अब, तेरहवें श्लोक में स्तुतिकार कहते हैं कि–

जाण बहुएहिं वित्ती जाया कप्पद्दुमेहिं तेहिं विणा।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह।।१३।।

अर्थ – हे नाथ! हे प्रभो! जिन प्रजाजनों की आजीविका बहुत से कल्पवृक्षों से होती थी, उन कल्पवृक्षों के अभाव में उन प्रजाजनों की आजीविका आप अकेले ने ही की।

भावार्थ – जब तक ऋषभदेव भगवान का जन्म, पृथ्वी–तल पर नहीं हुआ था, उस समय तक इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी। जब उनको जिस बात की आवश्यकता होती थी, तब उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। वे सीधे कल्पवृक्षों के पास चले जाते थे और अभिलाषित वस्तु की पूर्ति उन कल्पवृक्षों के सामने कहनेमात्र से ही हो जाती थी। उस समय दश प्रकार के कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा अलग–अलग सामग्री देकर जीवों को आनन्द देते थे, किन्तु जिस समय भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ, उस समय जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र में कर्मभूमि की रचना हो गयी, भोगभूमि की रचना न

रही, कल्पवृक्ष भी नष्ट हो गये; उस समय जीव भूखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविका की चिन्ता हो पड़ी, तब उस समय भगवान आदीश्वर ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि का उपदेश दिया और भी नाना प्रकार के लौकिक उपदेश दिये; जिससे उनको फिर से वैसा ही सुख मालूम होने लगा; इसलिए कर्मभूमि की आदि में भगवान आदिनाथ ने ही कल्पवृक्षों का काम किया था। इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार, भगवान की स्तुति करते हैं कि हे प्रभो! जिन प्रजाजनों की आजीविका, भोगभूमि की रचना के समय बहुत से कल्पवृक्षों से हुई थी, वही आजीविका कर्मभूमि के समय कल्पवृक्षों के बिना आप अकेले ने ही की; इसलिए हे जिनेन्द्र! आप कल्पवृक्षों में भी उत्तम कल्पवृक्ष हैं।

गाथा – १३ पर प्रवचन

जाण बहुएहिं वित्ती जाया कप्पद्दुमेहिं तेहिं विणा।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह।।१३।।

हे नाथ! हे प्रभु! देखो, कहते हैं, **जिन प्रजाजनों की आजीविका बहुत से कल्पवृक्षों से होती थी,...** अब लाये यहाँ। जन्माभिषेक करने के बाद राजा हुए न? तब उस समय ऋषभदेव भगवान के समय में पहले कलपवृक्षों से जीवन था। कोई पकावे या रोटियाँ बनावे, चूल्हा और ऐसा कुछ नहीं था। दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे ऐसा ही उसका–पृथ्वी का और उस युग का ऐसा स्वभाव कि मनुष्य हों, वे बहिन और भाई ही हों। वे ही पति–पत्नी हों। दो ही हों और दो हों वापस और उन कल्पवृक्ष से ही उनका जीवन था।

कहते हैं, प्रभु! आप जब पृथ्वी पर आये, तब उस काल में कल्पवृक्षों की जो दूसरे जीवों को आजीविका होती थी, उन कल्पवृक्षों के अभाव में अकेले आप ने ही उन प्रजाओं की आजीविका की है। भगवान को ऐसा विकल्प आया था, नीति से बताया था। समझ में आया? कि देख भाई! जगत के नियम में जहाँ प्रजा का ऐसा प्रसंग आवे तो कुलकर या तीर्थंकर का जीव इस प्रकार से जन्मे और उसे ऐसा भाव आवे कि इस

प्रजा को आजीविका कैसे करना, इसकी खबर नहीं। कल्पवृक्ष समाप्त हो गये। भाई! तुम ऐसा करो, इसका ऐसा करो, तवा ऐसा करो, अनाज ऐसे पकाओ, यह गन्ना लम्बा-लम्बा है, उसे ऐसे करो, उसके टुकड़े करो, उसमें से रस निकलेगा। उसमें से ऐसे करो तो उसमें से गुड़ होगा, इसमें से शक्कर होगी। ऐसा सब (सिखलाया)। भगवानजीभाई!

तब वे क्या कहते हैं? देखो! भगवान ने भी ऐसा जगत के उद्धार के लिये किया। सुन न! उस समय ऐसी स्थिति हो इसलिए। सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर हैं, तीन ज्ञान के धनी हैं और उनकी पदवी प्रमाण में उन्हें ऐसा राग आये बिना नहीं रहता। प्रभु! कल्पवृक्ष के अभाव में, कल्पवृक्ष नहीं थे, तब आपने अकेले ने दस कल्पवृक्षों का निर्वहन किया था जो कल्पवृक्ष से आजीविका होती थी (वह) इनसे हुई। समझ में आया? इसी प्रकार अनादि काल का आत्मा पुण्य और पाप के फल से जो निभ रहा था, और जहाँ दृष्टि आत्मा की कल्पवृक्ष में—चैतन्यमूर्ति (में पड़ी तो) इस एक से जीवन का पूरा पड़ा। भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा के कन्दस्वरूप है, वही मेरी चीज़ है। उसके कारण से सुख, शान्ति, वीर्य जो गिने, वह उस आत्मा में से प्राप्त होता है और कल्पवृक्ष के अभाव में आपने पूरा किया। कहो, समझ में आया? कर सके होंगे? व्यवहार के कथन ऐसे आते हैं। समझ में आया? यह आया है न, देखो न!

जब तक ऋषभदेव भगवान का जन्म, पृथ्वी-तल पर नहीं हुआ था, उस समय तक इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी और उस भोगभूमि की स्थिति में सब जीव भोगविलासी थे। भोग अर्थात् कुछ करना और पकाना नहीं। उस प्रकार की खाने-पीने की क्रिया होती थी। क्योंकि वे जुगलिया उत्पन्न होते थे। जुगल अर्थात् दो। और उन सबको **जब उनको जिस बात की आवश्यकता होती थी,...** जिस बात की आवश्यकता, यह तो बात की है, परन्तु वह तो आवश्यकता पड़ती हो, उतने प्रकार के कल्पवृक्ष थे। उनने कहाँ वहाँ देखे हैं दूसरे भुजिया और अमुक और अमुक। खाने को चाहिए तो अन्न मिले, पीने को चाहिए तो रस मिले, दीपक मिले, मकान ही ऐसे उगे कि महल जैसे मकान हों। सोने और बैठने को वह मिले। ऐसे दस प्रकार की चीज़ें वहाँ थी।

उस समय ... जिस बात की आवश्यकता होती थी, तब उस वस्तु की

प्राप्ति के लिए उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। वे सीधे कल्पवृक्षों के पास चले जाते थे और अभिलाषित वस्तु की पूर्ति उन कल्पवृक्षों के सामने कहनेमात्र से ही हो जाती थी। कहनेमात्र से हुई। यह तो कहनेमात्र का अर्थ कि वह वहाँ थी। होवे ही तैयार। खाने की-पीने की चीज़ें आदि वस्त्रादि। जैसे यह केल होती है न? केला। उसका पत्ता कितना चौड़ा है! तो एक वृक्ष ऐसा ही हो कोमल, पतला रेशम जैसा, उसके पत्ते निकलें, इसलिए वह वस्त्र में काम आवे। ऐसी चीज़ें (प्राप्त हों ऐसे) दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। भगवान! जब उनका अभाव हुआ, तब आपने अकेले ने उन सबका पूरा किया। कहो, समझ में आया?

कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा अलग-अलग सामग्री देकर जीवों को आनन्द देते थे... देते थे अर्थात् वह तो थी वहाँ। और उसे जो कल्पना थी कि मुझे भूख लगी है, प्यास लगी है, (वह मिलने से) सन्तोष हो जाए। वह तो खाते इतना। तीन कोस के लम्बे, खावे बोर के जितनी गुठली का खुराक, वह भी वापस तीन दिन के बाद (खावे)। वह कहीं खुराक अधिक हो तो शरीर अच्छा रहे और थोड़ा हो तो शिथिल पड़े, ऐसा है नहीं। है न अभी बहुत लोगों को इस प्रकार की (मान्यता कि) खूब खाओ पेट भरो तो शरीर अच्छा रहेगा। ऐसा नहीं है। शरीर में वे परमाणु खुराक कैसे परिणमती है, इस आधार से वहाँ शक्ति का, शरीर की शक्ति का, हों! आत्मा की शक्ति तो कहाँ वहाँ उसे उसमें थी। यहाँ तो फिर अधिक खाओ। लड्डू खाओ, घी खाओ, सालमपाक उड़ाओ, लहसणिया उड़ाओ। मानो क्या कहलाये वह लड्डू कहते हैं जामनगर के उड़दिया। लो, यह और... शरीर पुष्ट हो। सालमपाक खाते हैं न, सालमपाक। मूसलीपाक। होता है या नहीं सर्दी के दिनों में (खावें तो) शरीर पुष्ट रहे। धूल में भी नहीं रहता। वह तो साता का उदय हो तो जैसे यह पुद्गल परिणमे ऐसी शक्ति दिखती है।

यहाँ तो तीन कोस के जुगलिया एक बोर जितना आहार ले, प्रभु! परन्तु वह भी घट गया। आहार के कारण, वे भी घट गये। तब आपने सबका पूरा पाड़ा था, यह बात करते हैं। अन्न देते थे। **किन्तु जिस समय भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ, उस समय जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र में कर्मभूमि की रचना हो गयी, भोगभूमि की रचना न रही, कल्पवृक्ष भी नष्ट हो गये; उस समय जीव भूखे मरने लगे और**

उनको अपनी आजीविका की चिन्ता हो पड़ी,... आये भगवान के (पास) प्रभु! हमें भूख लगी है, हों! यह कैसे करना, हमें खबर नहीं पड़ती, क्या करें यह? अरे! भाईयों! यह अनाज लम्बा-लम्बा उगा है, यह दाना है। यह दाना है। तब क्या करना? इस दाने को लाओ। एक पत्थर लावे। ये बहत्तर कला के ज्ञाता थे। पत्थर की बनावे चक्की, उन्हें बतावे कि देखो! इसके नीचे दलना। इसमें से आटा निकालना। तब पकाना किस प्रकार? लो, यह मिट्टी। इसमें पानी डालकर बनावे पिण्ड। हाथी होता है न हाथी? उसके कुम्भ स्थल पर ऐसा करे, सुखावे... डालना। देखो! उसमें रोटी (पकावे)। रोटी समझे रोटी? रोटी इसमें पकावे। ऐसा बताने का राग उस प्रसंग में भगवान के जन्मकाल में ऐसी स्थिति हो, इसलिए ऐसा वहाँ बने बिना नहीं रहता। वाणी वाणी की क्रिया करती है, हों! जड़, जड़ की क्रिया करता है। उसमें आत्मा को कुछ है नहीं।

तब उस समय भगवान आदीश्वर ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य... असि अर्थात् तलवार, मसि अर्थात् लिखना, वाणिज्य-व्यापार, **आदि का उपदेश दिया...** इस प्रकार का उपदेश वाणी का योग था। इससे लोग विवाद करे - भगवान ने उपदेश दिया या नहीं उस समय? अरे! भगवान! तुझे क्रम की खबर नहीं। भगवान! उस वाणी का क्रम जब होता है न, तब ऐसी ही वाणी निकलती है। उसे ऐसा विकल्प होता है, तब विकल्प के कारण से नहीं और विकल्प का भी उसका क्रम है, ऐसे काल में भगवान जन्मे, इसलिए ऐसा ही उन्हें विकल्प आने का योग ही होता है। तब उपदेश दिया न? यह कथन तो आया कि उपदेश दिया। धन्नालालजी! पण्डितजी विवाद करते हैं। भगवान ने आजीविका का उपदेश दिया, इसलिए तुम्हें भी देना (चाहिए)। कौन उपदेश दे? प्रभु! कल नहीं कहा था? उसमें अमृतचन्द्राचार्य ने। कौन बोलता है? प्रभु! यह वाणी कौन बोलता है? शब्दों की शक्ति से यह टीका हो गयी है। हम इसके करनेवाले नहीं हैं। नरभेरामभाई! ओहोहो!

मुमुक्षु : सब उसके कारण से हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा के कारण से वे शब्द परिणम गये हैं। हमें व्याख्याता बनाकर तुम मोह में मत नाचना। हम इस वाणी के कर्ता नहीं हैं। तब यह उपदेश दिया तो वाणी के कर्ता होंगे? कि मैं ऐसा दूँ, ऐसा होगा? उस काल में वाणी का योग ही

भाषा के क्रम में आने का हो, वैसी वाणी आती है और यह जुगलिया दु:खी हैं; इसलिए लाओं मैं इन्हें (उपदेश) दूँ, यह विकल्प आवे वह उनके कारण से भी नहीं आता। तब तो वे जुगलिया कर्ता हुए और इनका विकल्प उनका कार्य हुआ। और विकल्प कर्ता तथा भाषा कार्य, ऐसा भी नहीं हो सकता। भारी सूक्ष्म बात, भाई! राग आया, इसलिए यह उपदेश निकला, ऐसा नहीं है। उपदेश के काल में वाणी का योग हो, तब निकलता है। वाणी का योग न हो तो नहीं निकलता।

भगवान को ६६ दिन तक वाणी बन्द रही। सुना है या नहीं? महावीर भगवान! केवलज्ञान हुआ वैसाख शुक्ल दसमी और वाणी खिरी श्रावण कृष्ण एकम्। अपने (गुजरात तिथि अनुसार) आषाढ़ कृष्ण एकम्, श्रावण कृष्ण एकम्। दो महीने छह दिन तक वाणी का योग ही नहीं था। वाणी कहाँ से निकले? गणधर नहीं आये, इसलिए नहीं निकली—ऐसा लोग भ्रम करते हैं। ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी जगत की दृष्टि। वह तो गणधर का पुण्य, उन्हें सुनने का विकल्प, उन्हें उस प्रकार के जानने का उघाड़ और यहाँ वाणी का निकलना। यहाँ क्या है? सुननेवाले को शुभराग का विकल्प है, उस प्रकार का क्षयोपशम यह सुनने की योग्यतावाला है, वाणी वाणी के काल में निकलती है, विकल्प के काल में विकल्प होता है। उसका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है। गजब बात, भाई! टीका की तो कहते हैं हमने नहीं। वे तो बड़े पुरुष थे ऐसा ही कहे न! और ऐसा कोई कहता है। भाई! बड़े पुरुष करे सही और इनकार करे।

मुमुक्षु : लघुता बतावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। ऐसा है ही नहीं। लघुता इतनी कि उसका कर्ता ही आत्मा नहीं है। परन्तु उपदेश में ऐसे वाक्य आवे, उन्हें व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने उपदेश दिया। दे कौन? दे कौन? ले कौन?

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा उपदेश दिया। **और भी नाना प्रकार के लौकिक उपदेश दिये;...** उसे कैसे बोलना? कैसे सीखना? समझे न? सब सिखाया। दो लड़कियाँ थीं, उन्हें (ब्राह्मी) लिपि और अंकलिपि आदि सिखायी। **फिर से वैसा ही सुख मालूम होने लगा;...** अर्थात् पहले कल्पवृक्ष के समय जो साधन थे ऐसा ही उन्हें सुख हुआ। —सुख उनकी कल्पना का। **इसलिए कर्मभूमि की आदि में भगवान आदिनाथ ने ही**

कल्पवृक्षों का काम किया था। इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार, भगवान की स्तुति करते हैं कि हे प्रभो! जिन प्रजाजनों की आजीविका, भोगभूमि की... रचना के समय भोगभूमि की जमीन की रचना से स्थापित की। **बहुत से कल्पवृक्षों से हुई थी, वही आजीविका कर्मभूमि के समय कल्पवृक्षों के बिना आप अकेले ने ही की; इसलिए हे भगवान! आप कल्पवृक्षों में भी उत्तम कल्पवृक्ष हैं।** कल्पवृक्ष से भी उत्तम कल्पवृक्ष। ...होवे वह फल मिलता है।

हे भगवान! आपने ऐसे दान जगत को किये। इस प्रकार का शुभराग आवे और उस जाति का होना हो तो हो। यहाँ भी आत्मा कल्पवृक्ष समान है। भगवान का साक्षात् विरह हो, केवली की वाणी का विरह हो तो भी भगवान आत्मा अकेला ही कल्पवृक्ष समान है। अपने स्वभाव की सम्हाल करते हुए केवलज्ञान के काल में जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करते हों, ऐसा भी भगवान! यह तुम्हारे हम अभी भरत में विरह पड़ा। समझ में आया? उन जुगलिया को कल्पवृक्ष का विरह था। हमें कल्पवृक्ष समान पूर्ण केवलज्ञानी परमात्मा का हमें भरतक्षेत्र में विरह पड़ा। परन्तु प्रभु! आपके विरह में भी ऐसा निश्चय कल्पवृक्ष हमारा आत्मा है। उससे हम काम लेते हैं। कहो, समझ में आया?

पिता मर जाए तो कहते हैं न कि बापू का काम यह करे। और पिता बैठा हो तो भी लड़के को कहते हैं। जा, जा तू जा न। मैं, वह तू है न - ऐसा कहते हैं। मैं, वह तू ही है न, तुझमें और मुझमें अन्तर कहाँ है? कुँवरजीभाई! ऐसा कहे किसी समय। वैसे तो स्वयं अपने आप जाए तो सन्तोष हो। नरभेरामभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी अब काम (नहीं आता)। ये सब लड़के उसे नहीं हुए? वे सब उसकी अपेक्षा चतुर और होशियार हों। परन्तु यह जहाँ मैं... मैं... मैं... होवे न। जहाँ-तहाँ मैंने किया, 'मैं करूँ... मैं करूँ यह अज्ञान है गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' कुत्ता खींचे। मगनभाई! क्या होगा? कुत्ते जैसे ही हैं न, और क्या है दूसरा वहाँ? गजब बात, भाई! नेमीदासभाई!

यहाँ कहते हैं कि स्वयं किसी के काम कर सके और स्वयं जाए तो उसको ठीक

पड़े और लड़का जाए तो ठीक न पड़े, यह वस्तु की स्थिति में नहीं है। भ्रमणा ने घर किया है। मैं जाता हूँ तो उस मण्डप की शोभा बढ़ती है। बहुरू को अकेला भेजें, उसकी अपेक्षा अपन साथ में जाएं तो अधिक हो। अब व्यर्थ में पड़े न उसमें, यदि वहाँ सर्प-वर्प काटा और मरे वहाँ... अरे! अब इसकी अपेक्षा तो नहीं आये होते न। मर भी जाता है या नहीं? बहुत बार वहाँ जाए, वहाँ समाप्त हो जाए। अरे! परन्तु तेरा आत्मा कल्पवृक्ष समान यहाँ है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान का प्रयत्न कर। क्या करना? कितने ही और ऐसा कहते हैं, लो। महाराज! आप कहते हो परन्तु हमें करना क्या? परन्तु यह किसकी लगायी है यह?

यह कहा जाता है उसे (पहिचाने)। पृथक्-पृथक् तत्त्व राग, अजीव, आत्मा, गुण, पर्याय, द्रव्य जैसे-जैसे हैं, उनको पहले पहिचान, पहिचानकर और उस पहिचान द्वारा अन्तर सन्मुख में प्रयत्न का प्रयास कर। इसके लिये तो यह कहा जाता है। श्रद्धा तो कर पहले। पहले में पहली श्रद्धा कि वस्तु इस स्थिति से प्राप्त हो ऐसी है। राग से नहीं, निमित्त से नहीं, पर्याय के आश्रय से नहीं। वस्तु के आश्रय से प्राप्त हो, ऐसा यह आत्मा नहीं है। इस प्रकार की रुचि करे तो स्वभाव सन्मुख प्रयोग कर सके। ऐसा प्रथम श्रद्धा-ज्ञान में इसका वीर्य यह इसे पक्का निर्णय करना चाहिए। अकेला आत्मा पूरा पाड़ सके ऐसा है। कहो, समझ में आया? १३ गाथा (हुई)। कल्पवृक्ष लिखा है इसमें भी हरिभाई ने। दस लिखे हैं न? दस कल्पवृक्ष लिखे हैं, चित्रित किये हैं। यह उससे चित्रित कर न। बोलो।

हे भगवन! पृथ्वी को सनाथ करके पृथ्वी का उल्लास... लो! क्या कहते हैं? भगवान यहाँ आये न नीचे, तब कहते हैं यह वर्षा बरसती है न, वर्षा? तब अंकुर होते हैं न, अंकुर? पृथ्वी प्रसन्न हो गयी। कहते हैं कि ऐसे देखते हुए प्रभु! आप नीचे उतरे न, और यहाँ आये कि यह देखो न! यह पृथ्वी भी मानो अंकुर फूटे हों। नयी विवाहित स्त्री हो, नयी विवाहित स्त्री हो और उसका रोम-रोम जैसे प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भी प्रभु आपके नीचे उतरने से पृथ्वी भी प्रसन्न हो गयी। उसके अन्दर उसमें चारों ओर अंकुर जमे। यह बात करते हैं। बोलो।

गाथा १४

पहुणा तए सणाहा धरा सि तीए कहण्णहा बूढो।
णवघणसमयसमुल्लसियसासछम्मेण रोमंचो।।१४।।

अर्थ – हे जिनेश! हे प्रभो! आपने ही यह पृथ्वी सनाथ की है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय होनेवाले श्वासोच्छ्वास के बहाने इसमें रोमांच कैसे हुए होते?

भावार्थ – जो स्त्री, विवाह की अत्यन्त अभिलाषिणी है, यदि उसका विवाह हो जाए, अर्थात् वह सनाथ हो जाए तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमांच उद्गत हो जाते हैं और उस रोमांच के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार हे प्रभो! जिस समय आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, उस समय पृथ्वी में रोमांच हुए; इसलिए उन रोमांचों से यह बात जान ली थी कि आपने इस पृथ्वी को सनाथ, अर्थात् नाथसहित किया।

गाथा – १४ पर प्रवचन

पहुणा तए सणाहा धरा सि तीए कहण्णहा बूढो।
णवघणसमयसमुल्लसियसासछम्मेण रोमंचो।।१४।।

हे जिनेश! हे प्रभो! आपने ही यह पृथ्वी सनाथ की है... ओहो! नहीं तो यह पृथ्वी अनाथ थी। परन्तु आप ऊपर से आये, (इसलिए) यह पृथ्वी सनाथ हुई, सनाथ हुई। आहाहा! समझ में आया? **क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय होनेवाले श्वासोच्छ्वास के बहाने इसमें रोमांच कैसे हुए होते?** क्या कहते हैं। **जो स्त्री, विवाह की अत्यन्त अभिलाषिणी है, यदि उसका विवाह हो जाए,...** अर्थात् कि वह सनाथ बने **तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमांच उद्गत हो जाते हैं और उस रोमांच के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है।** कि यह स्त्री विवाहित लगती है, कुँवारी नहीं। उसके शरीर में भी उस प्रकार की पुष्टि आदि दिखायी देती है।

उसी प्रकार हे प्रभु! आप जब इस पृथ्वी पर अवतरित हुए, तब पृथ्वी में रोमांच हुआ, उस रोमांच द्वारा हमने यह बात जान ली है कि आपने इस पृथ्वी को सनाथ किया है। ऐसा सब हो गया न! पूरी वनस्पति पकी, इसलिए उसके द्वारा मानो यह तो सनाथ हो गयी। इसकी शरीर पुष्टि हो गयी, कहते हैं। आपके कारण यह सब पृथ्वी की शोभा है। कहो, समझ में आया? यह भगवान परमात्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ चैतन्य चमत्कार कल्पवृक्ष की जिसे अन्तर सन्मुख होकर दृष्टि-ज्ञान हुए, उसे जो भगवान की श्रद्धा का राग आया, उसमें इतना उल्लास उसे आ जाता है। कहो, समझ में आया?

भगवान की भक्ति में मुनि ऐसे उल्लास में आ गये हैं। हे प्रभु! ओहो! ऐसी चीज़ हमने जानी नहीं थी, ऐसी वाणी हमने सुनी नहीं थी, ऐसा ज्ञान हमने देखा नहीं था। ऐसी श्रद्धा के बीज कहाँ से उगे, यह हमें खबर नहीं थी। प्रभु! आपने अवतरित होकर ही यह सब किया। नेमिदासभाई! गजब बात की। इस पृथ्वी पर अवतरित हुए, तब पृथ्वी में रोमांच खड़ा हो गया। शरीर में रोमांच खड़ा हो गया। इसी प्रकार प्रभु! आपकी भक्ति में, आत्मा की भक्ति में असंख्य प्रदेश में आनन्द का प्रहलादरूपी रोमांच खड़ा हो गया। समझ में आया? प्रदेश पुष्टि हो गयी। फूले। असंख्य प्रदेशरूपी हमारी पृथ्वी। पृथ्वी है न स्वक्षेत्र वह। भाई! क्षेत्र कहो, पृथ्वी कहो। आता है या नहीं? पंचाध्यायी में आता है।

असंख्य प्रदेशरूपी हमारी पृथ्वी। प्रभु! आप जब अवतरित हुए, अर्थात् कि आपका भान हमें हुआ और हमारा आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, ऐसा भान हुआ (तो) अब सनाथ हो गया। आत्मा सनाथ हुआ। सनाथ रक्षण करने को तैयार। राग और पुण्य और निमित्त की रुचि छूटकर आत्मा के असंख्य प्रदेश में श्रद्धा का भान हुआ। असंख्य प्रदेश में रोमांच (हो गया)। प्रहलाद-प्रहलाद आनन्द हुआ। इसलिए तुम अवतरित हुए, तब ऐसा हुआ, वह हमारे शुभभाव की भक्ति यह हम जन्मे तब हमें ऐसा जन्मे वह धर्म हो, तब नया अवतार गिना जाता है, सच्चा होगा यह? क्या कहा?

सम्यग्दृष्टि का जीवन अन्तर में अनादि काल से नहीं हुआ था, वह नया हुआ। और यों ही मुनि आवे तब नहीं कहते? अणगारे जाया। अणगार जब मुनि भावलिंगी सन्त हो, अणगारे जाया। नयी दशा चारित्र उदय हुआ। चारित्र का उदय हुआ। चारित्र

में अवतरित हुआ, जहाँ जन्म हुआ चारित्र का। आहाहा! धन्य... धन्य... धन्य... उस आनन्द के कुंज में, उस आनन्द के कुंज में, जैसे यह लोग बाग में घूमने नहीं जाते? बराबर ठीक से घूमकर ऐसे और वैसे। अमुक। मुम्बई में है न वह बड़ा बाग कौन सा ऊपर? क्या है? हैंगिंग गार्डन। सब अंग्रेजी शब्द। है न वह मलवारी टेकरी पर। हजारों लोग। हजारों लोग जल्दी उठते हैं। घण्टे-घण्टे-डेढ़ घण्टे ऊपर ऐसे ढ़ेरों (लोग) घूमते होते हैं और नीचे मुम्बई देखते हैं। ओहो! चारों लोग बहुत वृक्ष है। एक बार हम वहाँ गये थे। जल्दी उठकर (गये थे)। वहाँ सर्दी हो गयी। वहाँ कुछ घूमने का था नहीं। मलवारी टेकरी में उतरे। घूमने का कुछ मिलता नहीं। रामजीभाई कहे, यहाँ है। वहाँ तो सर्दी बहुत थी। उसमें लोग प्रसन्न-प्रसन्न (हो जाए)। परन्तु वह तो ढ़ेर सारे आते थे। महिलाएँ और आदमी। आहाहा! यह सब फूलझाड़।

अरे! प्रभु! तेरा आत्मबाग तो यहाँ है। समझ में आया? आत्माराम, आत्मा का आराम, यह अखण्डानन्द प्रभु। इसके आराम का बाग तो तेरा स्वरूप है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान होने पर असंख्य प्रदेश फल निकलते हैं। प्रभु! हम अवतरित हुए और आप अवतरित हुए, तब हमने इस पृथ्वी का सनाथपना देखा। हम अवतरित हुए, तब हमारा सनाथपना हमें (हुआ)। कितनी हुई? १५वीं।

गाथा १५

अब, ऋषभदेव भगवान के दीक्षा के काल को लक्ष्य में लेकर भक्ति का वर्णन करते हैं।

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी।
जइया तइयावि तए रायसिरी तारिसी दिट्ठा।।१५।।

अर्थ – हे वीतराग! जिस प्रकार मेघ में बिजली दीखकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आपने जिस समय नृत्य करती हुई नीलांजना नाम की देवांगना को पहले देखकर, पीछे नष्ट हुई देखी, उसी समय आपने राज्य-लक्ष्मी को भी वैसा ही देखा, अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया।

भावार्थ – किसी समय भगवान सिंहासन पर आनन्द से विराजमान थे और नीलांजना नाम की अप्सरा का नृत्य देख रहे थे, उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा विलीन हो, पुनः प्रकट हुई। इस दृश्य को देखकर भगवान को शीघ्र ही इस बात का विचार हुआ कि जिस प्रकार यह अप्सरा विलीन होकर तत्काल में प्रकट हुई है; उसी प्रकार इस लक्ष्मी का भी स्वभाव है, अर्थात् यह भी चंचल है; अतः उसी प्रकार शीघ्र ही भगवान को वैराग्य हो गया। उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने इस श्लोक में भगवान की स्तुति की है।

गाथा – १५ पर प्रवचन

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी।
जइया तइयावि तए रायसिरी तारिसी दिट्ठा।।१५।।

अब दीक्षा को लाये। वहाँ से लाये न? सर्वार्थसिद्धि से (वर्णन) करते... करते... करते..। अब भगवान एक बार ऐसे सिंहासन पर बैठे थे। और उनको दीक्षा का काल-प्रसंग आया। इन्द्रों ने आकर देवियों का उसमें (राज्यसभा में) देवियों का नृत्य उतारा। इन्द्रों ने देवियों का नृत्य (उतारा) उसमें एक देवी की ऐसी स्थिति थी कि उस काल में स्थिति पूर्ण होनेवाली थी।

हे वीतराग! जिस प्रकार मेघ में बिजली दिखकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आपने जिस समय नृत्य करती हुई नीलांजना नाम की देवांगना को पहले देखकर, पीछे नष्ट हुई देखी, उसी समय आपने राज्य-लक्ष्मी को भी वैसा ही देखा... अर्थात् उसे भी आपने वैसी ही चंचल, क्षणभंगुर जान ली। यह एक दूसरा प्रसंग कहते हैं। मूल तो भगवान दृष्टि और तीन ज्ञान तो लेकर आये हैं परन्तु अभी अब उन्हें जातिस्मरण—मति (ज्ञान) का एक भेद निर्मल होने का प्रसंग है। उसमें भगवान सिंहासन पर बैठे थे। उसमें इन्द्र ने आकर देवियों का नृत्य (उतारा)। उसमें नीलांजनादेवी की आयुष्य की स्थिति इतनी थी। वह नाचती-नाचती नष्ट हो गयी। जैसे बादल में बिजली की चमकार आकर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह नृत्य करती हुई नष्ट हो

गयी। इन्द्र ने उसके स्थान में दूसरी देवी को भेजा। भगवान के ख्याल में आया कि नहीं, वह देवी जो नाचती थी, वह समाप्त हो गयी। ओहो! यह तो एक विशेष वैराग्य का निमित्त है। उस नीलांजना के कारण से वैराग्य हुआ होता तो उसे देखनेवाले तो बहुत थे। लोग इस निमित्त का विवाद करते हैं न? धन्नालालजी! विवाद करते हैं। देखो! भगवान को नीलांजना को देखकर (वैराग्य आया)। नीलांजना को देखने तो लाखों-हजारों लोग बैठे थे। परन्तु भगवान का उपादान का काल ऐसा था... आहाहा! क्षणभंगुर! ऐसा देवी का नृत्य, उसके अंगोपांग, उसके वस्त्र, गहने, ऐसे नृत्य करती थी। स्थिति पूर्ण हो गयी तो देह छूट गयी। उसे तो कपूर की गोली। जैसे कपूर की गोली बिखर जाती है, वैसे देह बिखर गयी और आत्मा परलोक में चला गया। उसके बदले नृत्य में भंग न पड़े, इससे देव ने दूसरी देवांगना को वहाँ उपस्थित किया, परन्तु भगवान के ख्याल में आ गया। तीन ज्ञान के धनी हैं, विचक्षण हैं। ओहो! यह! यह राज और लक्ष्मी ऐसी! अब नहीं। अब... उस समय उनको जातिस्मरण होता है। अर्थात् भव की भान की विशेष शुद्धिदशा होती है और वैराग्य (आता है)। लोकान्तिक देव आते हैं। कहते हैं, प्रभु! आपको चारित्र का काल है। दीक्षा का काल है। यह बहाना लेकर (यहाँ) भगवान की भक्ति की है। कहो, समझ में आया?

एक समय भगवान सिंहासन पर आनन्द से विराजमान थे। अर्थात् ऐसा... **नीलांजना नाम की अप्सरा का नृत्य देख रहे थे, उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा विलीन हो, पुनः प्रकट हुई।** अर्थात् **अप्सरा का नृत्य देख रहे थे, उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा विलीन हो, पुनः प्रकट हुई। इस दृश्य को देखकर भगवान को शीघ्र ही इस बात का विचार हुआ कि जिस प्रकार यह अप्सरा विलीन...** ऐसा दिखाव तो भाई जगत में बहुत दिखते हैं। लो। बीस-बीस वर्ष के युवक अचानक कोई मोटर में, कोई किसी में, कोई विमान में। देखो न, ऐसा बहुत सुनायी देता है। पन्द्रह दिन में और महीने में कि विमान गिरा, बीस लोग मर गये, अमुक में यह हुआ। परन्तु भड का पुत्र ऐसा कठिन। क्योंकि ऐसा तो सुनते हैं न। ऐसा कहते हैं न? ऐसा तो बहुत वर्षों से सुनते हैं। आहाहा!

यहाँ जो उपादान की योग्यता थी। ऐसा देखा जहाँ... आहाहा! यह स्त्रियाँ। स्त्री

है न। भगवान को अभी राग था। पुत्र हैं भरत और बाहुबली जैसे तो जिनको पुत्र हैं। यह सब नाशवान। हमारी शरण हमारे में है। हमें भान है परन्तु हमें इतना वैराग्य नहीं था। इस निमित्त में लक्ष्य जाने से वैराग्य हो गया। अन्दर में से वैराग्य होकर यह विचार आया कि **जिस प्रकार यह अप्सरा विलीन होकर तत्काल में प्रकट हुई है; उसी प्रकार इस राज लक्ष्मी का भी स्वभाव है, अर्थात् यह भी चंचल है;...** यह भी चंचल है। कहो, बराबर होगा? स्वभाव भी ऐसा चंचल है। मेघ के बादल चढ़े। एक क्षण में बादल समाप्त होकर पानी गिर जाता है। क्या हुआ यह?

ऐसा आता है न भाई! किसी समय मेघ को देखकर भगवान को जातिस्मरण हुआ है। किसी को तारा खिरा। हनुमान का आता है न? हनुमान। हनुमानजी थे न (वे) बन्दर नहीं थे, हों! वे तो कामदेव थे। उनके राज्य में, कुल में, उनकी ध्वजा में बन्दर का चिह्न था। उनके कुल में वह वानरकुल कहलाता है। इसलिए उनका नाम ऐसा गोत्र का-कुल का था। वे तो कामदेव पुरुष थे। जिनका रूप तीन खण्ड में उनके जैसा छह खण्ड में नहीं है, ऐसा जिनका रूप था। वे हनुमान जब ऐसे बैठे हैं। है न अपने यहाँ चित्र है। ऊपर से एक तारा खिरता है। यह क्या है? यह क्या? यह तारा... प्रकाश का पुंज थोड़ी देर दिखकर नष्ट हो गया। ओहो! यह सब ऋद्धि निस्सार स्वप्नवत् है। अरे! हम इस प्रमाद में अभी तक भूले। हमें अन्तर की दृष्टि की खबर थी परन्तु इस वैराग्य की हमें जागृति नहीं थी। वह इस निमित्त से वैराग्य हो गया। केवलचन्दभाई! उसके कारण से हुआ न? वे निमित्तवाले विवाद उठाते हैं। देखो! इस कारण से उन्हें वैराग्य हुआ। अब यह देखते तो सब उनके पास बैठे हुए थे। यह क्या हुआ? क्या हुआ? ऐसा कहने लगे। यह क्या हुआ इन्हें? परन्तु तुझे क्या हुआ? हमें कुछ हुआ नहीं, हम तो देखते हैं।

अरे! भाई! यह उपादान आत्मा की जितनी अपनी तैयारी हो, तत्प्रमाण कार्य होता है, उसमें तब सामनेवाली चीज़ को निमित्त कहा जाता है। ऐसे निमित्त बहुत देखे परन्तु कहीं रोम खड़ा होता नहीं। अपितु भड का पुत्र पक्का होता जाता है। पक्का-पक्का। ऐसे कितने ही देखे हों। वृद्ध लोगों ने देखा होगा या नहीं? नरभेरामभाई! मनुष्य मर जाए, तब तो कितने देखते होंगे? कितने को जला आये हों, लो! यह जन्म-मरण हुआ ही करते हैं। अपने क्या, यह तो हुआ करते हैं।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि भगवान ने देखा, इसलिए वैराग्य हुआ, ऐसा नहीं है। स्वयं को वैराग्य की जागृति (आती है)। आहाहा! अरे! यह स्थिति! नीलांजना जैसी देवी का आयुष्य वह क्षणभंगुर! शरीर क्षणभंगुर, राज्य क्षणभंगुर, कीर्ति क्षणभंगुर, खम्मा-खम्मा करनेवाले राजा सब क्षणभंगुर। हम तो वीतरागदशा प्रगट करने को अवतरित हुए हैं। देखो! यह स्वयं स्मरण करते हैं। मुनि भी इस प्रकार भक्ति करते हैं कि हम वैराग्य में आगे बढ़कर हमें स्थिरता पूर्ण हो, ऐसी ही हम भावना भाते हैं। कहो, समझ में आया?

अत: उसी समय शीघ्र ही भगवान को वैराग्य हो गया। उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने इस श्लोक में भगवान की स्तुति की है। क्या प्रभु आपके वैराग्य की दशा! शान्तिनाथ भगवान तीन ज्ञान के धनी, तीन ज्ञान तो लेकर आये हैं। दीक्षा के समय जाते हैं, वैराग्य होता है। उन्हें तो ९६ हजार स्त्रियाँ हैं, ९६ हजार स्त्रियाँ पद्मनी जैसी। फिर कहते हैं कि स्त्रियों! हम तुम्हारे नहीं हैं, तुम हमारी नहीं हो। हम चारित्र अंगीकार करेंगे। (स्त्रियाँ) चोटी खींचती है और स्त्रियाँ सिर फोड़ती हैं। अरे! स्त्रियों! तुमको ऐसा लगता हो कि अभी तक तुम्हारे राग और तुम्हारी चेष्टाओं से यदि हम रहे हों, ऐसा तुम्हें लगता हो तो यह बात छोड़ देना। हमें राग था, तब तक हम अटके थे। तुम्हारी प्रीति और तुम्हारी चेष्टायें और तुम्हारे हावभाव और तुम्हारी उस प्रकार की अनुकूलता के कारण हम अटके थे, यह बात भूल जाना। भूल जाओ। हमें राग था, इसलिए अटके थे। वह हमारा राग छूट गया। तुम्हारे कारण अब वह राग खड़ा हो, यह अब है नहीं। हम वनवास जाएंगे। आत्मा के स्वरूप का साधन करेंगे। हम इस भव में मुक्ति होने के लिये अवतरित हुए हैं। उस मुक्ति की प्राप्ति अब हम अल्प काल में ही करनेवाले हैं। छूट जाओ, हमारा कोई नहीं है। हमने किसी को दिया नहीं, हमने किसी को रानीरूप से बुलाया हो तो वह राग था, इसलिए। हमारे रानी नहीं होती। हमारे पुत्र नहीं होता, हमारे पुत्रियाँ नहीं होती। हमारे समधी-बमधी नहीं होते। शरीर ही हमारा नहीं। हमें भान था परन्तु हमें वैराग्य नहीं था।

...वैराग्य यदि इतना होवे, तब तो संसार में रहे नहीं। और वे रहे हैं, वह कहीं बाहर के संयोग के कारण से रहे नहीं। अपना प्रमाद और राग (उसके कारण से रहे

हैं।) यहाँ भी जो कुछ कहते हैं। दोष निकालते हैं क्या करे? भाई! इस लड़के को सब उठाना आता नहीं। लेना आता नहीं, कुछ करना आता नहीं; इसलिए हमें रुकना पड़ता है। यह तो सामान्य साधारण बात है, हों! केवलचन्दभाई! इसे बराबर आता नहीं; इसलिए हमें रुकना पड़ता है। नहीं तो हमें बहुत वैराग्य होता है, बहुत छूटने का विकल्प आता है। परन्तु यह एक जोड़ते हैं, वहाँ तेरह टूटते हैं। तेरह टूटते हैं। संधते हैं अर्थात् उस ममता का सांधा सधता है। उसमें कहीं टूटने का अवसर नहीं है। परन्तु तेरे कारण से या उसके कारण से? कैसे होगा? भगवानजीभाई! उसका भी निर्णय न करे और पर और ऐसे निमित्त हमें मिल जाते हैं न, हम ऐसा करेंगे। हमको भाई! ऐसे निमित्त मिलें तो हम कहाँ वैराग्य मुनि करना चाहते? सुन न अब! निमित्त से वैराग्य होता होगा या तुझसे?

यहाँ आचार्य महाराज इस बात का प्रसंग लक्ष्य में लेकर और भगवान की स्तुति (करते हैं)। प्रभु! आप तो वैराग्य को पा गये। इसी प्रकार अक्षय ऐसे निमित्त हों तो हमको भी अन्दर वैराग्य होता है, ऐसी अपनी जागृति बताता है। श्रीमद् में कहते हैं या नहीं? चाहे जैसे तुच्छ विषयों में भी... आता है न? 'उज्ज्वल आत्मा का स्वत: वेग वैराग्य में साहस से कूद पड़ना, वह है।' वह स्वयं के कारण से। चाहे जैसे तुच्छ विषय हों क्षणभंगुर। दाँत निकाले, कोई अमुक करे। आहाहा! यह क्या है? अरे! यह आत्मा कहाँ है, इसकी उसे खबर नहीं। यह क्या खिल-खिलाकर हंसे और यह क्या करता है? यह मर गया। यह देह छूटी, इसका यह हुआ। 'चाहे जैसे तुच्छ विषय में उज्ज्वल आत्माओं का स्वत: वेग' स्वत: वेग स्वयं के कारण। 'वैराग्य में साहस से कूद पड़ना वह है।' इसी प्रकार भगवान आत्मा की उज्ज्वलता के कारण यह प्रसंग देखकर वैराग्य हो गया। वह स्वयं के कारण से वैराग्य हुआ। पर के कारण से हुआ नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल २, बुधवार, दिनांक - २४-०८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - १६ से २०, प्रवचन-६

इस पद्मनन्दि पंचविंशति में ऋषभदेव भगवान के स्तोत्र का अधिकार है। जिसे आत्मा के धर्म की रुचि और दृष्टि हुई, उसे भगवान के प्रति भक्ति आये बिना नहीं रहती। समझ में आया? ऐसा व्यवहार (आता है)। आत्मा परमानन्द और वीतरागी अविकारी स्वभाव है और वास्तव में विकार तथा निमित्त का निषेध होकर स्वभाव का भान हुआ, उसे व्यवहार से स्वभाव होता है, ऐसी दृष्टि नहीं होती, तथापि व्यवहार बीच में निश्चय आत्मा का ज्ञाता का भान होने पर, पूर्णपरमात्मा की दशा जिसे प्रगट हुई अथवा ऐसे भगवान की प्रतिमा / मूर्ति के प्रति भक्ति और आह्लाद आये बिना नहीं रहता, क्योंकि जहाँ नय प्रगट हुए, प्रमाणज्ञान प्रगट हुआ, स्वभाव का भान होकर प्रमाण अर्थात् द्रव्य और वर्तमान पर्याय दोनों का ज्ञान हुआ, उस प्रमाण का भाग जो नय, ऐसा एक व्यवहारनय है, उसमें भगवान की भक्ति का या निक्षेप परमात्मा की मूर्ति में हो, ऐसा व्यवहारनय विषयी जहाँ प्रगट हुआ, वहाँ उसे ऐसा विषय आये बिना रहता नहीं। समझ में आया?

शास्त्र में तो ऐसा लेख भी आता है। मुनि आदि ध्यान में बैठे हों। यह पार्श्वनाथ का आता है न? भाई! उसका विमान निकला, विमान अटक गया। वन्दन न करे, आदर न करे और रुक गया। धर्मात्मा बीच में ध्यान में विराजते हों और उनके ऊपर से विमान निकले और उनका विनय उसके हृदय में न हो (तो वह) अटक गया, विमान अटक गया। अटकने पर उसे उल्टा वैर उल्लसित हुआ। यह कौन है? मैं ऐसे चला जा रहा हूँ और मेरे विमान को अटकाता है। उन्होंने-भगवान ने कहीं अटकाया नहीं परन्तु कुदरत के नियम में (ऐसा है कि) जहाँ धर्मी जीव है, उनके सिर के ऊपर चलना—मस्तक के ऊपर चलना ऐसा उसे नहीं हो सकता। ऐसा होने से विमान अटक गया, इसलिए उनका विरोध निकाला। यह कौन ऊंघता है... झलझलाहट... भगवान के सिर पर डाला, पत्थर डाले, अग्नियाँ डालीं। भगवान तो अपने ध्यान में थे। केवलज्ञान को प्राप्त नहीं हुए थे। पार्श्वनाथ भगवान। फिर तो धरणेन्द्र आदि ने आकर उसे हटाया।

उसी प्रकार जिसे आत्मा के धर्म का भान होता है, उसे प्रतिमा, भगवान का

विरोध उसकी दृष्टि में नहीं होता और इसलिए उसकी दृष्टि में भक्ति का उल्लास आये बिना नहीं रहता। ऐसे धर्मात्मा मुनि हों या भगवान की प्रतिमा, मन्दिर जहाँ हों, वहाँ वह निकले और उसे वन्दन का भाव न हो और वन्दन न करे तो वह दृष्टि मिथ्या है। समझ में आया? भगवानजीभाई! यह कहाँ से निकाला वापस व्यवहार? ...चन्दजी! पूरी जिन्दगी जिसे भगवान की प्रतिमा और मूर्ति (का) प्रेम आवे ही नहीं और भक्ति का भाव आवे ही नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसकी दृष्टि सच्ची नहीं है। समझ में आया इसमें? नरभेरामभाई! यह दान का अधिकार नहीं, हों! यह अधिकार भक्ति का है। इतना अच्छा है, कहते हैं। यहाँ तो दान, अभी तो यह भक्ति का जो वस्तु का स्वरूप है...

मुमुक्षु : दोनों में भूले हैं, ऐसा कहते हैं यह।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक कहते हैं यह।

इस प्रकार, आहाहा! देखो! यह मुनि है। भावलिंगी सन्त हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं और ऐसे भगवान को याद करते हैं। पूरा उनका जीवनचरित्र ऋषभदेव भगवान सर्वार्थसिद्धि में से आये, तब से लेकर मोक्ष पधारेंगे, तब तक सब स्तुति करेंगे। समझ में आया? तुम्हारे क्या कहलाता है? यह फिल्म बनाते हैं न?

मुमुक्षु : आज ही दिखाने का विचार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज दिखाने का विचार है। रात्रि में उस चर्चा का क्या होगा? समझ में आया?

फिल्म में जैसे इसे सब रूप बताते हैं, वैसे अपने हृदयचित्र में भगवान यहाँ थे। अरे! प्रभु! आप ऋषभदेव भगवान सर्वार्थसिद्धि में थे न प्रभु! वहाँ की शोभा तो आप थे तो थी, हों! आहाहा! वहाँ से यहाँ आये। इस पृथ्वी पर नाभिराजा की (रानी के) गर्भ से अवतरित हुए, तब पृथ्वी को वसुमति नाम प्राप्त हुआ। माता के गर्भ में आये (तो) माता दूसरी स्त्रियों में धन्य हो गयी। वहाँ से आपको जन्माभिषेक (के लिये) मेरुपर्वत पर ले गये, प्रभु! वह जन्म अभिषेक करते हुए उस मेरुपर्वत ने तीर्थरूप को धारण किया। ओहोहो! पहले से उठाया है न। और उसका पानी उछला तो देव ऐसे बिखरकर आकाश में व्याप्त हो गये। ओहोहो!

भगवान! और वहाँ से जब आपको वैराग्य का प्रसंग बना, दीक्षा अंगीकार करने का प्रसंग आ गया न? अर्थात् कि अंजना, अंजना क्या नीलांजना देवी ऐसे नृत्य करती थी। ऐसे एक के बाद एक उतारा है। परमात्मा का पूरा जीवन हृदय में चित्रित हो गया है। यहाँ पूछते हैं कि देखो! उसे अन्त में क्या था इसमें? भगवान कहाँ से आये? भगवान कौन थे? यह कहे अपने को बहुत कुछ याद नहीं। लड़का कब जन्मा, उसकी जन्माक्षरी हमने लिखी है। भगवानजीभाई! नरभेरामभाई! समझ में आया? उसकी जन्माक्षरी लिखकर रखी है। ब्राह्मण को बुलाया था।

भगवान परमात्मा अरिहन्त सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ, जिन्हें एक समय में तीन काल -तीन लोक का ज्ञान ऐसे अरिहन्त कहाँ से आये? क्या हुआ? कैसे उनका जन्माभिषेक इन्द्रों ने किया? इन्द्र ऐसे नाच उठे। ओहोहो! केवलचन्दभाई! तथापि उनकी दृष्टि में यह राग वह अन्तर साधन का कारण है- ऐसा नहीं है। आहाहा! इस दुनिया को दिक्कत यह है न कि व्यवहार, वह निश्चय का कारण है। उस व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है। भगवान का मार्ग व्यवहार से अधिक मुख्य है। बात एकदम दृष्टि विपरीत है। समझ में आया? भगवानजीभाई! यह तो दोनों चलते हैं। दो नय है न?

इसलिए यहाँ जब भक्ति के विषय का वर्णन, पूजा, दान आदि का (वर्णन) चले तो भगवान में अर्पित हो जाए। इन्द्र आकर नाचे। तथापि वह देह की क्रिया तो देह के क्रम काल में होती है। उसका कहीं आत्मा कर्ता नहीं है। परन्तु उस समय राग आया है उसे वे धर्म के साधनरूप से, उपचाररूप से, आरोपरूप से कहते हैं। वह वास्तविक साधन नहीं है। अन्तर स्वभाव की एकाग्रता, वह मेरा साधन है। उसमें राग की मन्दता को निमित्तरूप से कहने में आता है। निमित्तरूप से अर्थात् कि वह है तो यह है, ऐसा नहीं। उससे यह होता है, ऐसा नहीं। परन्तु ऐसी भूमिका आये बिना नहीं रहती। क्यों, धन्नालालजी! भारी विवाद उठावे जगत, देखो!

यहाँ अब आचार्य (ने) कहाँ लिया? नीलांजना को देखकर वैराग्य हुआ। वह तो अपना काल वैराग्य (का) था। अब जब दीक्षा अंगीकार की। भगवान ने दीक्षा ली। ऋषभदेव भगवान आद्य तीर्थंकर इस भरतक्षेत्र में (हुए), तब प्रभु! यह पृथ्वी आपके विरह से रुदन करती है। यह श्लोक कहते हैं। बोलो। १६वाँ है न।

गाथा १६

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का।
देव तए सा अज्ज वि विलवइ सरिजलरवा वरई।।१६।।

अर्थ – हे जिनेश! हे प्रभो! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था, उस दिन जो आपने यह पृथ्वी जीर्ण तृण के समान छोड़ दी थी, अत: तब से यह दीन पृथ्वी, इस समय भी नदी के ब्याज से (बहाने) विलाप कर रही है।

भावार्थ – जिस समय नदी में जल का प्रवाह आता है, उस समय नदी जो कल–कल शब्द करती है, उसको अनुलक्ष्य कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह नदी जो कल–कल शब्द कर रही है, यह इसका कल–कल शब्द नहीं है किन्तु यह कल–कल शब्द इस पृथ्वी के विलाप का शब्द है क्योंकि जिस समय आपको वैराग्य हुआ था, उस समय आपने इस बेचारी पृथ्वी को सड़े तृण के समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिए आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कर रही है और कोई भी कारण नहीं।

गाथा – १६ पर प्रवचन

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का।
देव तए सा अज्ज वि विलवइ सरिजलरवा वरई।।१६।।

हे जिनेश! हे प्रभो! हे देव! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था,... आहाहा! देखो! वैराग्य को स्मरण करते हैं। हे नाथ! आपने सब पदार्थ स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, भरत जैसे पुत्र, बाहुबली जैसे उनके (भगवान के) पुत्र–पुत्रियाँ, बड़ा परिवार, अनेक हजार रानियाँ। वैराग्य–वैराग्य, उदास–उदास। उस वैराग्य के काल में, प्रभु! उस **दिन जो आपने यह पृथ्वी जीर्ण तृण के समान छोड़ दी थी,...** क्या कहते हैं? सड़ा हुआ तिनका जैसे छूटे। जैसे नाक का मैल हाथ में आकर छूटे, वैसे आपने इस पृथ्वी की ममता त्याग दी।

ऐसा कहकर कहते हैं कि प्रभु! आत्मा अपने ज्ञानानन्द में लपेट होता है, एकाकार होता है, इससे इस राग के... जिन्हें अपने व्यवहाररूप से माना था, जिनकी ममता में रहे थे, उन्हें एक क्षण में रोते छोड़ दिये। अब हम हमारे स्वरूप का साधन करेंगे। पूर्ण प्राप्ति के लिये यह अवतार है। हमारा यह पूर्ण प्राप्ति, परमानन्द की प्राप्ति का यह अवतार है। इस शरीर के बाद दूसरा शरीर हमारे नहीं है। इन्द्रों ने आकर हमारा जन्माभिषेक किया। अब हमको दीक्षा का काल आया है। वैराग्य होकर अब हम चारित्र धारण करेंगे। ऐसा कहकर मुनि महाराज भगवान की स्तुति करते हुए अपने को चारित्र है, उसकी विशेष-विशेष प्रतिष्ठा करते हैं। समझ में आया?

इस प्रकार जो तीन ज्ञान तो लेकर आये हैं और दीक्षा अंगीकार करने को तैयार हुए हैं, उस चारित्र बिना उनको भी मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु कौन सा चारित्र? लोग कहे, देखो! इसके बिना चारित्र नहीं। यह हुआ... यह हुआ... अभी पढ़ा था न कुछ भाई ने। देखो! आचार्य हुए। देखो! ... पड़े नहीं। कितने ही हमारे मुमुक्षु बन्धु इस व्रत, तप को भार कहते हैं। अरे! भगवान! चैतन्य शुद्ध चिदानन्द की जहाँ सहज स्वभाव सरल सुलभ ऐसी दृष्टि और स्थिरता हुई नहीं, वहाँ उसके तप और क्लेश सब भार आचार्य ने कहा है। समझ में आया?

आचार्य महाराज कहते हैं कि तू उस तप का भार वहन करता है, भाई! मुनि जंगल में (रहकर कहते हैं)। पंच महाव्रत का राग, हजारों रानियों का त्याग और महीने-महीने के अपवास, छह-छह महीने के अपवास। आचार्य कहते हैं कि क्लेश और भार वहन करता है, हों! क्यों? वह तो राग की मन्दता का क्लेश है। वह भार है, बोझा है; धर्म नहीं। आहाहा! धर्म तो ऐसे चारित्र, ऐसा वैराग्य... वैराग्य। धर्म दुःखदायक नहीं है कि कष्ट सहन करना पड़े, बहुत दुःख सहन करे, उसे चारित्र हो और उसे धर्म हो, ऐसा है नहीं। ऐसा है या नहीं? ...चन्दजी! यह दुनिया ऐसा कहती है, बहुत सहन करना पड़ता है। करके तो देखो तपस्या, करके तो देखो अपवास। अब धूल तेरे (अपवास), अभव्य भी ऐसा अनन्त बार करता है।

आचार्य तो कहते हैं... भाई! एक लेख आया है। धर्म का भार। ऐसा करके जैन गजट में लेख दिया है। पढ़ते थे... ऐसा कि यह सब हमारे मुमुक्षु इसमें से कुछ समझेंगे।

ऐसा कि यह सब भार है व्रत, तप, अमुक का। परन्तु उसमें आचार्य कहते हैं कि, बापू! तेरे आत्मदर्शन सहजस्वरूप... अविकारी, अनाकुल चैतन्य की दृष्टि और उसे एकाकार किये बिना वह राग और कषाय की मन्दता और शरीर की नग्नता को निभाना, वह भार है। समझ में आया? अन्दर बोझा है। आहाहा! यह कैसे निभेगा मृत्यु तक? अन्दर राग ही स्वयं भार है, बोझा है। कहो, समझ में आया? ऐसा रागरहित चैतन्य की दृष्टि हुई, तब स्वयं चारित्रवन्त मुनि तो भावलिंगी सन्त नग्न दिगम्बर हैं।

जितने जैनदर्शन में सच्चे साधु-सन्त होते हैं, वे सब दिगम्बर ही होते हैं। आत्मा की अन्तर्दृष्टि हुई और पश्चात् तीन कषाय का नाश हो, उनकी दशा व्यवहार से बाह्य शरीर की अत्यन्त नग्न ही हो जाती है। उन्हें वस्त्र का धागा नहीं रहता। ऐसी सहजदशा बाह्य में नग्न, अभ्यन्तर में अट्ठाईस मूलगुण राग और अन्तर में आत्मस्वभाव स्वरूप की, तीन कषाय के नाश की अनाकुलदशा का आनन्द, उसे साधु और उसे जैन के पंच महाव्रतधारी कहा जाता है। समझ में आया? दूसरे को साधुरूप से मानना, मनवाना, मानते हुए को भला जानना, यह सब मिथ्यादर्शन के पोषक हैं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! **उस दिन जो आपने यह पृथ्वी जीर्ण तृण के समान...** जीर्ण तिनका, ऐसा। सड़ा हुआ तिनका छूटने पर ममता रहती होगी? कि अरे! यह सड़ा हुआ तिनका कचरे में क्यों बाहर डाल दिया खेत में? ऐसी पूरी पृथ्वी को, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार हमें रागभाव था, इसलिए उसमें हमारा लक्ष्य जाता था। हम हमारे स्वभाव की एकाग्रता के पूर्ण साधन के लिये निकलते हैं। हम वनवास में रहेंगे। वैराग्य हुआ।

पृथ्वी जीर्ण तृण के समान छोड़ दी थी, अतः तब से यह दीन पृथ्वी, इस समय भी नदी के ब्याज से (बहाने) विलाप कर रही है। अपने सवेरे नहीं सुनते थे कहीं वह विलाप? ऐसा कुछ है। पानी बहता है, कल... कल... कल... होता था।... उस समय यह याद किया था नहीं? कोई कहे कि कल आयेगा यह। धीरुभाई ने न? क्या कहते थे? महाराज! आप तो पृथ्वी के स्वामी नृपति थे। नृ—पति, मनुष्य के पति, पृथ्वीपति। पत्नियों के पति, भगवान सबको तृणवत् जानकर आत्मा के अन्तर वैराग्य साधन में जिये। यह पृथ्वी नदी के बहाने विलाप करती है। क्या कहा इसमें? नरभेरामभाई! क्या कहा?

उस नदी में खलखलाहट नहीं होती? खलखलाहट होती है न ऐसी? आवाज होती है न आवाज? खलबल हो वहाँ कल... कल... कल... कल... कल... कल (आवाज होती है)। उसे देखकर भी आचार्य महाराज को प्रभु ने यह पृथ्वी का त्याग किया न, (इसलिए) यह पृथ्वी नदी के पानी के बहाने कल... कल... विलाप कर रही है। समझ में आया? हमें छोड़ दिया। हमें सड़े हुए तिनके की भाँति छोड़ा। हमें मेरा करके भगवान ने पहले पोषण किया था। (यद्यपि) उन्होंने मेरा करके पोषण नहीं किया था, परन्तु वे तो ऐसा माने न। वे सब राजा। भगवान ने दीक्षा ली। चार हजार राजा साथ में थे। बहुत समर्थ पुरुष। उस समय में इस चौबीसी के आदिपुरुष अर्थात् महासमर्थ (थे)। पश्चात् दूसरे हजारों राजा खम्मा... अन्नदाता (करते थे)। वे खड़े हों तो (ये राजा लोग) खड़े हों, खाने के समय खायें, पहले खाने को उठे नहीं। उनकी व्यवहार सज्जनता की मर्यादा, जिसे सँभालने में। खड़े हों तो खड़े हों। वे खड़े हों और स्वयं बैठे रहें, ऐसा नहीं होता। ऐसी सँभाल जिनकी। भगवान ने दीक्षा ली। हजारों राजा (दीक्षा लेकर चल निकले)। आहाहा! भगवान को त्याग हो और अब अपने को घर में (नहीं रहा जाएगा)। देखादेखी, देखादेखी (दीक्षा ले ली)। वजुभाई! क्या? इन्होंने छोड़ा, लाओ न हम भी छोड़ दें। यह दीक्षा ले, लाओ न हम भी दीक्षा लें। इनकी शोभायात्रा बड़ी होती है, सफल एक शोभायात्रा ... चलो न दीक्षा का पालन करेंगे बाद में। पालना था कहाँ, वहाँ धूलधाणी अज्ञानदशा है। किसे कहना दीक्षा और किसे कहना श्रद्धा, अभी इसकी तुझे खबर नहीं है।

हजारों राजाओं ने (दीक्षा अंगीकार की)। चार हजार राजा। देखादेखी (दीक्षा अंगीकार) की। जहाँ अवसर आया। कहावत है न? 'भूखे मरते भाग गया।' कहते हैं न? क्या कहते हैं? साधु चेला बहुत भूखे मरते भाग गया। आती है न भाषा। उन भगवान के (साथ में निकले हुए) चार हजार (राजा) धीरे-धीरे निकलते गये। चले गये। यह तो गजब... कितने दिन अपने सहन करना? पन्द्रह दिन, महीना, दो महीना यह हटते नहीं। कोई पन्द्रह दिन भगे, कोई महीने में भगे। यह तो छह महीने तक ध्यान में खड़े रहे। परन्तु यह क्या अपने? अब इनसे पहले इनको पूछे बिना खाया कैसे जाए? इन्हें पूछे बिना घर कैसे जाया जाए? साथ में नग्न। धीरे-धीरे चारों हजार राजा रवाना हो गये। खोटे देखा-देखीवाले कब तक टिकते होंगे? समझ में आया? वजुभाई!

इसी प्रकार जिसे आत्मा क्या, धर्म क्या, व्यवहार क्या, निश्चय क्या, निमित्त क्या, उपादान क्या—इसकी खबर नहीं और इस खबर के बिना वाडा में आकर भर जायें, वे कहाँ तक टिकते होंगे? वे टिक नहीं सकेंगे। चलो वहाँ। परन्तु क्या है वहाँ? यह चीज़ क्या है आत्मा? विकार क्या, पर्याय क्या, गुण क्या, द्रव्य क्या, संयोग में उस-उस प्रकार की निर्मलता पर्याय के काल में उसे उचित निमित्त कैसा होता है... समझ में आया? ऐसी जिसे खबर नहीं, ऐसा विवेक जिसे नहीं, वह धर्म के श्रवण में भी टिक नहीं सकेगा। टिक नहीं सकेगा, भगेगा बाबा होकर जाओ। भागो भाई। इसमें तो कुछ दूसरा है। इसमें कुछ अपने को समझ में नहीं आता।

आचार्य महाराज (कहते हैं), प्रभु! आपके विरह में पृथ्वियाँ रोती हैं। आहाहा! समझ में आया? उसे हो। हमारे क्या? उसकी दीनता के कारण कहीं हमें दीनता नहीं है। हम तो प्रभुता के साधन में चढ़े हैं। हमने छोड़ा भी नहीं और रखा भी नहीं। समझ में आया? किसे कौन छोड़े? कौन किसे रखे? वह चीज़ कहाँ इसमें थी? हमें जरा राग था, इसलिए उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार लागू पड़ता। हमें राग गया, उस चीज़ के साथ हमारा सम्बन्ध टूटा। वह रोवे तो हमारे कुछ है नहीं। इसी प्रकार यहाँ आचार्य कहते हैं कि दुनिया हमारे आत्मधर्म की चारित्रदशा के वर्णन में न समझे और नग्न देखकर दुनिया प्रतिकूल हो। वह रोवे तो उसके घर में। हमारे कुछ है नहीं। समझ में आया?

जिस समय नदी में जल का प्रवाह आता है, उस समय नदी जो कल-कल शब्द करती है, उसको अनुलक्ष्य कर... उसे अनुलक्ष्य कर **ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह नदी जो कल-कल शब्द कर रही है, यह इसका कल-कल शब्द नहीं है किन्तु यह कल-कल शब्द इस पृथ्वी के विलाप का शब्द है...** कल... कल रव है। रव—आवाज। कल... कल—रव आवाज होती है, ऐसे कल... कल... कल... कलकलाहट कर छोड़े। अरेरे! प्रभु! हमको छोड़कर चले गये? पृथ्वी कल... कल... करती है, हों! उस नदी के बहाने। आहाहा! आँसू बहाती है। आँसू। विलाप करे। हमें कुछ नहीं है, भाई! मनुष्य मर जाता होगा फिर वे रोवे वहाँ खड़ा रहता होगा? अरे! बापू! परन्तु अभी नहीं मरा जाए। अभी चूरमा के लड्डू बनाये हैं। अभी हमने खाये नहीं।

मुमुक्षु : मर जाने के बाद...

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ नहीं खाये जाते उस समय। उस समय तो फिर दबाकर रखो। शाम को नहीं खाये जाते। लड्डू नहीं खाये जाते। कौन जाने बाद में लड़के को कहे, खा लो, खा लो, जाओ।

मुमुक्षु : थोड़ा देरी से प्रसिद्ध करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : देरी से प्रसिद्ध करे। तब तक दबाकर रखे। क्या कहे? मुर्दे को ढाँककर रखो। मुर्दे को ढाँककर रखो। अरे! तुम्हें कलकलाहट नहीं आती कि आहाहा! यह चीज़ जाती है और मैं भी कितने काल रहनेवाला हूँ? यहाँ कहते हैं कि दुनिया हमारे लिये प्रतिकूलता के रव—शब्द निकाले। हमें उसका कुछ है नहीं। कहो, समझ में आया?

क्योंकि जिस समय आपको वैराग्य हुआ था, उस समय आपने इस बेचारी पृथ्वी को सड़े तृण के समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिए आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर.. पृथ्वी को अपमान लगा। स्वयं करते हैं... हम हमारे स्वभाव के साधन में आये हैं। हमें किसी पदार्थ में ममत्व हमारे नहीं हो सकता। हमारे सम्बन्ध नहीं हो सकता। **यह विलाप कर रही है और कोई भी कारण नहीं।** समझ में आया? नदी की है और कुछ जहाज किया है अन्दर।

१७वीं।

गाथा १७

अब, वैराग्य होने के पश्चात् भगवान निश्चलध्यान में स्थित हैं, उस प्रसंग को लक्ष्य में लेकर मुनिराज स्तुति करते हैं।

अइ सोइओसि तइया काउस्सग्गटिठओ तुमं णाह।
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व।।१७।।

अर्थ - हे भगवन्! हे प्रभो! जिस समय आप कायोत्सर्ग -सहित विराजामन थे,

उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में उन्नत मूल स्तम्भ के समान आप अत्यन्त शोभित होते थे।

भावार्थ - हे भगवन्! जिस समय आप कायोत्सर्गमुद्रा को धारण कर वन में खड़े थे; उस समय ऐसा मालूम होता था कि आप इस धर्मरूपी घर के स्थित रहने में प्रधान खम्भे ही हैं, अर्थात् जिस प्रकार मूल खम्भे के आधार से घर टिका रहता है, उसी प्रकार आपके द्वारा यह धर्म विद्यमान था।

गाथा - १७ पर प्रवचन

अइ सोइओसि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह।
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व।।१७।।

हे भगवान! अब कहाँ लिया? दीक्षा तो ली थी। अब भगवान ध्यान में खड़े हैं, वहाँ बात ली है। फिर (बात) उतारते-उतारते कायोत्सर्ग किया। यह अभी कायोत्सर्ग करते हैं... जाणेणं... वह नहीं। समझ में आया? ताहुकाय ठाणेणं... क्या ताहुकाय? अभी भान भी नहीं तुझे। काया क्या, वाणी क्या? मन क्या? कैसे उससे हटा जाए और राग भी छोड़ा छूटता नहीं, ऐसा मेरा सिद्ध स्वरूप है। ऐसे स्वभाव के भान बिना कायोत्सर्ग नहीं हो सकता।

हे नाथ! जिस समय आप कायोत्सर्ग-सहित विराजमान थे,... ध्यान में। चैतन्य की दृष्टि उसकी अवस्था की दृष्टि अन्तर में रखकर, अन्दर में झुकाकर गुम होते थे अन्दर। कायोत्सर्ग। काया और राग और कार्मण और तैजस और औदारिक तीनों का आपको लक्ष्य नहीं था। आप तो लक्ष्य के ध्येय में चैतन्य को पकड़कर ध्यान करते थे। तब **उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में उन्नत मूल स्तम्भ के समान आप अत्यन्त शोभित होते थे।** धर्म के स्तम्भ। प्रभु! आप (स्तम्भ समान हो)। बड़ा मकान होता है न? उसके बीच का स्तम्भ होता है न? इसी प्रकार आप धर्म के स्तम्भ जैसे दिखते थे। हरिभाई ने वहाँ डाला है। वह बाहुबलीजी का चित्र है न। जिस जिस जगह चाहिए, वहाँ डालना चाहिए न। यह तो कलाबाज है न। कहो, समझ में आया? क्या कहा?

पूरे घर में एक स्तम्भ होवे न मोढ? यों भी तो यह खोटे होते हैं, उन्हें भी कहे स्तम्भ तो, हों! नरभेरामभाई! ऐसा भी कहते हैं, गधे की तरह सिर पर डण्डा पड़ता हो तो भी कहे। हम इस घर के स्तम्भ हैं। नहीं कहते वहाँ? क्या कहा जाता है? खळामां दाणा निकाले न? खळामां दाणा। खळा समझते हो? अनाज का... वहाँ ऐसी लकड़ी हो लकड़ी। उसके आधार से सब वह मण्डप टिका हो तो अनाज अन्दर पड़ा रहे। ऐसा शास्त्र में पाठ है। इसी प्रकार प्रभु! आप ऐसा ध्यान करते थे। धर्म के स्तम्भ, धर्म के स्तम्भ आप थे। उस धर्म को टिकाने के लिये आप स्तम्भरूप प्रभु खड़े थे। देखो! बाहुबलीजी। देखा है? श्रवणबेलगोला। बाहुबलीजी की ५७ फीट की मूर्ति। उसका यह फोटो डाला है। इतना वैराग्य दिखता है, इतनी पुण्यता दिखती है। नरभेरामभाई! बाबरा और कुण्डला के घर सब देखे हैं या नहीं? दोनों गाँव के। और दामनगर।

श्रवणबेलगोला, वहाँ ऐसे भगवान बाहुबलीजी खड़े हैं। ओहोहो! वह तो कोई अजायबी चीज़! ऐसे निरखकर मानो ऐसा हो जाए... आहाहा! निर्विकल्प ध्यान के स्तम्भ, ऐसे चढ़े हैं अन्दर के ध्यान में। उनको बेल लिपट गयी हैं, खबर भी नहीं। खबर नहीं। ध्यान में मस्त हैं। समझ में आया? ५७ फीट की बड़ी प्रतिमा है। ओहो! दूर से कहीं से उनका मस्तक दिखाई देता है।

इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव भगवान उनके पिता ध्यान में थे। प्रभु! आप तो धर्म के स्तम्भ। ओहो! चारित्र, वह धर्म है न? यही यहाँ कहते हैं। जहाँ आपने चारित्र लिया और ध्यान में इस धर्म का स्तम्भ वहाँ हो गया। स्थिर होकर शीतल हिम हो गये, प्रभु! ऐसे राग से हटकर स्वरूप की धारा बहे, छठे गुणस्थान में, आप विराजते हो विकल्प, जब उसे छोड़कर, स्थिर होकर ध्यान में मस्त हो, उस ध्यान की प्रशंसा करते हैं। समझ में आया? छठे गुणस्थान में तो पंच महाव्रत का राग—प्रमाद का होता है। वह अच्छा होवे तो उसे छोड़कर धर्मस्थिरता क्यों करे? वह यदि आत्मा का साधन होवे तो उसे छोड़कर स्थिरता क्यों करे? चारित्र अन्दर में स्वस्वरूप में रमणता। समझ में आया? 'कल्पवृक्ष सम संयम केरी जहाँ शीतल छाया।' वह चारित्र की दशा तो मनुष्यदेह में अन्तर की दृष्टि से स्वरूप में ऐसे स्थिर हो, उसे चारित्र कहते हैं। यह लोग वस्त्र छोड़े और वस्त्र बदले और कुछ नंगे पैर चले और गर्म पानी पिया और यह दीक्षा है। दीक्षा

नहीं दख्या है। समझ में आया? दख्या हुआ, दख्या बड़ा अधिक। अनन्त संसार बढ़ायेगा। आहाहा। बापू! तुझे चारित्र की खबर नहीं। चारित्र तो ऐसे शरीर, वाणी, मन से भिन्न दृष्टि हुई, पुण्य-पाप के राग से भिन्न हो गयी और चारित्र प्रगट हुआ स्वरूप की रमणता के आनन्द में। ऐसा चारित्र पुरुष बिना नहीं हो सकता। स्त्री को चारित्र कभी तीन काल तीन लोक में नहीं हो सकता। समझ में आया? ऐसी चारित्र की दशा पुरुष का देह हो वहाँ देहातीत होकर दृष्टि करके स्थिर होता है, उसे धर्म और चारित्र होता है। दूसरे को चारित्र नहीं होता।

कहते हैं, आप तो ऊँचे धर्म के स्तम्भ। ऊँचे ऐसा कहा वापस, हों! **उन्नत मूल स्तम्भ के समान आप अत्यन्त शोभित होते थे।** हे भगवान! जब आप कायोत्सर्ग मुद्रासहित वन में खड़े थे। ... यह मेरे श्रावक और यह मेरे खेत और यह हमारी पुस्तकें और यह हमारे भण्डार और यह हमारी... वहाँ अभी तो श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं। अभी तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र किसे कहना? सच्चे देव किसे कहना? सच्चे गुरु चारित्रवन्त किसे कहना? सच्चे शास्त्र किसे कहना? इसकी जिसकी पहिचान की श्रद्धा नहीं और उसमें गड़बड़ उठावे, (वह) मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे फिर त्याग कैसा और दीक्षा कैसी और चारित्र कैसा? कहो, समझ में आया? केवलचन्दभाई! सूक्ष्म बातें हैं, भाई! कहते हैं न, 'आनन्द कहे परमानन्दा माणसे-माणसे फेर; एक लाखे तो न मळे ने एक त्राम्बियाना तेर।' इस प्रकार बात-बात में सत्य और असत्य का बड़ा अन्तर है।

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा का कहा हुआ चारित्र, कहते हैं कि धर्म का स्तम्भ! ऐसे स्थिर हो गये हैं, वह विकल्प उठे, वह चारित्र नहीं है—ऐसा कहते हैं। पाँच महाव्रत —अहिंसा, सत्य, अचौर्य की वृत्ति उठे, वह चारित्र नहीं है। देह की नग्नता चारित्र नहीं है। ओहोहो! प्रभु! धर्म के स्तम्भ। कुन्दकुन्दाचार्य धर्म के स्तम्भ। जिन्होंने धर्म का स्तम्भ रोपा, कल्पवृक्ष इस भरतक्षेत्र में रोपा। इस चारित्र के प्रणेता हम खड़े। प्रवचनसार में दो अधिकार ज्ञान और ज्ञेय का अधिकार करके अथवा ज्ञान और दर्शन का... जहाँ चारित्र का वर्णन करते हैं कि चारित्रदशा क्या और चारित्र की भूमिका में कैसे विकल्पों की जाति होती है और शरीर की कैसी जाति नग्न आदि होती है, उसका वर्णन करते हुए पहले धर्म अर्थात् चारित्र के प्रणेता, चारित्र कैसा होता है, उसका निश्चय कैसा होता है,

उसका व्यवहार कैसा होता है, उसमें असद्भूतरूप से नग्नदशा भी कैसी होती है, उसके जाननेवाले प्रणेता कहनेवाले यह हम खड़े हैं। समझ में आया ? इसी प्रकार यहाँ आचार्य... आता है न ? उत्तमचन्दभाई ! प्रवचनसार में। एक बार उसकी पहिचान तो करे कि चारित्र कैसा होता है और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र कैसा ? और चारित्र के बिना यह मुनिपने का नाम धराना, वह सब भटकने के रास्ते हैं। चौरासी के अवतार में निगोद-नरक के साधक सब हैं। उसे आत्मा की चीज़ की खबर नहीं है।

कहते हैं, वन में ऐसे स्थिर हो गये। चैतन्य असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का धाम। (उसमें) अन्दर गये, स्थिर हो गये। समझ में आया ? 'जहाँ चैतन्य वहाँ सर्व गुण केवली बोले ऐम। त्यां आगळ प्रगट अनुभवो आत्मा निर्मल करो सप्रेम।' प्रेम की प्रीति, रुचि से अन्दर स्थिर हुए। विकल्प उठे दया का, पर को न मारूँ। नहीं, यह राग भी धर्म नहीं है। यह राग भी चारित्र नहीं है। पंच महाव्रत के भाव, वे चारित्र नहीं हैं। स्थिर हो गये, वह चारित्र है, ऐसा कहना चाहते हैं। चारित्र की पहिचान देकर अपने चारित्र में प्रसंग के स्वयं अपनी करते हैं। भगवान की प्रशंसा करते हैं।

आप इस धर्मरूपी घर के स्थित रहने में प्रधान खम्भे ही हैं,... लो ! **जिस प्रकार मूल खम्भे के आधार से घर टिका रहता है, उसी प्रकार आपके द्वारा यह धर्म विद्यमान था।** आपने धर्म साधन किया और आपने ऐसी कथनशैली केवली में की। यहाँ तो अभी चारित्र तक की बात करते हैं।

गाथा १८

अब भगवान के केशों में भी अलंकार करके स्तुतिकार कहते हैं।

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाण सहसा सरीरधूमो व्व।
सोहइ जिण तुह सीसे महुयरकुलसणिहकेसभरो।।१८।।

अर्थ - हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! भौंरों के समूह के समान काला जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है, वह हृदय में स्थित जो ध्यानरूपी अग्नि, उससे शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर, उसके धुएं के समान शोभित होता है - ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ - धुआँ भी काला है और भगवान के मस्तक पर विराजमान केशों का समूह भी काला है। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है, वह बालों का समूह नहीं है, किन्तु वैराग्य-संयुक्त आपके हृदय में जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि, उससे जलाया हुआ जो आपका शरीर है, उसका यह धुआँ है।

गाथा - १८ पर प्रवचन

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाण सहसा सरीरधूमो व्व।
सोहइ जिण तुह सीसे महुयरकुलसणिहकेसभरो।।१८।।

अब ध्यान के काल में वे बाल दिखते हैं न काले? उन बालों को देखकर भगवान से कहते हैं, हे नाथ! वे बाल नहीं, हों! आपको निर्जरा होती है, वह हमें ज्ञात होती है, ऐसा कहते हैं, भाई! आपके कर्म जलते हैं, यह हमें खबर पड़ती है। इस प्रकार दर्शनपूर्वक जहाँ स्थिरता हुई है, वहाँ कर्म का चूरा उड़ता है और कर्म सुलगे उसमें से धुआँ उठा, वह यह धुआँ आकर दिखता है। समझ में आया?

हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! भौरों के समूह के समान काला जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है, वह हृदय में स्थित जो ध्यानरूपी अग्नि,... आनन्दकन्द को ध्येय में पकड़कर स्थिर हो गये हो, वह **अग्नि, उससे शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर, उसके धुएँ के समान शोभित होता है–ऐसा मालूम पड़ता है।** यह कार्मणशरीर के रजकण धुआँ उठता है, कहते हैं। जलकर राख होती है। ओहोहो! वापस कहा कि कैसा ध्यान कर्म को जलाता है। यह णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... करे, लो! बहुत अच्छा ध्यान। क्या धूल का ध्यान था? णमो अरिहंताणं, वह तो शुभराग है। वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। निर्जरा-बिर्जरा वहाँ नहीं है। ऐई! नरभेरामभाई! यह क्या कहना, इसकी आवाज नहीं निकलती, लो!

ओहोहो! माला जपते हैं। णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... देह छूट गयी। ओहोहो! समाधिमरण। तुझे क्या खबर पड़े समाधिमरण का क्या स्वरूप

होगा ? यह तो अभव्य को भी ऐसा (होता है)। जिसे एक भव घटता नहीं, ऐसा अभव्य भी भगवान का स्मरण (करता है), णमो अरिहंताणं। शुभभाव है। देह छूटे। जाये स्वर्ग पुण्यादि हो तो। चार गति में भटके। उसे ध्यान नहीं कहते। उसे धर्मध्यान और चारित्र नहीं कहते। चारित्र में ध्यान कैसा होता है ? एकाग्र होने से कर्म के रजकण जल जाते हैं। जलते हैं अर्थात् पर्याय बदलती है। और मानो धुआँ होकर सिर में दिखता नजर पड़ता है कि प्रभु ! अन्दर आपकी ध्यानाग्नि सुलग रही है। ओहोहो ! खबर पड़ती होगी ? यहाँ तो कहे, खबर नहीं पड़ती, भाई ! अपने को कुछ खबर नहीं पड़ती। अपने को कितनी निर्जरा होती है, कितनी शुद्धि होती है। यह तो पर के लिये बात करते हैं।

प्रभु ध्यान में बैठे हैं। काले बाल दिखते हैं। तीर्थंकर के शरीर में तो कभी वृद्धावस्था आती ही नहीं। उनके बाल सफेद नहीं होते, वृद्धावस्था नहीं होती, चमड़ी... नहीं पड़ती। कुँवरजीभाई ! उनका शरीर शिथिल नहीं पड़ता। यह कहते हैं कि पहिचान करे, श्रद्धा-ज्ञान करे तो ऐसा शरीर और राग रह गया, उसमें से आवे। उसके लिये बात होती है ? इस प्रकार भगवान वृद्धावस्था जैसे दिखें अर्थात् उम्र बड़ी हो तो भी उनमें वृद्धावस्था नहीं दिखती। यही कहते हैं कि काले बाल। लो, कितने समय में ... की दीक्षा है ? ८३ लाख पूर्व। ८४ लाख पूर्व का एक भाग रह गया। एक लाख पूर्व। ८३ लाख (पूर्व)। इतना भाग गया। जैसे ८४ वर्ष का आयुष्य हो और ८३ वर्ष में बाहर निकले तो कितना भाग रह गया ? इसी प्रकार ८३ लाख पूर्व गये। एक पूर्व में ७० लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। एक पूर्व में ७० लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़। ऐसे-ऐसे ८३ लाख पूर्व रहे। कितने लड़के के लड़के और कितनी रानियाँ, कितना... कहते हैं कि प्रभु ! आपके बात तो काले थे, हों ! ऐसा कहकर शरीर में वृद्धावस्था भी नहीं थी, (ऐसा कहते हैं)। ओहोहो ! कुँवरजीभाई ! यह ८४ वर्ष का आयुष्य हो न, तो ८३ वर्ष में संसार छोड़े तो एक वर्ष बाकी हो तो भी काले के काले बाल रहें। नेमिदासभाई ! यहाँ तो सफेद हो गये हैं यहाँ सब। यहाँ सफेद हो गये हैं। यह भगवान ८३ लाख पूर्व में निकले, शरीर तो मानो युवक हो और काले बाल ऐसे भ्रमर की तरह चक्कर मारकर पड़े हों। प्रभु ! हमें तो ऐसा दिखता है न ! आप राग के विकल्प से छूटकर निर्विकल्प ध्यान में स्थित हुए, उस कर्म का धुआँ हो गया और मस्तक पर दिखता है। समझ में आया ?

(संवत्) १९७६ में एक बात हुई थी न, कही थी न एक बार? धांग्रध्रा में न, मगनभाई। छोटाभाई! वे मगनभाई नहीं थे? मगनभाई और वजुभाई दो। दशाश्रीमाली। १९७६ में पहले-पहले गये।

मुमुक्षु : .... के भाई?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भूराभाई के बापू मगनभाई।

७६ के वर्ष। पहले-पहले वीरमगाम से वहाँ गये। वहाँ सब लोग सामने आये। प्रेम तो (था न)। सब नाम तो सुना हुआ था न। ७६ की बात है। कितने वर्ष हुए? ४०। ४० हुए? नहीं ४२। ४०-४० बराबर है। २४ और १६=४०। सब सामने आये। मगनभाई कहे, महाराज! जंगल में एक नदी थी, उसके किनारे एक देहरी थी। ढक्कनवाली। ऐसे देहरी खुल्ली और ऊपर ढक्कन और चार स्तम्भ। यहाँ महाराज रहना है? यह अभी गाँव में जिन्दगी में (पहली बार) आये और यह क्या बोलता है? होगा कुछ, कहा। गाँव में गये फिर बात। यहाँ रहना है? महाराज! गाँव में गये। एक आये। कहे, महाराज! मैंने तो आपको जिन्दगी में देखा नहीं परन्तु रात्रि में स्वप्न में आये थे और आपको एक लंगोटी देखी और शरीर ऐसा देखा था, लो! वे तो ऐसा बोले थे, मैंने साधु देखे। वह तो लंगोटी को साधु कहते थे न और इस प्रकार से नग्न साधु... ७६ की बात है। देखे। और मैं फिर ऐसे ध्यान करता था अन्दर विचार (करता था), वहाँ वे परमाणु मुझे दिखते थे अन्दर हटे वे। सफेद खिरने लगे। यह कैसे होगा? कहा, ऐसा नहीं दिखता, भाई! परन्तु विचार में लोग विचार करे, एकाग्र हो। वह करे। वाँचन-बाँचन सही। तत्त्व की तो बात थी कहाँ? शुभभाव में संवर और सब बातें चलती थी।

अन्दर ऐसा करते हुए यहाँ से मानो सफेद परमाणु खिर जाते हैं। ऐसा प्रश्न किया। नरभेरामभाई! परन्तु ऐसा समय लिया हो, उसे खबर पड़े न? कहा, भाई! वे परमाणु खिरे, वे नजर से नहीं दिखते। कार्मण के परमाणु बहुत सूक्ष्म हैं। वे नजर से नहीं दिखते। यहाँ तो कहते हैं कि हम देखते हैं, आपके ध्यान में कर्म को जले हुए, धुएँरूप से निकले, जल गये हैं, उन्हें देखते हैं। ओहोहो! यह निर्जरा हो और शुद्धि बढ़े, उसकी खबर पड़ती है या नहीं - ऐसा कहते हैं। धन्नालालजी! समझ में आया? आहाहा!

भावलिंगी सन्त जो धर्म के स्तम्भ, उन भगवान की ऐसी स्तुति करते हुए आह्लाद में भगवान को मानो निकट में खड़े हों, (ऐसा देखकर कहते हैं), प्रभु! आप तो ध्यान करते हो न, देखो! यह ध्यान है। ले, परन्तु वह तो कहीं मोक्ष में पधारे हैं। वे तो मोक्ष में पधारे हैं। भले पधारे परन्तु किस स्थिति से पधारे, उसका हम स्मरण करते हैं, उसका हम ज्ञान करते हैं और देह की क्रिया से कर्म खिरते नहीं, ऐसा कहते हैं। दया, दान, व्रत, तप के भाव का विकल्प, वह राग कहलाता है। उससे कर्म-बर्म खिरते नहीं और सम्यग्दर्शन बिना, चारित्र बिना भी कर्म नहीं खिरते।

कहते हैं, प्रभु! यह ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभु! आपके मस्तक के ऊपर जो यह बालों का समूह है, वह बालों का समूह नहीं, हों! ले। बाल है, वे बाल नहीं। परन्तु वैराग्य संयुक्त आपके हृदय में जो जलहलते ध्यानरूपी अग्नि द्वारा। जलहलती अग्नि एकाग्र हुई। ज्वाजल्यमान अग्नि, जलहलती अग्नि। भाषा होती है न सब? कलकलाहट वाले परिणाम। वह कलकलाहट का आया था, हों! कलकलाहट का। १७२ में आता है। यह भाषा है न सब? सराबोर हलुवा और कलकलता पानी, है न ऐसी भाषा या नहीं?

यहाँ कहते हैं कि ऐसे जलहलते ध्यानरूपी अग्नि द्वारा भस्म किया गया जो आपका कार्मणशरीर उसे वह ... है। प्रभु! आप अशरीरी होनेवाले हैं। उस अशरीरी का साधन करते हो, वह कार्मण शरीर जलता जाता है, जल जाता है। यह नये कार्मणशरीर का कारण है। शरीर-बरीर आपको भविष्य में रहनेवाला नहीं है। कार्मण सुलगने लगा है।

गाथा १९

अब, ध्यान करते-करते भगवान को केवलज्ञान होता है, उसकी बात को लक्ष्य में रखकर स्तुति करते हैं -

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणिम्मलसमाहि भूईए।
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं।।१९।।

अर्थ - हे जिनेश! हे प्रभो! निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के

नष्ट होने पर, आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित हुआ।

भावार्थ - जब तक इस आत्मा में अखण्डज्ञान (केवलज्ञान) की प्रगटता नहीं होती, तब तक यह आत्मा, लोक तथा अलोक के पदार्थों को नहीं जान सकता, किन्तु जिस समय उस केवलज्ञान की प्रगटता हो जाती है, उस समय यह लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है। उस सम्यग्ज्ञान की प्रगटता तेरहवें गुणस्थान में, जबकि प्रकृष्ट ध्यान में चार घातियाकर्मों का नाश हो जाता है, तब होती है। इसी आशय को लेकर ग्रन्थकार स्तुति करते हैं कि हे प्रभु! आपने समस्त प्रकृष्ट ध्यान से चार घातियाकर्मों का नाश कर दिया है; इसीलिए आप समस्त लोकालोक को भलीभाँति जाननेवाले हुए हैं।

गाथा - १९ पर प्रवचन

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणि मलसमाहि भूईए।
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं।।१९।।

आहाहा! अब ध्यान का फल केवलज्ञान लाये। सर्वार्थसिद्धि से शुरु किया है। पूरा जीवन ख्याल में तैरता है। **हे जिनेश!** हे प्रभु! **निर्मल समाधि के प्रभाव से...** देखो! यह प्रभाव कहा। कोई पंच महाव्रत के विकल्प द्वारा या नग्नदशा द्वारा या अपवास की क्रिया द्वारा वे कर्म खिरे नहीं हैं। परन्तु **निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर,...** भगवान को पहिचाना। यह भगवान को पहिचाना। प्रभु! ऐसे चार कर्म नाश हुए, उनकी यह तेरी वाणी है। हम वाणी को पहिचानते हैं और आपको भी पहिचानते हैं। कहो, समझ में आया?

चार घातिया कर्मों के... देखो! अस्तिता स्थापित की है। आपने कर्म का नाश किया है, (नाश) **होने पर, आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में...** लो! दर्पण आया, भाई! **यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित हुआ।** ऐसा प्रभु केवलज्ञान, आत्मा की समाधि, शान्ति में स्थिर होने से पुण्य-पाप के महाव्रत और अव्रत के रागरहित होकर,

स्वभाव में स्थिर होने से, उसके प्रभाव से चार घातिकर्म का नाश हुआ, केवलज्ञान ऐसा प्रगट हुआ कि ऐसे दर्पण में जैसे वस्तु सामने दिखती है, वैसे आपके चैतन्य दर्पण में लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है। लो, ऐसा केवलज्ञान होता है - यह सिद्ध करते हैं। अभी दृष्टान्त दिया था न, भाई ने—फूलचन्दजी ने। अपने शक्ति में भी आयेगा, हों! समझ में आया?

लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित हुआ। भगवान के ज्ञान कोई बाकी नहीं रहा, ऐसा कहते हैं। एक समय में तीन काल और तीन लोक भूत, भविष्य और वर्तमान, ऊर्ध्व, मध्य और अधो तथा खाली अलोक। अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल, अनन्त भाव, अनन्त भव जगत के। आपके ज्ञान में सब आ गये। आपके ज्ञान में नोंध है, तीन काल तीन लोक की (नोंध है)। ओहोहो! समझ में आया? **जब तक इस आत्मा में अखण्डज्ञान (केवलज्ञान) की प्रगटता नहीं होती, तब तक यह आत्मा, लोक तथा अलोक के पदार्थों को नहीं जान सकता,...** एक बात यह की। **किन्तु जिस समय उस केवलज्ञान की प्रगटता हो जाती है, उस समय यह लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है।** लो! यह लोग अभी चिल्लाहट मचाते हैं। नहीं, भगवान नहीं जानते। भगवान पर को नहीं जानते, भगवान तो स्व को जानते हैं।

सवेरे आया न कि आत्मदर्शनमय... अभी बाकी है। सब जानना या देखना, वह तो आत्मदर्शनमय और आत्मज्ञानमय शक्ति का विकास उसमें है। पर के कारण उसमें कहाँ है? वह अपना स्वभाव, सर्वज्ञशक्ति से भरपूर है। उसकी जो प्रतीति और श्रद्धा हुई है, भान हुआ, उसमें स्थिर हुए, चार घनघाति (कर्म का) नाश हुआ। केवलज्ञान हुआ। लोकालोक, दर्पण में जैसे ज्ञात होता है, वैसे ज्ञात होता है। देखो! यह अरिहन्त पद की और केवलज्ञान की पहिचान। यहाँ तो अभी (ऐसा कहे), उसमें ज्ञात नहीं होता। भगवान ने यदि सब जाना होवे तो मेरी अन्तिम पर्याय कौन सी, यह भगवान कह दे। कहो, मेरी अन्तिम पर्याय। ऐ... परन्तु अन्तिम पर्याय (होवे) तो फिर द्रव्य भी नहीं रहा। आहाहा! और वापस यह सब त्यागी नाम धरानेवाले। यदि भगवान ने तीन काल जाने हों तो भूतकाल की मेरी पहली पर्याय कौन सी थी, ऐसा बतला दे। नहीं-नहीं। सामान्य जाना है, सब भिन्न-भिन्न करके नहीं जाना, (ऐसा वे कहते हैं)।

यहाँ कहते हैं कि भिन्न-भिन्न करके तीन काल-तीन लोक जाने बिना रहे नहीं। तीन काल जाने तो तीन काल का अन्त आ गया ज्ञान में, तो वहाँ भी अन्त आ जाता है, ऐसा नहीं है। तीन काल तीन लोक ख्याल में आये हैं। दर्पण में जैसे दूसरी चीज़ें ज्ञात होती हैं। दर्पण जड़ है। दर्पण जड़ है, उसे ख्याल नहीं कि मुझमें कौन प्रतिबिम्बित होता है? चैतन्य दर्पण? ज्ञायक ज्योति है। आत्मा का पुण्य-पाप के राग से हटकर स्वरूप का ध्यान किया, तब केवलज्ञान हुआ, उसमें लोकालोक के पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। कोई बाकी नहीं रहते। कहो, समझ में आया?

प्रभु! जिस समय उस केवलज्ञान की प्रगटता हो जाती है, उस समय यह लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है। उस सम्यग्ज्ञान की प्रगटता तेरहवें गुणस्थान में, जबकि प्रकृष्ट ध्यान में चार घातियाकर्मों का नाश हो जाता है, तब होती है। लो! तेरहवें गुणस्थान में। गुणस्थान तेरहवाँ। तब और कितने गुणस्थान होंगे? यह तो अंक तो आता होगा। इसमें कुछ पूछने का नहीं होता। ऐसा पूछकर क्या करे यह तो? खोज हो। उसका क्या है?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : तब तो ठीक पड़े। सौ में से सौ नम्बर मिलें। वह एक भी नम्बर मिलता नहीं।

इसमें कहते हैं कि भगवान! आपको तेरहवीं भूमिका—आत्मा की दशा प्रगट हुई। चौथी भूमिका सम्यग्दर्शन लेकर आये थे, मुनि हुए तो छठवाँ-सातवाँ, केवल (ज्ञान) हुआ, तब तेरहवाँ। सब गुणस्थान की दशा कैसी होती है, वह भी इसके ख्याल में आ गयी है। उस समय प्रभु! आपको सम्यग्ज्ञान की ज्योति प्रगट हुई। सम्यग्ज्ञान तो पहले से था परन्तु पूर्ण प्रगट हुआ। कोई चीज़ जाने बिना रही नहीं। उस ध्यान द्वारा घातिया कर्म का नाश होने पर आप समस्त लोकालोक के भलीभाँति ज्ञाता हुए। गुजराती है न इसमें। लोकालोक के सब भलीभाँति। भलीभाँति। कोई बाकी रहा नहीं। ऐसा केवलज्ञान, ऐसा सर्वज्ञपद प्रभु आपको प्रगट हुआ। कोड़ाकोड़ी सागरोपम हुए परन्तु हमें विश्वास है कि आप केवलज्ञानी थे। कहो, समझ में आया?

गाथा २०

आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण।
कम्मचउक्केण मुअं व णाह भीऐण सेसेण॥२०॥

अर्थ - हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपने ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों का जड़सहित अर्थात् सर्वथा नाश कर दिया था; उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देखकर शेष जो चार अघातियाकर्म रहे, वे भय से आपकी आत्मा में मरे हुए के समान रह गये।

भावार्थ - जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - इन चार घातियाकर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है; उस समय शेष वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र - ये चार अघातियाकर्म बलहीन रह जाते हैं। इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवान! जो अघातियाकर्म आपकी आत्मा में मृतक के समान अशक्त होकर पड़े रहे, उनकी अशक्तता का कारण यह है कि जब आपने अत्यन्त प्रबल चार घातियाकर्मों को नाश कर दिया, उस समय उनको बड़ा भारी भय हुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जाएँगे; इसीलिए वे मरे हुए के समान अशक्त ही आपकी आत्मा में स्थित रहे।

गाथा - २० पर प्रवचन

आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण।
कम्मचउक्केण मुअं व णाह भीऐण सेसेण।।२०।।

आहाहा! देखो न! अब क्या बात ली है? प्रभु! आपको चार कर्म का नाश हुआ। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल, अनन्त वीर्य प्रगट हुआ। अब चार कर्म जो बाकी रहे न, (वे) जली हुई रस्सीवत् मरे हुए पड़े हैं। कहते हैं न? विवाद उठाते हैं न दोनों में? नहीं, चार घातिकर्म जली हुई डोरीवत् नहीं होते। होवे तो इतने अटके हैं। जली डोरीवत् नहीं कहलाते। ऐसे उस सम्प्रदाय में कहा जाता है। ऐसा नहीं है। श्रीमद् में

आता है न अपूर्व अवसर में। चार अघाति कर्म जली डोरीवत्। जली हुई डोरी अर्थात्, जली डोरी समझते हो ? ... आकारमात्र पड़ा है। योग्यता स्वयं की है, इसलिए स्वयं रहे हैं और कर्म तो मुर्दे जैसे रहे, मुर्दे जैसे रहे, ऐसी भी साथ में बात (करते हैं)।

हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपने ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों का मूल मे से अर्थात् सर्वथा नाश कर दिया था;... मूल में से निकल डाले। **उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देखकर शेष जो चार अघातियाकर्म रहे, वे भय से आपकी आत्मा में मरे हुए के समान रह गये।** आहाहा! किस शैली से बात करते हैं! नाश हुए या हुए, मरे हुए पड़े हैं अब। अघाति तो मुर्दे। और अभी सम्प्रदाय में ऐसा भी कहे, भगवान चार अघाति कर्म के कारण रहे हैं। पूर्व में उन्होंने योग सेवन किया था, उससे कर्म बँधे, उन कर्म के फलरूप से उन्हें रहना पड़ता है। ऐसा नहीं है। उनकी योग्यता इतनी है। चार कर्म जले हुए मुर्दे जैसे पड़े हैं। मर गया, वह अब खड़ा होनेवाला नहीं है। उसे जोर देते हैं। चार अघाति का जोर। देखो! उसमें वेदनीय के कारण ऐसा होता है, आयुष्य के कारण इतना रहना पड़ता है, अमुक के गोत्र के कारण ऐसा होता है, नाम कर्म के कारण... यहाँ तो आचार्य प्रभु कहते हैं कि वे तो जले हुए हैं। मर गये हुए देखता हूँ। चार कर्म का नाश किया, इसलिए बाकी रहे हुए वे मुर्दा हैं।

जिस समय ज्ञानावरणादि चार... नाम है न ...चार? **चार कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है;...** सर्वथा, हों! थोड़ा (भी) बाकी नहीं। **उस समय वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र – ये चार अघातियाकर्म बलहीन रह जाते हैं।** हीन हो जाए। **इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवान! जो अघातियाकर्म आपकी आत्मा में मृतक के समान अशक्त होकर पड़े रहे, उनकी अशक्तता का कारण यह है कि जब आपने अत्यन्त प्रबल चार घातियाकर्मों को नाश कर दिया,...** जोरदार थे। घनघाति कहते हैं न उन्हें? आत्मा को कुछ घात करते होंगे या नहीं? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कहीं घात करे, यह तीन काल में नहीं होता। यह तो निमित्त के कथन हैं। आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द की दशा की हीनरूप परिणमन हो, तब उन चार कर्म अघाति को निमित्तरूप से घनघाति जलने के बाद बाकी रह गये। उन घातियाकर्मों को भी नाश कर डाला। **उस समय घातियाकर्मों को बड़ा भारी भय**

हुआ... लो! **कि हम भी अब निर्मूल किये जाएँगे; इसीलिए वे मरे हुए के समान अशक्त ही आपकी आत्मा में स्थित रहे।** समझ में आया?

श्रीमद् ने कहा है न उसमें? 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान जो, इससे प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये।' समझ में आया? आत्मा राग और पुण्य के भाव से भिन्न भान में आया, इसी प्रकार प्रक्षीण स्वरूप की एकाग्रता करते हुए चारित्रमोह को प्रक्षीणरूप से नाश होते देखते हैं। इसलिए भी, हों! स्वभाव के साधन द्वारा चारित्रमोह भी प्रक्षीण होता देखते हैं। भगवान को कहते हैं, प्रभु! आपके चार घातिकर्म नाश हुए, अघाति को हम मुर्दे जैसे देखते हैं। इसमें बड़ा विवाद। कोई कहता है कि ऐसा है और कहे ऐसा है। अरे! भगवान! सुन तो सही। इन अघातिकर्मों का समय-समय में जो उदय आता है न? उसे तो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि क्षायिक कहते हैं। क्षायिक ही कहते हैं। क्षण-क्षण में निर्मलता बढ़ती जाती है। पड़े हैं, वे तो मुर्दे जैसे हैं। वे कहीं खड़े होकर आत्मा को-आनन्द को नुकसान करे, ज्ञान को (नुकसान करे), ऐसा कुछ है नहीं। मोह था, तब तक अघाति को निमित्तरूप से कहा जाता था। मोह टलने के बाद उनका कोई सामर्थ्य रहा नहीं। ऐसा कहकर चार अघाति बाकी रहे, उनके लक्ष्य को अनुलक्ष्य करके भी भगवान की स्तुति (की है)। और स्वरूप ऐसा होता है तथा उनके भक्त भक्ति करनेवाले इस प्रकार से श्रद्धा-ज्ञान करते हैं, और उन्हें बहुमान आता है, ऐसा वर्णन कर रहे हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल ३, गुरुवार, दिनांक - २५-०८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - २१ से २६, प्रवचन-७

यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति चलती है। यह आत्मा जिसे पूर्ण पर्यायरूप से प्रगट हुआ, ऐसे परमात्मा को साध्य में, लक्ष्य में लेकर यह स्तुति की गयी है, क्योंकि जिसे आत्मधर्म प्राप्त करना (हो) और प्राप्त हुए हों, उनमें सर्वज्ञ परमात्मा वे निमित्तरूप से देवरूप से होते हैं। जिन्हें आत्मा की दिव्यशक्तियाँ आत्मपदार्थ में पड़ी है, उनकी जिसे भक्ति जगी है अर्थात् शक्तिवान ऐसा जो आत्मा, उसकी जिसे अन्तर में भक्ति अर्थात् रुचि अर्थात् प्रीति अर्थात् परिणमन हुआ है, उसे निश्चयभक्ति कहा जाता है। अर्थात् सच्ची भक्ति। उसे सर्वज्ञ परमात्मा पूर्ण देव जिन्हें दिव्यशक्ति प्रगट पूर्ण वर्तमान में वर्तती है, उनके प्रति भक्ति का राग, उल्लास, प्रेम, प्रतीति, प्रीति आये बिना नहीं रहती और उनकी पहिचान भी उसे—धर्मी जीव को होती है।

स्तुति करते हुए आचार्य महाराज ऋषभदेव भगवान इस भरतक्षेत्र में आद्य थे, वहाँ से उनकी स्तुति की है। यह भगवान ऋषभदेव का आत्मा सर्वार्थसिद्धि में था, वहाँ से आया। वहाँ से इनकी शुरुआत की है। (यह) करते हुए यहाँ कहाँ तक आया? पहला तो (कहा), हे नाथ! आप सर्वार्थसिद्धि में थे। वहाँ आपके कारण उस विमान की शोभा थी। यह आप जब वहाँ से पृथ्वी पर नाभिराजा के कुल में आये, उसकी शोभा नष्ट हो गयी है। प्रभु! आपके कारण वहाँ शोभा थी। आप यहाँ आये तो कुल की शोभा आपके कारण से हुई। और माता की शोभा भी आप गर्भ में आये (तो) वह माता भी समस्त स्त्रियों में सर्वोत्कृष्ट गिनती में आयी और उन्हें पटबन्ध बँधा कि जहाँ तीर्थंकर तीन लोक के नाथ जिनके गर्भ में आये, वह स्त्री एक, दो भव करके मुक्ति पावे, ऐसी जिसकी योग्यता होती है। भगवान के कारण से नहीं। नेमचन्दभाई! भगवान के कारण से?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तो बहुत हुआ यह देखो न, जैनतत्त्व मीमांसा। समझ में आया?

भगवान का आत्मा जहाँ माता के गर्भ में (आया), उनका आत्मा अल्प भव में

मुक्ति पावे, ऐसा ही होता है। माता को भी धन्य है। पश्चात प्रभु! आपको जन्माभिषेक में ले गये, वह मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ। इसलिए मैं तो ऐसा मानता हूँ कि ज्योतिषक के देव आपका जन्माभिषेक वहाँ हुआ, इसलिए उसकी प्रदक्षिणा दे रहे हैं। कहो, समझ में आया? ऐसे भक्ति के गुण में स्मृति में आने पर उनके गुणों के प्रति जब उल्लास आवे, इसलिए ऐसी भक्ति हुए बिना रहे नहीं। वहाँ से प्रभु जब आप यहाँ आये और जब क्रम से वैराग्य हुआ, वैराग्य हुआ। नीलांजनादेवी की आयुष्य की स्थिति पूरी होने पर आप सिंहासन में बैठे थे। आपने देखा कि ओहो! इस देवी की स्थिति पूरी हुई। यह सब विनश्वर है। ऐसा लक्ष्य करके आपने वैराग्य किया और इस संसार को छोड़ दिया।

इस संसार को छोड़ने पर, प्रभु! यह पृथ्वी, जब आपने सड़े हुए तृण समान पृथ्वी को जानकर और छोड़कर वीतराग वैराग्यरूप हुए, तब यह पृथ्वी नदी के बहाने कलकल करके विलाप करती है। नेमचन्दभाई! जहाँ हो वहाँ यह भक्ति देखते हैं। आपके विरह में पृथ्वी रुदन करती है, प्रभु! आपका विरह हमें पड़ा, पूर्ण सर्वज्ञदशा का हमको विरह और आप सर्वज्ञपद को प्राप्त, उसका व्यवहार से हमको विरह। समझ में आया? उसका हमको हे नाथ! खेद वर्तता है। अहो! ऐसे भरतक्षेत्र में जन्मे, उसमें हमारी पूर्ण दशा की प्राप्ति का हमको विरह है और यह पूर्ण प्राप्त पुरुष का भी हमको भरतक्षेत्र में वर्तमान में विरह पड़ा। इसलिए यह पृथ्वी विलाप करती है। प्रभु! हमें इसका खेद होता है। ओहोहो! कहो, समझ में आया? दुनिया की चीज़ नाश हो, ऐसा उसमें से हमें कुछ नहीं है। वह तो सब क्षणभंगुर है। समझ में आया? बाद में कहा था न कि इस प्रकार शकेन्द्र जब आपकी स्तुति में नृत्य करता था, हाथ चौड़े किये, वहाँ बादल टूट गये। खण्ड-खण्ड रहा, वह क्षणभंगुर रहा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा राग और पुण्य के विकल्प की रुचि छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करने पर वे कर्म बाकी (रहे), वह क्षणभंगुर नाशवान जैसे रहे।

पश्चात् (स्तुति) करते हुए (कहते हैं), नाथ! आपने चार घातिकर्म का नाश किया और सम्यक् केवलज्ञान को प्राप्त हुए। चार अघाति रहे, वे अब मुर्दे जैसे रहे हैं। उन्होंने जाना कि इन चार को बड़े योद्धा को मार डाला, हम किस हिसाब में? मुर्दे जैसे, जली हुई डोरीवत् अघातिकर्म पड़े हैं। यह अन्तिम यहाँ तक आया है।

२१वीं गाथा। अब समवसरण में भगवान विराजते हैं, उन्हें लक्ष्य कर भक्ति का विकल्प वर्णन करते हैं। भगवान समवसरण में पूर्व के पुण्य के कारण जो धर्मसभा इन्द्र आकर रचते हैं, उसका लक्ष्य करके, यह सिंहासन आदि पुण्य का फल और उसमें मुनि आदि विराजते हैं, उनके आप नायक और शोभा में सुन्दर शृंगार हो। इसके कारण मुनियों की-सबकी शोभा है। यह लक्ष्य कर बात करते हैं। २१ (गाथा)।

गाथा २१

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिउं सहसि समवसरणम्मि।
उवरिव्व सण्णिवट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं।।२१।।

अर्थ – हे जिनेश! हे प्रभो! जिस समवसरण की रचना चित्र–विचित्र मणियों से की गयी थी, उस समवसरण में जितने भी मुनि थे, उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे।

गाथा – २१ पर प्रवचन

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिउं सहसि समवसरणम्मि।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं।।२१।।

हे जिनेश! हे प्रभु! **जिस समवसरण की रचना चित्र–विचित्र मणियों से की गयी थी,...** सिंहासन। महा इन्द्र समवसरण-धर्मसभा रचते हैं। वह रच जाता है और इन्द्र कहता है, प्रभु! यह तो कोई आपका पुण्य ही रच डालता है। हमें ऐसी खबर नहीं, ऐसा यह रच जाता है। यह पूर्व के तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य का उदय आया है, उस काल में वहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ है। दोनों साथ में हैं। इससे जहाँ इन्द्र ऐसी धर्मसभा रचते हैं... ओहोहो! आपका पुण्य भी क्या! और आपको पूर्ण आनन्ददशा की पवित्रता की प्राप्ति आश्चर्यजनक है। दोनों आश्चर्यजनक हैं। ऐसा वहाँ इन्द्र को भी लगता है।

कहते हैं **जिस (समवसरण) की रचना चित्र–विचित्र मणियों से की गयी**

थी,... ऐसा समवसरण। पूरा समवसरण। साधारण पुण्य के प्राणी को उनका समवसरण कैसा होता है, इसका ख्याल भी नहीं आता। कितने ही तो ऐसा कहते हैं कि यह सब शास्त्र में अतिशयोक्ति करके वर्णन किया है। आहाहा! अरे! तुझे खबर नहीं, भाई! जहाँ आत्मा का स्वरूप अन्तर के चैतन्य का खजाना, राग और ज्ञान की एकताबुद्धि तोड़कर आत्मा का भान हुआ, उसमें उस भूमिका में जो शुभराग होता है, उसमें उसे तीर्थंकर होने के योग्य जो द्रव्य हो, उसके पुण्य के परिणाम उसे जो आवें और उसके बन्धन में तीर्थंकर प्रकृति होने पर उसके फल की अतिशयता अत्यन्त प्रगट हुई।

समवसरण ऐसे... साधारण (लोग) कहे, नहीं, नहीं। यह तो ऐसा है और वैसा है। बहुत से लोग जैन सम्प्रदाय में जन्म कर भी ऐसे समवसरण आदि की विशेषता की अतिशयता श्रद्धा में नहीं लेते। वे तो सब एक अच्छे पुरुष हों और उनके सिर पर ऐसा हो, अच्छी कुर्सी पर बैठाया हो और सिर पर छत्र, धूप पड़ती हो और हिलते हों तो छत्र रखे, ऐसा भगवान को होगा। नरभेरामभाई! देखा नहीं, बापू! तूने आत्मा के चमत्कार देखे नहीं हैं। जिसके अन्तर्मुहूर्त में भगवान आत्मा अखण्डानन्द जागृत श्रद्धा-ज्ञान में जागृत हुआ, उसके पुण्य के परिणाम अनन्त काल में नहीं हुए, उस जाति के होते हैं और उसके पुण्य के बँधन में भी तीर्थंकर प्रकृति के परमाणु उसे अनन्त काल में उस पर्यायरूप परिणमे, ऐसा नहीं होता। और उसके फलरूप से ऐसे मणिरत्न से बना हुआ समवसरण। प्रभु! एक तो पुण्य का फल वर्णन किया।

दूसरा। आप जब समवसरण में विराजते थे, उसमें जितने मुनि थे। ओहोहो! सन्त, दिगम्बर मुनि आत्मध्यान में मस्त, असंख्य वर्ष के अन्तर से भी रहे हुए, उन्हें आचार्य महाराज ऐसे निकट—समीपता करते हैं। अभी तो भगवान तो मोक्ष पधारे हैं, परन्तु समवसरण की अस्ति की सत्ता की समीपता में जब मैं बैठा हूँ, ऐसा करके वर्णन कर रहे हैं। भगवान वे मुनि थे। उन **उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे।** आपकी शोभा। इस प्रकार मुनियों का झुण्ड, गणधर, चार-चार ज्ञान के धनी। अन्तर्मुहूर्त में दिव्यध्वनि सुनकर बारह अंग की रचना करने की जिनकी ताकत, ऐसे सन्तों के झुण्ड महा अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आराधन करनेवाले, ऐसे मुनियों के झुण्ड में प्रभु! आप ऐसे शोभते... ऐसे शोभते... आपकी सभा में तो यह ही होता है। समझ में आया?

यह गोला मारते हों न यह सब नहीं अन्दर? उस सभा में ऐसा हो। राजा के निकट यह सब मुख... इकट्ठे नहीं होते? नरभेरामभाई! यह साधारण हो और कोई पाँच, दस हजार, पचास हजार, लाख, दो लाख मिलते हों, वह राजा। उसके पास ... रची हुई हो। वह बात नहीं करती। रींगणा बहुत अच्छा। राजा को कहा न रींगणा अच्छा नहीं... रींगणा अच्छा नहीं... ऐसा राजा से कहा। तब सब दीवान उनकी मुख्य मण्डली हो और कहे, हाँ साहेब। दूसरे दिन कहा कि रींगणा अच्छा नहीं। उसमें बिगाड़ हो, उसमें जीवांत हो। कहे-हाँ, साहेब। आज कैसे यह? हम रींगणा के पिता के नौकर हैं? आप कहो, वैसा हम कहें। परन्तु किसका कहें? कुँवरजीभाई! यह सब मक्खन लगाते हैं, हों! मक्खन लगाते हैं। यह अमुक ऐसे है, हमारे राजा ऐसे, हमारे सेठ ऐसे, हमारे अमुक ऐसे। बाहर से मक्खन और अन्दर में समझते हों (कि) है बड़ा मूर्ख। वजुभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उनका राजा तो होशियार (था)। परन्तु अन्त में वह मूर्ख हो गया, उसका मस्तिष्क घूम गया और ऐसा हो गया था। उसमें दस लाख का तालुका (तहसील)... गया वहाँ ऐसे आँख में से आँसू बह गये। हाय... हाय...! हो गया... गया। पराधीन... पराधीन। प्रभु! इन सन्तों के झुण्ड में आपकी शोभा, हों! वे यह मुखमण्डलीया और विकथा करनेवाले तथा पाप को माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीव, उनकी सभा के आप नायक न हो... न हो। आपके साधक जीव, उनकी आपकी शोभा उससे शोभते थे कि वाह!

ऐसा कहते हैं कि हमारे साधक स्वरूप हम आत्मा के स्वरूप को साधते हैं, उसमें साध्य की शोभा पूर्णानन्द की प्राप्ति की शोभा है, उसे—साध्य के कारण यह साधकपना शोभता है। हेमचन्दभाई! देखो! यह मुनि स्तुति करते हैं। यह २१ (गाथा) हुई। २२ ।

गाथा २२

समवसरण में विराजमान सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करते हुए मुनिराज कहते हैं कि-

लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये।
लहिऊण लहइ महिमं रविणो णलिणिव्व।।२२।।

अर्थ - हे भगवन्! हे प्रभो! जिस प्रकार पुष्प में स्थित कमलिनी, सूर्य की किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है, उसी प्रकार यद्यपि समवसरण की शोभा स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र! आपके चरण-कमलों को पाकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

भावार्थ - एक तो कमलिनी स्वभाव से ही अत्यन्त मनोहर होती है, किन्तु यदि वही कमलिनी सूर्य की किरणों को प्राप्त हो जावे तो और भी महिमा को प्राप्त होती है; उसी प्रकार समवसरण की शोभा, एक तो स्वभाव से ही लोकोत्तर, अर्थात् सबसे उत्तम होती है; और आपके चरणों के आश्रय को प्राप्त होकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

गाथा - २२ पर प्रवचन

लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये।
लहिऊण लहइ महिमं रविणो णलिणिव्व।।२२।।

हे भगवान! हे प्रभु! **जिस प्रकार पुष्प में स्थित कमलिनी,...** यह पुष्प की बेल बड़ी। समझ में आया? **कमलिनी, सूर्य की किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है,...** कमल की बेल हो और वह कमल खिला हो। उस खिलने में भी सूर्य की किरण निमित्त हो, तब वह कमल खिल निकलता है, ऐसा खिल निकलता है। सूर्य... कमल। **उसी प्रकार यद्यपि समवसरण की शोभा स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है...** वह रचना अलौकिक! उस समय के परमाणु की पर्यायें, उन

भगवान के पुण्य का निमित्त और नैमित्तिक अवस्था का काल उसका वहाँ ही वह परिणमता है। यह उनके पुण्य का निमित्त है और वहाँ उपादान उस प्रकार से होने का है। पुण्यवन्त प्राणी मकान बनावे न? उस मकान की शोभा दूसरे प्रकार की होती है। और पापी का मकान बनावे, तब हमने ऐसा विचारा था, परन्तु यह अच्छा नहीं लगा, हों! यह भनकार उसमें आता है। इसमें ऐसा होता है... इसमें ऐसा होता है। उसके मकान में भी अन्तर पड़ता है। ऐसा कहते हैं, प्रभु! आपका पुण्य कोई ऐसा है कि जब समवसरण में आप विराजते थे तब... उसी प्रकार समवसरण की शोभा यद्यपि स्वभाव से ही थी। कमल तो स्वयं से ही खिला हुआ होता है परन्तु सूर्य की किरण पाने पर अधिक खिलावट होती है। उसी प्रकार समवसरण की शोभा तो सहज ही थी, परन्तु आपके विराजमान (होने से) अधिक शोभा है। ओहोहो! देखो! यह पुण्य और पुण्य का काल जब ऐसा बँधा हुआ, उस समय उसका स्वभाव क्या? ऐसे स्वभाव की अस्तिपूर्वक उसे प्रतीति में लेकर यह भक्ति करते हैं। खबर नहीं होती भगवान कौन, अरिहन्त कौन? कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं न, प्रवचनसार ८०वीं गाथा में।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्संलयं।।८०।।

जो कोई आत्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा का आत्मा क्या? उनका गुण क्या? और उनकी वर्तमान अवस्था क्या? दशा क्या? उसका वास्तविक स्वरूप जाने और उनकी व्यंजन आकृति पर्याय इत्यादि क्या? उसे बराबर जाने और उसे जाने, वैसी तुलना करनेवाला मैं आत्मा हूँ। ऐसा ही मैं आत्मा हूँ। इस प्रकार आत्मा के साथ तुलना करे— मिलान करे। मिंढवे समझते हो? नेमिचन्दजी! मिंढवे यह हमारी काठियावाड़ी भाषा है। मिलान करे, मिलान। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा थे, उनका द्रव्य, गुण की खान। उनके गुण अचिन्त्य-अचिन्त्य शक्ति का भण्डार, उनकी पर्याय पूर्ण निर्मल हुई और उनका आकार शरीर परमौदारिक प्रमाण था और उनके समवसरण की शोभा अत्यन्त अलौकिक! ऐसा जो ज्ञान करे, वह आत्मा के साथ मिलान करे, उसे सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्त्व हुए बिना रहता नहीं। ऐसा ही मैं आत्मा हूँ।

ऐसा कहते हैं कि प्रभु! समवसरण की शोभा तो महान अचिन्त्य थी। लोकोत्तर

ही होती है। तो भी हे जिनेन्द्र! **आपके चरण-कमलों को पाकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।** २३ (गाथा)

गाथा २३

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहसि तं तहवि।
सीहासणायलत्थो जिणंद कयकुवलयाणंदो।।२३।।

अर्थ - हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आप यद्यपि निर्दोष, अकलंक और अजड़ हैं तो भी अचल सिंहासन में स्थित तथा कुवलय को आनन्दित करनेवाले ऐसे आप चन्द्रमा के समान शोभित होते हैं।

भावार्थ - हे जिनेन्द्र! आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा, दोष (रात्रि) से सहित है, अर्थात् सदोष है। आप तो कर्म-कलंक से रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा, कलंक से सहित है। आप तो जड़ता-रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा, जड़ता से सहित है। इस प्रकार आप और चन्द्रमा में भेद है, परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा, पर्वत के शिखर पर स्थित रहता है और रात्रि-विकासी कमलों को आनन्द का देनेवाला है, इसलिए शोभा को प्राप्त होता है; उसी प्रकार पर्वत के समान आप भी सिंहासन पर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वी-मण्डल को आनन्द दिया था, इसलिए आप भी चन्द्रमा के समान ही शोभित होते थे।

गाथा - २३ पर प्रवचन

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहसि तं तहवि।
सीहासणायलत्थो जिणंद कयकुवलयाणंदो।।२३।।

भावार्थ में भी यही है। आपके चरणकमल ऐसे विराजमान हुए (तो) शोभा बढ़ गयी। शोभा समवसरण की बढ़ी। ओहोहो! प्रभु! इसी प्रकार आत्मा अपने निज रूप को प्रकाशित करे, श्रद्धा करे, पहिचाने, उस समय के पुण्य की शोभा भी अलग है। उसके पुण्य के फल की शोभा भगवान आचार्यदेव कहते हैं, धर्मी जीव का पुण्य ऐसा होता है

कि उस पुण्य के फलरूप से जहाँ जन्मे, उसे लक्ष्मी आदि के साधन कहीं से खोजने—शोधने नहीं पड़ते। यह तो पहले आ गया था न? लक्ष्मी हमारे सामने दौड़ती आज्ञा माँगे। प्रभु! आपकी भक्ति करे, उसे लक्ष्मी तो दौड़ती सामने आज्ञा माँगती हुई चली आती है। यह झपट्टे और झपट्टे डालता है न जहाँ-तहाँ। जलसा उड़ाना और यह करना और किसी प्रकार से हमको मान दे, हम बड़प्पन में गिने जायें, हमें लक्ष्मी की गिनती में, श्रीमन्त के अंक की गिनती में बैठक में गिने जायें, इसके लिये झपट्टा मारता है। झांवा, समझ में आया? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : वलखा डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : वलखा तो अभी अपनी भाषा है, वह की वह वापस। झपट्टा। ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... धर्मी अपने स्वतन्त्र स्वभाव को जिसने साधा है, उसके पुण्य को भी स्वतन्त्र और उसे सत्पुण्य कहा जाता है। उसके फल की शोभा... प्रभु! उसे तो पुण्य था परन्तु आपके ज्ञान और आनन्द का निमित्त मिला, इससे उसकी शोभा बढ़ गयी। कहो, समझ में आया? २३।

हे जिनेन्द्र! हे प्रभु! आप... अब चन्द्रमा के साथ भगवान को मिलान करते हैं। सब ऊँची-ऊँची चीजें सब हल्की (लगती है) प्रभु आपके समक्ष। समझ में आया? आप ही सबमें शोभायमान और अधिक रूप से विराजते हो। हे जिनेन्द्र! **आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा, दोष (रात्रि) से सहित है,...** दोष अर्थात् रात्रि में ही चन्द्र होता है। आप तो रात और दिन सदा ही प्रकाशमान हो। चन्द्र के साथ आपको उपमा देना, वह भी आपको शोभती नहीं। कहो, समझ में आया?

आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा, दोष (रात्रि) से सहित है, अर्थात् सदोष है। आप तो कर्म-कलंक से रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा, कलंक से सहित है। है और दिखता है न वह हिरण आदि का चिह्न नहीं दिखता? चन्द्रमा में हिरण आदि का चिह्न दिखता है न? कहते हैं, उसमें तो कलंक है, प्रभु! उसकी उपमा आपको क्या दूँ? आप तो निष्कलंक अखण्डानन्द प्रभु निर्मल इष्ट परिणति से परिणम रहे हो। आपको तो अनिष्ट ऐसे विकारों का तो व्यय अर्थात् सर्वथा नाश हो गया है। इसलिए चन्द्रमा की उपमा भी आपको शोभा नहीं देती।

चन्द्रमा, कलंक से सहित है। आप तो जड़ता-रहित हैं,... चन्द्र तो जड़ परमाणु है, उनकी पर्याय है। आपमें जड़ता नहीं है। वह तो जड़ता सहित है। **किन्तु चन्द्रमा, जड़ता से सहित है।** जड़ है न? परमाणु है या नहीं? **इस प्रकार आप और चन्द्रमा में भेद है,...** जुदाई है, एकता नहीं है। **परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा, पर्वत के शिखर पर स्थित रहता है...** उगता है न तब। **और रात्रि-विकासी कमलों को आनन्द का देनेवाला है,...** आनन्द देता है अर्थात? खिलता है। रात्रि विकसित कमल होते हैं, वह चन्द्र हो, तब खिलते हैं। सूर्य हों तब (मुँद जाते हैं)। और सूर्यविकासी कमल सूर्य के काल में खिलते हैं, चन्द्र के काल में बन्द हो जाते हैं। भगवान! आप तो सूर्यविकासी कमल को आनन्द देनेवाले। चन्द्र वह विकासी कमल को आनन्द देनेवाले के लिये खिल निकलता है ऐसा। प्रफुल्लित, प्रफुल्लित है ऐसा। **इसलिए शोभा को प्राप्त होता रहै;...**

उसी प्रकार पर्वत के समान आप भी सिंहासन पर स्थित थे... पूरा समवसरण, उसमें गन्धकुटि और उसमें सिंहासन, उनके ऊपर ऐसे भगवान निरालम्बी विराजते हैं। **तथा आपने समस्त पृथ्वी-मण्डल को आनन्द दिया था,...** लो! क्या कहा? चन्द्रमा ने तो उन्हें-कमल को आनन्द दिया। आनन्द अर्थात् विकसित हुए। भगवान! आपने तो बहुत प्राणियों को खिला दिया। बहुत प्राणियों का उद्धार और खिला दिया। यद्यपि खिलने की ताकत तो उनसे है। यहाँ निमित्त से वर्णन किया है। आप जहाँ सूर्य समान उदित हुए (तो) बहुत खिल गये।

आपके उदित होने के बाद १८ क्रोडाक्रोडी सागरोपम में इस भरतक्षेत्र में नरक में जानेवाले मनुष्य नहीं थे। समझ में आया? इस भरतक्षेत्र में अठारह क्रोडाक्रोड़ी सागरोपम में कोई नरक में जानेवाले नहीं थे, मोक्ष में जानेवाले नहीं थे, एकेन्द्रिय में जानेवाले नहीं थे, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य में मरकर जानेवाले नहीं थे। वे देव में जानेवाले थे। परन्तु जहाँ भगवान की वाणी खिरी, तब विपरीत पड़े हुए को नरक, निगोद के भाव आये और नरक-निगोद की तैयारी कर रहे। उसमें निमित्त आप हो, ऐसा हम कहते ही नहीं, कहते हैं। समझ में आया?

यह विपरीत पड़ा हो न, तब सच्ची बात बाहर आवे, तब खलबलाहट... खलबलाहट... विपरीत पड़े। पहले ऐसा और ऐसा पड़ा हो, वह अधिक उलटा पड़े।

वह इनके निमित्त से उलटा नहीं, वह तो उसकी विपरीतता के कारण से ही उलटा पड़ा है। यहाँ भगवान की वाणी निकली, अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम में चौबीस दण्डक और पच्चीस में मुक्ति, एक देव में जाने की स्थिति थी। जहाँ वाणी निकली तो कोई कहीं और कोई कहीं और कोई कहीं। कोई नरक में गये, कोई निगोद में गये, कोई (किसी को) मोक्ष हुआ, कोई मनुष्यपने में गये, तिर्यंच में गये, कोई विकलेन्द्रिय में गये। नरभेरामभाई! क्या कहा?

मुमुक्षु : भगवान की वाणी सुनने के पश्चात् यह सब हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पश्चात् यह सब हुआ। पहले नहीं था। यह नहीं। प्रभु! आप उसमें निमित्त नहीं कहलाते। आपके कारण से तो भव्य जीवों के हृदय कमल खिल गये। आपने जहाँ धोधमार चैतन्य के स्वभाव की महिमा का वर्णन किया, खजाना खोलकर जगत को बताया, भगवान किसी के हृदयकमल खिल गये। कोई खिल गये। ऐसे आप उसमें निमित्त हुए हो। उनसे खिल गये। खिल गये, समझते हो? प्रगट हो गया। कहो, समझ में आया?

तथा आपने समस्त पृथ्वी-मण्डल को आनन्द दिया था,... आनन्द ही दिया था। आत्माएँ अतीन्द्रिय आनन्द के आकांक्षी-जिज्ञासु थे, उन्हें आपने आनन्द दिया। आपने आनन्द दिया। यह तो नमोत्थुणं में नहीं आता? जीव दयाणं बोहि दयाणं—आता है या नहीं? नरभेरामभाई! नमोत्थुणं पाठ में। जीव दयाणं। हे नाथ! हमें आपने जीव दिया। ऐसा कहते हैं। श्रीमद् में भी आता है या नहीं? 'वह तो प्रभु ने दिया' हमें आत्मा दिया। जिसे आत्मा का भान होने में जो निमित्त है, उस पर आरोप से (ऐसा कहा जाता है कि) प्रभु! हमें तो आत्मा दिया न। हम पागल थे, पागल थे। हमें आत्मा समझाया, आत्मा जगाया। आपने तो पूरा आत्मा हमें दिया। हमें कैसे खाना, कैसे पीना, कैसे बोलना कुछ खबर नहीं थी। हमें कैसे ज्ञान की विचिक्षणता, क्या कुछ खबर नहीं थी। आपने ही हमें पूरा आत्मा दिया। ऐसा नमोत्थुणं में यह आता है। जीव दयाणं। जीव का दातार भगवान है। बोधि के दातार भगवान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी बोधि के भगवान दातार हैं। उनके पास देने की चीज़ यह है। कहो, समझ में आया?

अष्टपाहुड़ में आता है। प्रभु! आप तो देव हो न! देव तो दे, उसे देव कहते हैं।

क्या दिया ? आप तो हमें चारों ही देते हो। हमें पैसा देते हो, काम भी हमें देते हो, पुण्य भी हमें देते हो और मोक्ष भी देते हो। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं। एक बार कुन्दकुन्दाचार्य कहे कि भगवान की भक्ति के विकल्प से भी चैतन्य को शान्ति नहीं मिलती। वह तो स्वाधीन से मिलती है। परन्तु निमित्त की व्याख्या करते हुए प्रभु ! आपको जब पहिचाना, इसलिए हमारा भान हमें हुआ, तब हमें मोक्ष प्राप्त होने की भी तैयारी हो गयी, हमें धर्म का साधन भी हुआ। पुण्य भी हमको अलौकिक हुआ और उस पुण्य में अर्थ और काम जो मिलेंगे, ऐसे अर्थ और काम आपकी भक्ति से पहले अनन्त काल में कभी नहीं मिले थे, ऐसे मिलेंगे। वजुभाई ! भगवान देते हैं। इसमें कहा न, देखो न !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु हाथ फैलावे, ऐसा कहे कि अन्नदाता ! आप दो... आप दो... हमें दो। वास्तव में तो सम्प्रदान तो अपनी पर्याय का स्वयं करके अपने को देता है। परन्तु निमित्त में, हे नाथ ! आप तो चार प्रकार के—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ के दाता हो। पुण्यरूप से धर्म, अर्थ और काम तथा मोक्ष आत्मा का पुरुषार्थ। चारों के आप दातार हैं। निश्चय और व्यवहारदशा दोनों को समझानेवाले आप हैं, इसलिए दोनों के आप ही दातार हैं। कहो, समझ में आया ? देखो ! यह सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त दूसरे देव सच्चे नहीं हैं और वह देव ही स्वयं चार देने में या निमित्त होने में समर्थ है, दूसरे तो लक्ष्मी देने में भी समर्थ नहीं। लो ! ओहोहो ! लक्ष्मी तो कैसी ? काम भी, उसके भोग कैसे ? और उसका पुण्य भी कैसा ? यह तो स्वभाव की भूमिका में बँधता है। अलौकिक रीति से आपने दिया, ऐसा हम कहते हैं। हजारीमलजी ! क्या कहते हैं। उत्तमचन्दभाई ! भगवान देते हैं। अष्टपाहुड़ में (कहा है)। देने का अर्थ निमित्त का कथन है। आपका निमित्त और आपका ज्ञान जब हमने हमारे में किया, ये चारों बोल ऐसे प्रगट हुए कि अनन्त काल में यह अर्थ और काम और धर्म अर्थात् पुण्य ऐसा था ही नहीं हमारे पास। बराबर है ? वजुभाई ! ओहोहो ! आनन्द देनेवाले।

इसलिए आप भी चन्द्रमा के समान ही शोभित होते थे। शोभायमान हो। शोभायमान होते थे। २४ (गाथा)

गाथा २४

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा।
होइ असोहो रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो।।२४।।

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिन भव्य जीवों के ज्ञान की ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं, वे तो दूर ही रहें, किन्तु हे भगवान! आपके समीप रहा हुआ जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है।

भावार्थ - हे जिनेश! जिनको ज्ञान मौजूद है, अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले हैं - ऐसे भव्य जीव आपके पास में रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित हो जाते हैं, इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु जो वृक्ष जड़ है, वह भी केवल आपके समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है; यह महान आश्चर्य है।

गाथा - २४ पर प्रवचन

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा।
होइ असोहो रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो।।२४।।

ओहो! आचार्य कहते हैं, अब इस प्रातिहार्य को लक्ष्य करके स्तुति करते हैं। भगवान को आठ प्रातिहार्य—अतिशय पुण्य की शोभा आठ होती है न? उसमें पहला अशोक वृक्ष लेते हैं। कहो, समझ में आया? अशोक—अशोक। हे भगवान!

मुमुक्षु : अशोक हैं न भगवान?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान अशोक हैं। शोकरहित, रागरहित वीतराग, उनका पहला प्रातिहार्य अशोकवृक्ष है। कहो, समझ में आया?

आचार्य कहते हैं कि हे प्रभु! **हे जिनेन्द्र! जिन भव्य जीवों के ज्ञान की ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं,...** क्या कहते हैं? जो आत्मायें चैतन्यस्वरूप से जागृत होकर आपको पहिचाना, ऐसे जो चैतन्य के

जागनेवाले, समझनेवाले आपको नमस्कार करते हैं, वे तो चैतन्य होकर वीतराग होते हैं। **वे (भव्य जीव) तो दूर ही रहें,...** उनकी तो क्या बात करना? परन्तु चैतन्य सर्वज्ञपद को... श्रीमद् कहते हैं न कि सर्वज्ञ को भी कोई अपूर्व भाव से जाना हो तो उसने सर्वज्ञ जाना कहलाता है। नहीं तो सर्वज्ञ जाने हैं, ऐसा नहीं कहलाता। स्वसंवेदनज्ञान की ताकत है कि अल्प समय में वह सर्वज्ञ होगा और सर्वज्ञ मेरा स्वभाव है। व्यवहार-फ्यवहार सब निषेध है। दृष्टि में राग और पुण्य और निमित्त का अवलम्बन तथा उनका आश्रय नहीं होता। ऐसा जिसे भान (हुआ है), वह आपको नमस्कार करे, वह तो क्या बात करना? उसका पुण्य और उसकी पवित्रतावाला मनुष्य आत्मा नमस्कार (करे), उसे क्या कहें?

किन्तु हे भगवान! आपके समीप रहा हुआ जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है। अशोक वृक्ष आया न? अशोकवृक्ष। कहो, ईश्वरचन्दजी! ईश्वर। है न तुम्हारा अशोक? उसे कहा, आज अशोकवृक्ष का आयेगा। अशोक। प्रभु! आपको भव्य जीव आत्मा की चैतन्य महिमा को समझकर ऐसा जो आपको नमन करती है, अन्तर में नमन करते हैं और आपको भी नमन करते हैं, उनकी तो क्या बात करना? उसे तो हम दूर रखते हैं। परन्तु आपके समीप अशोकवृक्ष जो वृक्ष है, जड़ वृक्ष भी आपके समीप अशोकपने की उपमा को पाता है, तो जो चैतन्य जागृतवाले आपकी सेवा करें, उसे वीतरागता और केवलज्ञान हो, इसमें कुछ नवीनता नहीं है। कहो, समझ में आया? यह सब भक्ति में तो अभी व्यवहार की ही बात आवे न?

निश्चय में उपादान से कार्य होता है, निमित्त तो उपस्थितमात्र है। समझ में आया? कथन से व्यवहार से आवे, तब तो यही बात है। उपादान से ही कार्य है। उसमें कार्य कहीं निमित्त से नहीं होता, परन्तु निमित्त के प्रभाव में भक्ति का उल्लास आया है, इसलिए भक्तों के ऐसे ही वचन निकलते हैं। निकलते हैं ऐसे (कि) आपने ही तारा, जगत से उभारा। इस चौरासी के परिभ्रमण आपसे नष्ट हुए, प्रभु! आप नहीं मिले होते तो हम कहीं चौरासी लाख में भटकते। ऐसा कहे। कहो, समझ में आया? विनय है, विनय है।

कहते हैं, प्रभु! सम्यग्ज्ञान को प्राप्त भव्य जीव की तो क्या बात करना? आपको

नमस्कार करे, उसे फिर इन्द्र नमस्कार करेंगे। वह नमस्करणीय हो जाएगा। परन्तु अशोकवृक्ष... प्रभु! यह जड़ वृक्ष आपके निकट आया और आपके सिर पर रहता है (तो) वह भी अशोक हो गया। उसका नाम भी अशोक आपके कारण रखा गया है। कहाँ गये धन्नालालजी? समझ में आया? ओहोहो! यह पुण्य के परिणाम भी अलग प्रकार के कहते हैं। आपके समीप में, चैतन्य के समीप में आकर विकल्प उठा, वह पुण्य परिणाम भी अलग जाति के हैं। उसे प्राप्त शरीर भी... भविष्य में, हों! आराधक होने के बाद, उसके शरीर के रजकणों की अवस्था भी अनन्त काल में नहीं हुई ऐसी होनेवाली। अनन्त काल में नहीं हुई, (ऐसी) होनेवाली है। उसकी वाणी भी अलग, उसका कुल अलग, उसकी कीर्ति अलग, उसकी निरोगता आदि बहुत बोल आते हैं न शास्त्र में।

आराधक पुण्य के धनी जब जाते हैं। अवतरित होते हैं, तब उन्हें कीर्ति, कुल, इज्जत इत्यादि साधन वहाँ सम्पन्न होते हैं। उन्हें सहज होते हैं। उन्हें मिलाने नहीं पड़ते। इसी प्रकार भगवान यहाँ कहते हैं, प्रभु! वृक्ष जड़पना जो है, वह अशोकपने को प्राप्त करे तो हम तो चैतन्य हैं, हों! आपके समीप चले आते हैं। चले आते हुए हम वीतराग हो जानेवाले हैं। किसकी समीपता होगी? यहाँ समीपता है, वह भगवान की समीपता का आरोप करके भक्त (कहते हैं), प्रभु! आपने तो मुक्ति दी न हमें। और यहाँ तक भक्त बोलते हैं—प्रभु! आप मुक्ति की अपेक्षा आपकी भक्ति हमारे बढ़ जाती है। नेमचन्दभाई! आता है न स्तुति में? 'मुक्ति की अपेक्षा हमारे तो भक्ति अधिक है।' अर्थात? भक्ति तो निश्चय की है। परन्तु अभी विकल्प उठा है, आपके ऊपर लक्ष्य (जाता है), यह उसकी मुख्यता व्यवहार से हो गयी। परमार्थ से तो हमारी मुख्यता हमारी मुक्ति हमारे आश्रय से होती है। आरोप करके भक्त विकल्प में (ऐसा कहते हैं), आपने तारा, उद्धार किया, भटकते रखा, भटकते रखा अर्थात्? भटकते रखा इसके दो अर्थ होते हैं। भटकते रखा। रखड़ता, समझते हो? रुलता है न? रखा अर्थात् बन्द किया। रखा नहीं। भटकते अवतार चौरासी के अवतार में प्रभु ओहोहो! इस वस्तु की पहिचान और इस चैतन्य की जाति को बतलाया, आपसे तिर गये। प्रभु! वृक्ष अशोकपने को प्राप्त हो तो हम वीतरागपने को पायेंगे, इसमें कोई नवीनता नहीं है। यह राग की याचना नहीं की, हों! राग होकर हमें ऐसा होवे। हम तो वीतरागपने को पाते हैं। हमारा स्वभाव वीतराग, उसके समीप जाएँगे। हम वीतरागपने को प्राप्त करेंगे।

हे जिनेन्द्र! जिनको ज्ञान मौजूद है, अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले हैं... झुकाकर ऐसे। मस्तक झुकाना और यह सब निमित्त के कथन हैं, हों! मस्तक झुकाने का अर्थ अन्दर कोमलता वर्तती है। मस्तक ऐसे झुकना या न झुकना, वह आत्मा के विकल्प के आधीन नहीं है। आहाहा! ऐसे कथन आवे न, और मनुष्य उसके अर्थ समझे नहीं और गड़बड़ करे। सिर जड़ है, यह तो मिट्टी है। अनन्त परमाणु का पिण्ड है। उसका परिणमन तो उसके कारण से स्वतन्त्र है। आत्मा नमन करने का विकल्प करे, इसलिए नमता है—ऐसा है नहीं। परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में जब ऐसा विनय है, तब शरीर का—मस्तक का नमन भी होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण भक्त ऐसा कहते हैं कि प्रभु! भव्य जीव जब आपको नमस्कार करे... ओहोहो! ... लोगों की भक्ति। स्त्री के लिये यदि प्रसन्न करने बाहर परदेश में गया हो और कोई दो महीने, चार महीने में आवे तो सब इकट्ठे होते हैं कि कुछ लाये। कुँवरजीभाई! सब लड़के इकट्ठे हों, बापू! क्या लाये हो हमारे लिये। घड़ी लाये? अमुक लाये? साड़ी लाये?

एक जगह... बात थी। सरपदल है न सरपदल? वहाँ गये थे। सामने मकान था। मालिक आया हुआ और स्त्री के लिये साड़ी लेकर आया। ऐसे दरवाजा खोला (और पूछा) आये। कुछ लाये? ठीक! कुछ लाये या नहीं हमारे लिये? छह महीने बाहर गये हुए, भटककर आये, अमुक, अमुक, कोई परदेश में। लड़के के लिये पेड़ा लावे, उसके लिये साड़ी लावे, उसके लिये कुछ लावे।

भगवान के पास जानेवाले, ऐ आया यहाँ? क्या लाया? ओय, यह कहाँ उतारा वापस? नरभेरामभाई! भक्ति भेंट लाया? ऐसा कहते हैं। उसमें नहीं आता? आता है न कहीं? भक्ति भेंट ले आया। प्रभु भक्ति। यह भेंट लेकर आया हूँ। ओहोहो! ऐसा अविकारी वीतरागस्वभाव और आप ही हमारे वात्सल्य करनेवाले। आ गया है न पहले? सकल जीव पर प्रभु आपका वात्सल्य (वर्तता है)। ओहोहो! जैसे गाय उसके बछड़े अथवा बछड़ी के प्रति प्रेम करती है न! प्रभु! हम तो आपके बच्चे हैं। आप गाय समान हो। आप हमारे प्रति वात्सल्य करनेवाले हो। ओहोहो! हजारीमलजी! और वात्सल्य भगवान को कहाँ से आया? अकषाय करुणा, अकषाय करुणा। ओहोहो! 'करुणा हम पावत है

तुमकी बात रही गुरुगम की।' करुणा अर्थात् केवलज्ञान में, आपके केवलज्ञान में भासित हुआ कि यह प्राणी एकावतारी अल्प भव में मुक्ति जानेवाला है। प्रभु! यह आपकी करुणा हमारे ऊपर वर्तती है। भगवानजीभाई! ओहो! हमारे ऊपर करुणा वर्तती है।

आपके केवलज्ञान का प्रपात, हमें वाणी द्वारा जब आपने समझाया, वह हमें करुणा हमारे आत्मा पर हुई। आपकी करुणा थी तो करुणा हुई, ऐसा भक्त भगवान को कहते हैं। गणधरों की भी ऐसी वाणी निकलती है। ... आहाहा! आपके विरह में हम भटके, आपके समीप में आये। हम एकावतारी अथवा एक भव में, इसी भव में पूर्णानन्द की प्राप्ति करके मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

यहाँ कहते हैं, **ऐसा करनेवाले हैं–ऐसे भव्य जीव आपके पास में रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित हो जाते हैं,...** शोकरहित हो जाए। क्योंकि आपकी वाणी वीतराग होने की है। क्या कहा? यह भी न्याय डाला इसमें। आपकी वाणी में वीतरागता नितरती है। कहीं राग करना या राग टालना, ऐसा स्वरूप में नहीं है। वीतरागता नितरती है। अशोकपना नितरता है, वीतरागता नितरती है। कहा नहीं?

वचनामृत वीतराग के परम शान्त रसमूल,
औषध जो भवरोग के कायर को प्रतिकूल।

कायर को ऐसे हाय... हाय... आया था न? भाई! ... नहीं आया था उसमें? वाणी सत् की सुनकर कितने ही भड़कते हैं। भड़कते हैं। उपादान से कार्य होता है, निश्चय से मोक्षमार्ग होता है; विकल्प आवे, वह बन्धमार्ग है। व्यवहार के आश्रय से तीन काल में दया, दान, व्रत, भक्ति, जप, तप के राग से मुक्ति नहीं, आश्रय नहीं। वास्तव में वह कारण भी नहीं। सुनकर ऐसे भैंस को देखकर ऊँट भड़के। भैंस कहते हैं न? भैंस को देखकर ऊँट भड़के। इसी प्रकार सुनकर भड़कते हैं। अभी लिखा था, उसमें आया था। ... यह क्या? यह क्या? यह क्या? सुन न अब। भड़कता क्या है? शरीर की क्रिया धूल की कहीं रह गयी, वह तो जड़ में है। कितने ही तो ऐसा कहते हैं पण्डित (नाम) धराकर, लो! यह सोनगढ़िया तो कहते हैं कि यह हाथ ऐसे हो, भगवान की (भक्ति में), शरीर से तो धर्म भी नहीं होता और पुण्य भी नहीं होता। बात उनकी सत्य है। ऐसा ही कहा जाता है और ऐसा ही है। भगवान ऐसा कहते हैं। यहाँ नहीं कहते?

देखो न। कहो, समझ में आया? आप तो। **आपका उपदेश सुनकर शोररहित हो जाते हैं,...** अर्थात् क्या कहा? उपदेश में क्या आया था? उपेक्षा पुण्य की–व्यवहार की, निमित्त की उपेक्षा कर, स्वभाव की अपेक्षा कर। चौदह पूर्व की वाणी के बारह अंग में यही उपदेश है।

भगवान! आपके उपदेश को पाकर जीव अशोक हो जाते हैं, तो जैसा उपदेश में था, वैसा अन्दर प्रयोग में लाये, तब उसके फलरूप वीतरागता आ जाती है। ...चन्दभाई! राग रखने का होगा उपदेश में? वह भगवान का उपदेश नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आपके उपदेश में तो वीतरागता, अविकारता, अकषायता, स्वाभाविक शुद्धि की पवित्रता कैसे प्रगट हो, यही बात नितर रही है। अशोक—शोकरहित होता है।

इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु जो वृक्ष जड़ है, वह भी केवल आपके समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है;... अशोक तो है। परन्तु अलंकार से ऐसे वीतरागता तैरती है न दृष्टि में? भगवान की पूर्ण वीतरागता भी साध्य में, लक्ष्य में ली है इसलिए वृक्ष को भी कहते हैं कि तू भी अशोक है। जा। वीतरागता लागू पड़े। तुझे भी वीतरागता लागू पड़ती है। कहो, समझ में आया इसमें? **यह महान आश्चर्य है। आपके समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है; यह महान आश्चर्य है।** २५।

गाथा २५

छत्तत्तयमालंबिय णिम्मल मुत्ताहलच्छला तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह बिंदूहिं।।२५।।

अर्थ - हे भगवन्! हे नाथ! आपके जो ये तीनो छत्र हैं, वे लटकते हुए निर्मल मुक्ताफल के ब्याज से मनुष्यों की आँखों में बिन्दुओं (अश्रुओं) से अमृत की वर्षा करते हैं - ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ - हे भगवन्! जिस समय भव्य जीव आपके छत्र को देखते हैं, उस समय उनको इतना आनन्द होता है कि आनन्द के मारे उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है।

गाथा - २५ पर प्रवचन

छत्तत्तयमालंबिय णिम्मल मुत्ताहलच्छला तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह बिंदूहिं।।२५।।

अब छत्र। छत्र-छत्र। भगवान सर्वज्ञपद को पावे तीर्थंकरदेव, वहाँ वे विराजमान होते हैं, उनके ऊपर तीन छत्र होते हैं। यह अतिशयोक्ति नहीं है, हों! परन्तु यह अतिशयता है। ऐसे तीन छत्र हैं। मुक्ताफल के हार जैसे मानो ऐसे दिखते हों सिर पर। उन्हें कुछ नहीं, हों! वे तो वीतराग हैं। उनके शरीर को स्पर्श नहीं करते। शरीर नीचे स्पर्श नहीं करता और ऊपर भी स्पर्श नहीं करता। नीचे सिंहासन को स्पर्श नहीं करता, ऊपर छत्र को स्पर्श नहीं करता। बीच में शरीर ऐसे निरालम्बन स्थित होता है। ओहोहो! सिंहासन से ऊपर चार अंगुल। उसके (छत्र के) ऊपर से नीचे। समझ में आया? वे अन्तरीक्ष में हैं न? भगवान ऐसे ऊपर रहते हैं। यह अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ। अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ न? गये थे न वहाँ? वे कहें कि यह ऊपर है। भाई! देखने दो नीचे। नीचे तीन जगह स्पर्शित है, कहा। अपने को भाई बात बैठती नहीं। ऐसे... बातें बहुत करना... समझे न? जैसा हो, वैसा उसे जानना चाहिए। अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ भगवान है न, हम गये थे। तीन जगह स्पर्शित है। एक जगह जरा नहीं था, इसलिए होवे वैसा, उसमें क्या? रखा हो। तो कहे, पहले ऊँची थी। अब पहले ऊँची, यह हमारे निर्णय कैसे करना अभी? पहले ऊँची थी। लोग मिथ्या कल्पना के अतिशय मूर्ति को लगाते हैं। ऐसा यह नहीं है। वजुभाई! थे या नहीं तुम? यह वह वस्त्र... निकालनेवाले निकालें, ऐसे आहिस्ता से उस ओर से निकाले। देखो! यह नीचे से वस्त्र निकल गया। उस ओर नीचे वह हो, वहाँ वस्त्र न रखे और ऐसे करे तो निकल गया। निकला। वस्तुस्थिति तो जैसी हो, उसमें तो कोई अतिशय मिथ्या भी कल्पित करते हैं। यह अतिशय मिथ्या नहीं है, यह तो वस्तु की स्थिति है।

तब कोई कहे कि भगवान वीतराग, पूर्ण वीतराग, उनको और छत्र क्या? उन्हें सिंहासन क्या? उन्हें समवसरण क्या? उन्हें कुछ नहीं है, सुन न! वह तो पूर्व के पुण्य के संयोगरूप से ऐसी स्थिति हुए बिना नहीं रहती। होती है। उनको कुछ नहीं है। उस छत्र के बहाने कहते हैं, **हे भगवान!** जो तीन छत्र है न आपके ऊपर? **वे लटकते हुए**

निर्मल मुक्ताफल के ब्याज से मनुष्यों की आँखों में बिन्दुओं (अश्रुओं) से अमृत की वर्षा करते हैं–ऐसा मालूम होता है। अर्थात् क्या कहते हैं?

हे भगवन्! जिस समय भव्य जीव आपके छत्र को देखते हैं, उस समय उनको इतना आनन्द होता है कि आनन्द के मारे उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है। अश्रुपात होने लगते हैं। होने लगते हैं। हर्ष के आँसू आते हैं। अर्थात्? आत्मा के स्वरूप को और आपको दोनों को देखने से अन्तर के स्वरूप में आनन्द आता है। आपकी भक्ति में हर्ष आता है, इसलिए आँख में से आँसू निकलते हैं। और उस काल में वह अशुभ परिणाम नहीं है, अशुभ कर्म टल जाते हैं। कहो, समझ में आया? भगवान का उपदेश सुने (तो) मानो अमृत बरसता हो, अमृत बरसे। कर्ण को अमृत बरसता हो ऐसा लगे। समझ में आया? मृतक हो और 'आत्मसिद्धि' सुनाने लगे। कान ऐसे कर डाले। कभी प्रेम किया नहीं और अन्दर पीड़ा... पीड़ा हो मरने की अन्तिम। वह कहाँ तक हांकेगा?

सर्वज्ञ की वाणी ऐसे प्रेमी भव्य जीव होते हैं, कहते हैं कि प्रभु! आपकी वाणी का प्रपात निकलता है न, तो हमारे तो अमृत बरसता है, ऐसा लगता है। कि जिससे अमृत के आँसू हमारी आँख में से पड़ते ही रहते हैं, ऐसी धारा... आनन्दधारा का झरना बहता है। अनाकुल स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान का झरना बहता है और पुण्य परिणाम में विकल्प आने पर, ऐसा हर्ष आने पर आँख में से आँसू बहते जाते हैं और हमारे कर्म निर्जरित हो जाते हैं। ओहोहो! फिर अकेला पकड़े कि भगवान की भक्ति से कर्म निर्जरित हो जाते होंगे।

यहाँ तो स्व और पर की दोनों को साथ में रखकर बात है। यहाँ यह कहते हैं कि जिस समय में **उनकी (भव्य की) आँखों से अश्रुपात...** अश्रुपात। आहाहा! आपका विरह। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा न? प्रभु! हमें भरतक्षेत्र में भगवान त्रिलोकनाथ का विरह। ध्यान में आते हैं, वहाँ समवसरण की रचना चिन्तवन करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज यहाँ नग्न दिगम्बर भावलिंगी सन्त (विराजते थे)। जहाँ अन्दर विरह पड़ता है, रचना (चिन्तवन करते हैं), वहाँ अन्दर ऐसी पुण्य और पवित्रता का योग कि भगवान के मुख में से वाणी निकलती है—सत् धर्म वृद्धि हो, सत् धर्म वृद्धि हो। देखो! कहाँ भगवान

और कहाँ कुन्दकुन्दाचार्य! देखो! जगत में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध। ऐसा ही निमित्त सम्बन्ध कि यहाँ ऐसा है। वहाँ शक्ति से अथवा देव आकर भगवान के निकट कुन्दकुन्दाचार्य जाते हैं। साक्षात् भरतक्षेत्र के मुनि, वे साक्षात् महाविदेहक्षेत्र में विराजते प्रभु के दर्शन करते हैं। उन्हें कितना हर्ष होगा? केवलचन्दभाई! समझ में आया इसमें?

वे कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले यहाँ हुए। भगवान दूर थे, उन्हें निकट किया। व्यवहार से बाह्य में निकट किया। अन्दर तो नजदीक थे ही, भगवान आत्मा के स्वभाव के समीप (थे ही)। आठ दिन तक समवसरण में रहे। दिव्यध्वनि अमृत बरसे। समझ में आया? ऐसा आनन्द... आनन्द... आनन्द... रोम-रोम रोमांचित हो गया। रोम-रोम रोमांचित हो गया। आकर इन शास्त्रों की रचना (की)। समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, ऐसे महा अजोड़ रत्न सर्वज्ञ की वाणी की समानता करे, ऐसी वाणी, ऐसे शास्त्रों की रचना की। उन्हें अन्दर का आनन्द और बाहर का कितना होगा? कहो, समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, प्रभु! इस छत्र के बहाने हम ऐसा देखते हैं न। इस प्रकार टग... टग... टग... देखते हैं न। इसलिए लोगों को बहुत टग-टग देखे तो आँख सरखी न रहे तो पानी झर जाए। इसी प्रकार हमारे आत्मा को टग-टग करके देखते हैं और आपकी भक्ति के भाव से हम आपको देखते हैं (तो) हमें आनन्द आ जाता है। समझ में आया? लड़का कहीं से आता हो तो कितना ऐसे बाँहों में भरता है, देखा है? समझ में आया? बाँहों में भरता है। आहाहा! बापू! तू कर्मी जागृत हुआ, बापू! हमारे कुल में, हों! नरभेरामभाई! धूल भी कर्मी नहीं अब। नरक और निगोद में ले जाने को कर्मी है। चल, हम जायें वहाँ तुम सब।

भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा को जो देखता है और देखता और सुनता है और समझता है, वह वास्तविक कार्य का करनेवाला कर्मी आत्मा। भगवान ने पूर्ण कार्य किया। उनकी वाणी निकली, हर्ष-हर्ष भेंट हो जाती है ऐसे मानो। भगवान से मिलते हैं... भगवान से मिलते हैं... ऐसा हो जाता है। और समवसरण में जो जीव नजदीक में जाए, उसके शरीर को देखे, उसमें सात भव देखता है। भगवान की भेंट (हो उसमें) सात भव देखे। अनन्त भव का नाश हुआ और सात भव होवे तो। अभी एक-दो भव हो,

वे (दिखते हैं) । शरीर ऐसे देखे परमौदारिक । ऐसे नजर टग-टग है । अन्दर टग-टग है और ऐसे निर्मलता हो जाती है । प्रभु ! इस छत्र के बहाने हमें मानो ऐसा देखकर अमृत के अश्रु आते हों, ऐसा हम देखते हैं । कहो, समझ में आया ? यह २५ । २५ हुई न ? २६ ।

गाथा २६

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थचलियाइं।
तुह देव सरइंससहरकिरणकयाइव्व चमराय।।२६।।

अर्थ - जिन चमरों को देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी कमलों को हर्ष होता है और जिनको बड़े-बड़े इन्द्र ढोरते हैं - ऐसे हे जिनेन्द्र! आपके चँवर, शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं - ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ - अन्य ऋतु की अपेक्षा शरदऋतु में चन्द्रमा की किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है, इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन्! आपके चँवर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं, जो कि ऐसे मालूम होते हैं मानों शरदकालीन चन्द्रमा की किरणों से ही बनाये हुए हैं और जिनको देखनेमात्र से समस्त लोक के नेत्रों को आनन्द होता है तथा जिनको बड़े-बड़े इन्द्र आकर ढोरते हैं।

गाथा - २६ पर प्रवचन

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थचलियाइं।
तुह देव सरइंससहरकिरणकयाइव्व चमराय।।२६।।

हे प्रभु ! अब तीसरा । पहला (अतिशय) अशोक (वृक्ष) लिया; दूसरा छत्र लिया; तीसरा चंवर । हवा लगती होगी भगवान को ? परन्तु इन्द्रों को, देवों को भक्ति के उछाले में चौंसठ चंवर भगवान को (ढोलते हैं) । वे तो वीतराग हैं । खम्मा, अन्नदाता ! ऐसा कहकर इन्द्र चंवर ढोलता है । ऐसे खम्मा आत्मा के स्वभाव को ! ऐसा करके आत्मा अपने स्वभाव को सम्मत होकर अनुमोदता है ।

हे जिनेन्द्र! जिन चँवरों को देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी कमलों को हर्ष होता है और जिनको बड़े-बड़े इन्द्र ढोरते हैं-ऐसे आपके चँवर, शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं-ऐसा मालूम होता है। गजब भाई! शरदऋतु का चन्द्र शीतल सर्दी बहुत हो और उसकी (किरणें) श्वेत बहुत हों। उनकी किरणें लाकर मानो प्रभु! यह—चंवर बनाया हो। ऐसे इन्द्र आपको चंवर ढोलते हैं। शरद ऋतु। शीतल... शीतल... शीतल... ऐसे आत्मा। प्रभु! आप शीतल-शीतल हो गये अन्दर। स्थिर हो गये... स्थिर हो गये... उपशम स्वभाव अकषायभाव से। हम भी हमारे अकषायभाव में ऐसे शरदऋतु की शीतलता जैसे स्थिर हो, वह हमारी मुक्ति का उपाय और मुक्ति का मण्डप है। आपका तो ऐसा मानो इतना आपका पुण्य, आपकी पवित्रता कि शरद ऋतु, कुदरत की ऋतु परन्तु मानो उसमें से किरण बनाकर। पागलपना तो नहीं होगा न यह? वजुभाई! मुनि हैं और पंच महाव्रत धारी। असत्य बोलने का तो त्याग है। यह भक्ति से आश्रय पाकर भगवान की भक्ति करते हैं। ऐसा भाव धर्मी को आये बिना नहीं रहता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल ७, सोमवार, दिनांक - २९-०८-१९६०

ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - २७ से ३०, प्रवचन-८

यह पद्मनन्दि पंचविंशति नाम का ग्रन्थ है। 'पद्मनन्दि' एक महान आचार्य दिगम्बर सन्त हो गये हैं। भावलिंगी सन्त। लगभग ९०० वर्ष पहले (हुए हैं)। वनवासी सन्त थे, आत्मज्ञानी ध्यानी आत्मा में छठी-सप्तम भूमिका जिनको प्रगट हुई थी। ऐसे भावलिंगी सन्त (थे)। अध्यात्म की दृष्टि का भी उसमें बहुत कथन है और धर्मी जीव को भगवान की भक्ति, पूजा का भी भाव आता है। है शुभभाव, है शुभभाव; वह धर्म नहीं है तो भी शुभभाव धर्मी को आये बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु : शुभ का अर्थ क्या होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभ का अर्थ पुण्यबन्ध का कारण, धर्म नहीं। परन्तु वह बात श्रवण में-धर्म का श्रवण करना—ऐसा भी शुभभाव आता है, कथन करना, उपदेश करना —ऐसा भी शुभभाव धर्मी को आता है। शुभभाव आये नहीं तो वीतराग हो जाए। और शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान की परिणति होने पर भी जब तक शुद्ध उपयोग अतर में रमे हीं, तब तक ऐसा शुभभाव आये बिना रहता नहीं। भगवान की वाणी श्रवण करना, सुनाना, वांचन करना, पृच्छा करना, उसका उत्तर सुनना, उसका विचार विकल्प द्वारा करना वह सब शुभभाव ही है। मोतीलालजी! शुभभाव ही है।

वह शुभभाव, धर्म भूमिका में कर्मधारारूप राग उसकी भूमिका के योग्य चौथे गुणस्थान में समकिती को अविरत सम्यग्दृष्टि को भी आता है, पंचम गुणस्थान में श्रावक को और छठे गुणस्थान में मुनि को भी भक्ति का राग आता है। वह भी यात्रा, भक्ति, पूजा, दया, दान का भाव आता है, वह शुभराग है। नेमचन्दभाई! पंच महाव्रत का भाव आता है या नहीं? पंच महाव्रत भी शुभराग है, शुभ उपयोग है। धर्म नहीं। वास्तव में धर्म का कारण भी नहीं है। तो भी भूमिका में सर्वज्ञपद अपना निजपद का ज्ञाता-दृष्टा का भान हुआ तो सर्वज्ञ परमात्मा जो हो गये, उनकी भक्ति, पूजा का श्रवण, मनन का, विनय करने का जो भाव है, (वह) सब शुभभाव ही है। ऐसे भगवान की पूजा, भक्ति का भी भाव आता है, उसका नाम शुभभाव है।

उस शुभभाव को मिथ्यात्व माने, वह मूढ़ जीव है, अज्ञानी है। अशुभ भी आता है। सम्यग्दृष्टि को अशुभ नहीं आता? स्त्री का विषय-भोग, राग, धन्धा-पानी करने का भाव अशुभ आये बिना रहता है? पंचम गुणस्थान में, चौथे गुणस्थान में भी अशुभभाव तो आर्तध्यान, रौद्रध्यान है, आता है और रौद्रध्यान, आर्तध्यान जब हो, तब उससे बचने को ऐसा शुभभाव दया का, दान का, पूजा का, भक्ति का, व्रत का, तप का वह सब शुभभाव है, आते हैं। आचार्य महाराज वर्णन करते हैं। कोई अकेला निश्चयाभासी हो जाए कि नहीं, आत्मा में शुभभाव आते हैं तो वह अधर्म है और उसको मिथ्यात्व मानना, वह बात सच्ची नहीं है। समझ में आया? कठिन बात। हजारीमलजी! शुद्धभाव का भान नहीं अथवा शुभभाव में धर्म मान लेते हैं, अथवा शुभभाव में मिथ्यात्व मान लेते हैं, दोनों बात झूठी है। कैसे उसका मिलान करना? ...चन्दजी! लोग कहते हैं, व्यवहार का लोप हो जाता है। सुन तो सही। व्यवहार तो, महान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ... महान, सर्वज्ञ परमात्मा हुए उससे पहले तीर्थंकरदेव छद्मस्थ (दशा में थे), तब छठी-सातवीं भूमिका में विचरते हैं तो उनको भी शुभ उपयोग तो आता ही है, होता ही है। वह मिथ्यात्व नहीं है, अज्ञान नहीं है। वह अधर्म है। अधर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, रमणता से विरुद्ध है तो उसको अधर्म भी कहते हैं। परन्तु अशुभभाव अधर्म है, उसकी तुलना में शुभभाव के अधर्म में मन्द कषाय है। उसको ज्ञानी जानते हैं कि पुण्यबन्ध का कारण है। उसके फल में श्रवण, मन का, वीतराग की वाणी आदि मिलना होता है। उसमें आत्मा की शान्ति उसके कारण से नहीं होती, धर्म उसके कारण से नहीं है, परन्तु आये बिना रहता नहीं। या तो अकेले निश्चय में चला जाए, या अकेले व्यवहार से धर्म मानकर प्रसन्न हो जाए कि हमने कर लिया धर्म।

आचार्य कहते हैं, देखा! २६ गाथा हो गयी। जंगल में विचरनेवाले छठे-सातवें गुणस्थान में विराजमान मुनि भावलिंगी, अप्रमत्तदशा आत्मा का आनन्द, शुद्धोपयोग (वर्तता है)। क्षण में शुद्ध उपयोग आता है और क्षण में छठी भूमिका का शुभराग आता है। प्रभु की भक्ति करते हैं। २६ गाथा में चँवर तक आया है। भगवान के अष्ट प्रातिहार्य का वर्णन करते हैं। एक तो अस्तित्व का वर्णन करते हैं कि भगवान हैं, उनको अष्ट प्रातिहार्य थे। समवसरण था, धर्मसभा थी। देव, समकिती भी भक्ति करने को आते हैं।

इन्द्र एकावतारी–एक भवतारी, ऐसे इन्द्र भी भगवान की भक्ति करते थे। उसमें चँवर तक आ गया। छत्र, चँवर, सिंहासन, अब पुष्पवृष्टि अष्ट प्रातिहार्य में है न। देव पुष्पवृष्टि करते हैं न। देव आकर भगवान के समवसरण में पुष्पवृष्टि की भक्ति करते हैं। उसके बहाने यह पुष्पवृष्टि क्या है, उसका थोड़ा अलंकार लगाकर आचार्य महाराज भक्ति करते हैं। २७वीं गाथा।

गाथा २७

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण।
अमरकयपुप्फविट्ठिछल इव बहु मुअइ कुसुमसरो।।२७।।

अर्थ – हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! आपके सामने जिस कामदेव के पाँचों बाण विफल हो गये हैं, ऐसा वह कामदेव, देवों के द्वारा आपके ऊपर की हुई जो पुष्पों की वर्षा के बहाने पुष्पों के बाणों का त्याग कर रहा है – ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ – आपके अतिरिक्त जितने देव हैं, उनको कामदेव ने बाण मार-मार कर वश में कर लिया; किन्तु हे प्रभो! जब वही कामदेव अपने बाणों से आपको भी वश करने आया, तब आपके सामने तो उसके बाण कुछ कर ही नहीं सकते थे, इसलिए उस कामदेव के समस्त बाण आपके सामने विकल हो गये; इससे ऐसा मालूम होता है कि जिस समय देवों ने आपके ऊपर फूलों की वर्षा की, उस समय वह फूलों की वर्षा नहीं थी, किन्तु अपने बाणों को योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलों के बाणों को फेंक रहा था, क्योंकि संसार में यह बात देखने में भी आती है कि समय के बाद जो चीज काम नहीं देती है, उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है।

गाथा – २७ पर प्रवचन

विहलीकय पचसरे पंचसरो जिण! तुमम्मि काऊण।
अमरकयपुष्फविट्ठी, छला इव बहु मुअइ कुसुमसरो।।२७।।

हे भगवान जिनेन्द्रदेव! आपके सामने जिस कामदेव के पाँचों बाण निष्फल हो गये हैं... बाण निष्फल हो गये। क्या कहते हैं? ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं न? विषय। उसे कामदेव की उपमा देते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषय, उसका जो राग है। हे भगवान! इन पाँच इन्द्रियों के कामबाण ने आपको विषय के बाण मारे, परन्तु आपके आगे निष्फल हो गये। आप वीतराग अरागी अन्तर आनन्द की दशा में परिणमित होकर उस कामबाण को निष्फल कर दिया। कामबाण का असर आपको हुआ नहीं। बड़े-बड़े कितने ही देव धारण करनेवाले काम, स्त्री का विषय अथवा प्रशंसा आदि के शब्द, राग में घुस जाते हैं।

प्रभु! देवों ने आप पर जो पुष्पवृष्टि की वह क्या है? हम क्या मानते हैं? कि पाँचों बाण निष्फल हो गये। **ऐसा वह कामदेव, देवों द्वारा आपके ऊपर की हुई जो पुष्पों की वर्षा,...** पुष्पवृष्टि के बहाने **मानो अपने पुष्पबाणों का त्याग कर रहा है, ऐसा मालूम होता है।** आहाहा! उसमें भी भक्ति उनको भासित होती है। देखो! इन्द्र एकावतारी हो। शकेन्द्र और उसकी शचिरानी, दोनों एक भवतारी होते हैं। वहाँ से निकलकर, एक भव धारण कर, केवलज्ञान पाकर दोनों मोक्ष जानेवाले हैं। अनादि जितने शकेन्द्र और उसकी शचि रानी होती है (एकावतारी ही होते हैं)। शचि उत्पन्न होने के काल में तो मिथ्यात्वसहित उत्पन्न होती है। स्त्री है न। परन्तु बाद में आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है। वह रानी और उसका पति इन्द्र, दोनों अन्तिम मनुष्य देह धारण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। वह इन्द्र आकर पुष्पवृष्टि करता है और देव आकर भगवान के समवसरण में (पुष्पवृष्टि करते हैं)। तो कहते हैं, प्रभु! वह पुष्पवृष्टि नहीं है। तो क्या है? कामबाण निष्फल गया, कामदेव निष्फल गया तो कामदेव ने पुष्पों की आपके ऊपर वर्षा की। अहो... धन्य है, धन्य है, महाराज! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा आपकी वीतरागदशा, उसमें हमारा कामबाण आपके पास निष्फल गया।

भावार्थ - आपके अतिरिक्त जितने देव हैं, उनको कामदेव ने मार-मारकर वश में कर लिया है। किसी को प्रशंसा ने, किसी को स्त्री के कटाक्ष ने, किसी को स्त्री के विषय से, किसी को जगत के मान से सब घात हुए, छेदित हुए सभी देवों को घाव लगे हैं। आपके अतिरिक्त कोई देव सच्चे देव रहे नहीं। कामबाण ने उसको घाव मारा

है, घायल कर दिया है, घायल कर दिया है। कामबाण ने उसको मार-मारकर घायल कर दिया। राग में एकाकार कर दिया।

किन्तु हे प्रभो! जब वही कामदेव, अपने बाणों से आपको वश करने आया, तब आपके सामने उसके बाण, कुछ कर ही नहीं सके। कुछ कर ही नहीं सके। वीतराग... वीतराग। आपके आनन्दस्वरूप में लीन हो गये, प्रभु! आपको कामबाण का विकल्प कहाँ से हो? आपके निर्विकल्प आनन्द में आप झूलते थे, उसके फलस्वरूप आपको केवलज्ञान हो गया। आपके सामने वह कुछ कर नहीं सका। **इसलिए उस कामदेव के समस्त बाण, आपके सामने विफल हो गये।** फल बिना के हुए। उसका कुछ फल-राग उत्पन्न नहीं कर सका। **जिससे मालूम होता है कि जब देवों ने आपके ऊपर फूलों की वर्षा की...** यह बात सत्य होगी या नहीं? समवसरण धर्मसभा होती है, वहाँ अभी भगवान के पास धर्मसभा है। श्री सीमन्धर प्रभु विराजते हैं। वहाँ भी अष्ट प्रातिहार्य सदा होते हैं। देव पुष्पवृष्टि करते हैं। यह क्या? नेमचन्दभाई! पुष्पवृष्टि कर सके नहीं, जड़ की क्रिया कर सके नहीं, परद्रव्य का परिणमन अपने अधिकार की बात नहीं है। कौन कहता है अधिकार की बात? परन्तु आत्मज्ञानी धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि को ऐसा शुभभाव आता है, तब ऐसी वृष्टि की क्रिया का उसका काल होता है, उसके कारण से होता है। उसमें शुभभाव को निमित्त कहने में आता है। कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि उस शुभभाव का कर्ता ही नहीं है। यह बड़ी कठिन बात। कहाँ गये? धन्नालालजी! शुभभाव का कर्ता नहीं है, तो करता क्यों है? अरे! सुन तो सही। प्रभु! तुझे चैतन्यतत्त्व की लीला (खबर नहीं)।

स्वभाव का सागर भगवान, उसकी दृष्टि हुई तो स्वभाव जिसको प्रगट हुआ तो उसके ऊपर पुष्पवृष्टि करते हैं। वह क्रिया तो उस समय पुष्प की होनेवाली परमाणु के क्रमबद्ध में आती है। उसमें सम्यग्दृष्टि का शुभभाव निमित्त पड़ता है। निमित्त पड़ता है उसका अर्थ? वह निमित्त हुआ तो वहाँ (कार्य) हुआ, ऐसा नहीं। होनेवाला था। यह बात जगत को नहीं बैठती। होनेवाली थी तो इन्द्र, देव घर पर बैठे रहे तो वहाँ क्यों नहीं हुई? सुन तो सही, प्रभु! तुझे चैतन्य की लीला (खबर नहीं है)। उसका शुभभाव होता है, तब ऐसी क्रिया जो होनेवाली है, उसके काल में हुए बिना रहती नहीं। उसके शुभभाव से नहीं। शुभभाव से क्रिया नहीं हुई, शुभभाव से धर्म नहीं हुआ। ...चन्दजी!

कठिन बात, भाई! शुभभाव आया, उससे अपने चैतन्य में शान्ति नहीं (होती) और शुभभाव से उस पुष्प की क्रिया नहीं होती। अरे! ये (बात)। समझ में आया? लेकिन वह आये बिना रहता नहीं और वह क्रिया होती है तो उसके कारण से (होती है)। शुभभाव के कारण से नहीं परन्तु होनेवाली क्रिया से होती है। मोतीलालजी!

लोगों को तत्त्व का (ज्ञान नहीं)। नौ तत्त्व की भिन्न-भिन्न पृथक् क्रिया है, वह कया है और कैसी होती है, खबर नहीं और परस्पर पकड़ लेते हैं, ... पकड़कर चले जाते हैं। शुभभाव, शुभभाव धर्म है, चलो, भैया! करते-करते धर्म हो जाएगा। इन्द्र भी करते हैं। क्या इन्द्र अधर्म जानकर करते हैं? तो उसको भी धर्म है? नहीं। धर्म नहीं। धर्म तो रागरहित अखण्ड चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा की क्रिया का परिणमन होना, वही धर्म है। परन्तु धर्म की पूरी परिणति जब तक नहीं होती तो इन्द्र ऐसे पुष्पवृष्टि करते हैं। कोई कहता है, उसमें हिंसा होती है। कोई ऐसा करता है। गड़बड़ी का पार नहीं होता? विमान में बैठकर आये उसमें पुष्प की हिंसा होती है। सुन तो सही। धर्मी के शुभभाव की कीमत तुझे खबर नहीं। शुभभाव राग की मन्दता है, पुण्यबन्ध का कारण है। उसमें सातिशय पुण्य बँधता है। मिथ्यादृष्टि को ऐसा शुभ उपयोग आता है, उसमें निरअतिशय पुण्य है। उस पुण्य के फल में वाणी, तीर्थंकर का योग ऐसा निमित्त मिलता है। परन्तु उस निमित्त से लाभ नहीं है, ऐसा प्रथम से मानते हैं। ऐसी बात है भाई! समझ में आया?

कहते हैं, उस समय **वह फूलों की वर्षा नहीं थी,...** वह फूलों की वर्षा नहीं थी। क्या कहते हैं? भगवान! वह फूल की वर्षा नहीं है। हम तो देखते हैं कि कामबाण आप पर डाला, वह निष्फल गया, ऐसी पुष्पवृष्टि करते हैं। ऐसा हम तो पुष्पवृष्टि में देखते हैं। ओहो! **वह कामदेव स्वयं अपने पुष्पबाणों को फेंक रहा था। क्योंकि संसार में यह बात देखने में आती है कि कुछ समय के बाद जब जो चीज काम में नहीं आती...** समय पर जो चीज़ काम में नहीं आती **उसको मनुष्य छोड़ देते हैं,...** छोड़ो। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा,... सब देव कोई स्त्री द्वारा हने गये, कटाक्ष के द्वारा हने गये, विषय से हने गये, भोग से हने गये। वीतराग कामदेव को जीतनेवाले अरागी आत्मा की जिसकी परिणति है, उस पर तो पुष्पवृष्टि ही करनी चाहिए। उसके बाण निष्फल गये तो पुष्पवृष्टि की। वह लिया। २८।

गाथा २८

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मा वयणं।
तुह दुंदुही रसंतो कहइ व तिजयस्स मिलियस्स।।२८।।

अर्थ - हे भगवन्! बजती हुई आपकी दुन्दुभि (नगाड़ा) तीनों लोक को इकट्ठा कर यह बात कहती है कि हे जीवों! यदि वास्तविक परमात्मा हैं तो भगवान आदिनाथ ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं; इसलिए तुम इनसे अतिरिक्त दूसरे का उपदेश मत सुनो, इन्हीं भगवान के उपदेश को सुनो।

भावार्थ - मङ्गल काल में जिस समय आपकी दुन्दुभि, आकाश में शब्द करती है, अर्थात् बजती है; उस समय उसके बजने का शब्द निष्फल नहीं है, किन्तु वह इस बात को पुकार-पुकार कर कहती है कि हे भव्य जीवों! यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्री आदिनाथ का दिया हुआ उपदेश सुनो, किन्तु इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे देव हैं, उनके उपदेश को अंशमात्र भी मत सुनो, क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्री आदीश्वर भगवान ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न लोक में दूसरा परमात्मा नहीं है।

गाथा - २८ पर प्रवचन

एस जिणो परमप्पा, णाणोण्णाणं सुणह मा वयणं।
तुह दुंदुही रसंतो, कहइ व तिजयस्स मिलियस्स।।२८।।

दुन्दुभी। भगवान समवसरण में विराजते हैं। वे तो वीतराग है। दुन्दुभी नगाड़ा। मंगल बाजे बजते हैं न सुबह। ऐसे मंगल बाजे-दुन्दुभी। ऐसे तो साढ़े बारह करोड़ बाजे बजते हैं। भगवान के समवसरण में। ये क्या ? एक ओर निर्विकल्प वीतरागता। जिसमें गुण-गुणी के भेद का विकल्प करे तो वह भी पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं। ऐसी दृष्टि अन्तर में करके वीतराग हुआ तो कहते हैं कि वहाँ दुन्दुभी बजती है। समवसरण में बड़ा नगाड़ा, दैवी नगाड़ा (बजता है)। यहाँ भी पुत्र की शादी होती है, तब ऐसा कुछ

करते हैं न? पुत्र का विवाह होता है, तब करते हैं। नगाड़ा बजाते हैं। वहाँ लड़का था न? हम अजमेर में थे तब। लालचन्दजी के घर पर कुछ था। नगाड़ा बजता था। क्या है? पुत्र के यहाँ पुत्रजन्म हुआ है। साधारण मनुष्य होने पर भी सुबह नगाड़ा बजाते हैं। हम वहाँ थे। अच्छा मुहूर्त होता है। यह तो साधारण पुण्यवन्त।

(यहाँ तो) तीर्थंकर सर्वज्ञदेव, उसमें तीर्थंकर आदिश्वर भगवान का प्रश्न है। ऐसा पुण्य, उसकी बराबर प्रतीत करनी चाहिए। उसके फल में देव दुन्दुभी-नगाड़ा बजाते हैं। देव। यहाँ पैसे देकर बजानेवाले को अच्छे मुहूर्त पर बुलाना पड़े। वहाँ देव आकर नगाड़ा बजाते हैं। क्या कहते हैं? **हे भगवन्! आपकी बजती हुई...** बजती हुई। आपका **दुन्दुभी (नगाडा) तीन लोक में...** तीन लोक को इकट्ठा करके **यह बात कहती है...** तीन लोक वहाँ इकट्ठा हो गया? उसके अभिप्राय में ऐसा है कि यह दुन्दुभी तीन लोक का जिसे ज्ञान है, (उनको सुनने हेतु) तीन लोक के जीव आ जाओ। भगवान की वाणी सुनो। भगवान के सिवा कोई दूसरे की वाणी सुननी नहीं। रागी, द्वेषी, अज्ञानी कामबाण से घायल हो गये हो, उसका वचन नहीं सुनना। वीतराग सर्वज्ञ कामबाण से रहित हो गये, उनकी वाणी सुनो। उस वाणी में अमृत भरा है। अमृतकुण्ड में से निमित्त होकर वाणी अमृतकुण्डरूप प्रवाह में बहती है। तीन लोक को इकट्ठा होकर दुन्दुभी कहती है। क्या सब इकट्ठे हो गये? हम कहते हैं न। हम इकट्ठे होकर आते हैं। भगवान की दुन्दुभी (बजती है) तो हम कहते हैं कि सब लोक इकट्ठे होकर (आओ)। (दुन्दुभी) **यह बात कहती है कि हे जीवो! वास्तविक परमात्मा तो भगवान आदिनाथ ही हैं,...** जिसने अनेकान्त स्वरूप प्रगट किया है। यहाँ तो (पहले से बात) लेकर आते हैं न। सर्वार्थसिद्धि से लेते-लेते अष्ट प्रातिहार्य तक आये हैं।

भगवान आदिनाथ ही हैं; इनसे भिन्न कोई परमात्मा नहीं है,... दूसरा कोई कर्ता परमात्मा जगत का, ईश्वर और ऐसा-वैसा सब झूठ है। परमात्मा हो तो साक्षी सर्वज्ञदेव की सेवा करो। उनकी वाणी सुनो। वाणी सुनना तो शुभभाव है। नेमचन्दभाई! ऐसा क्यों कहता है दुन्दुभी नाद? अरे! भगवान! सुनने का राग धर्मी को आये बिना रहता नहीं। शुभराग है। गणधर को आता है। सन्तों एकावतारी को (आता है)। अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान लेने की तैयारी हो, उसके पहले भी भगवान की वाणी सुनने

का राग होता है। बाद में अन्दर लीन हो जाए तो केवलज्ञान होकर स्थिर हो जाए। परन्तु वाणी सुनने का प्रेम (होता है)। संसार में विकथा नहीं सुनता ? धन्धा ऐसा करना, ऐसी मशीन लगाना, ऐसा करना, ऐसा हो तो तुमको बहुत लाभ होगा। पच्चीस हजार की आमदनी एक महीने की होगी। वहाँ सुनता है या नहीं पाप का भाव ? केवलचन्दभाई ! वहाँ सब बात सुनता है। यह मशीन ऐसा होगा, इससे ऐसा होगा, ऐसा करोगे तो इसमें से इतनी महीने की कमाई बढ़ेगी। महीने की पाँच हजार की है, दस हजार और बीस हजार की हो जाएगी। ... धीरुभाई ! जगत को...

कहते हैं, भगवान ! वाणी नहीं, वह नगाड़ा ऐसा कहता है कि **इनसे भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। इसलिए तुम दूसरे का उपदेश मत सुनो,...** एक वीतराग दृष्टि और वीतराग रमणता हुई, उसकी वाणी में वीतरागता ही निकलती है। अकेला वीतराग। निमित्त, राग की उपेक्षा कराते हैं और स्वभाव की अभेद दृष्टि कराते हैं। ऐसी दृष्टि करवाता है ऐसा उपदेश है, वही सुनने लायक है। समझ में आया ? सुनते समय तो शुभराग है। है, शुभराग तो ... आये बिना रहता है ? परन्तु शुभ उपयोग में सुना क्या ? वीतरागी उपदेश। वीतरागी उपदेश का अर्थ ? अहो ! तेरा स्वरूप परमात्मा आनन्दकन्द से भरा है। उसमें भेद भी न कर। अभेद दृष्टि कर और अभेद में लीनता कर। ऐसा भगवान का उपदेश है, दूसरे का ऐसा उपदेश होता नहीं। अज्ञानी गड़बड़ी करते हैं, घायल हो गये हैं तो उसका उपदेश सुनने लायक नहीं है। **इसलिए तुम दूसरे का उपदेश मत सुनो,...** अस्ति-नास्ति की। दूसरे का अर्थात् मिथ्यादृष्टि वस्तु का स्वरूप नहीं जानते हैं, ऐसा कोई साधु नाम धारण करता हो या देव नाम धारण करता हो, उसका उपदेश सुनने लायक नहीं है। ये देव की परीक्षा करते हैं कि देव ऐसे होते हैं। और देव की वाणी में भी ऐसी वाणी है। देखो न ! वर्तमान में तो इतनी गड़बड़ी हो गयी है। अभी सर्वज्ञ की वाणी क्या कहती है और क्या समझते हैं, उसका लक्ष्य और रुचि की भी खबर नहीं। ऐसा कहते हैं, देखो ! भगवान ने ऐसा कहा। क्या कहा ? भगवान ने कहा है कि निमित्त से हुआ, निमित्त को प्राप्त कर हुआ, व्यवहार को प्राप्त कर हुआ। वह सब कथन तो व्यवहारनय के हैं। तेरा स्वभाव पाकर तेरी दशा होती है—ऐसा भगवान का उपदेश है, उसको सुनो, दूसरे का नहीं।

भावार्थ – मंगल काल में जिस समय आपकी दुन्दुभी आकाश में शब्द करती है... मंगल काल में। औरतें नहीं गाती शादी के प्रसंग में? आज तो वेणलुं वायुं... ऐसा कुछ बोलती हैं न? क्या? वेणला वाया। प्रभाती गाते हैं। पाप की प्रभाती। धर्म की प्रभाती बोले वह अलग। ये तो, वेणला वाया ने सोना समो सूर्य उग्यो, थाण भर्यो मोतीअे ने... ऐसी सब बातें करते हैं न? उसको हर्ष है, पाप का। पाप का हर्ष है। यहाँ धर्मी को मंगल बाजा बजता है। चलो, भगवान की वाणी सुनने। त्रिलोकनाथ की वाणी। चार ज्ञान, चौदह पूर्व को धारण करनेवाले, अन्तर्मुहूर्त में चार ज्ञान उत्पन्न करने की ताकत, चौदह पूर्व और बारह अंग की रचना करने की ताकत (रखनेवाले) भगवान की वाणी सुनते हैं। वही सुनने लायक है, दूसरे की वाणी सुनने लायक नहीं है।

दूसरा, जो कोई प्राणी पुण्य, राग, निमित्त से कल्याण होगा—ऐसा बतानेवाला हो तो वह कथा धर्मकथा नहीं है, परन्तु पापकथा है। समझ में आया? धन्नालालजी! वह विकथा (है)। विकथा का नाम ऐसा है, भाई! दर्शनभेदनी। दर्शन का भेद मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाली, भेद करनेवाली। जो कोई कथन उपदेश में ऐसा आवे कि तुझे शुभराग से धर्म होगा, पुण्य करते-करते कल्याण होगा, हमारे समीप दृष्टि रखो तो तेरा कल्याण होगा और क्रियाकाण्ड में घुस जाओ बराबर, क्रिया करते-करते, करते-करते ऐसा शुभराग हो जाए कि फिर शुभराग फटकर वीतरागता हो जाएगी। ऐसी कोई कथा करता हो तो समकितभेदनी-समकित का नाश करनेवाली है। विकथा है। ऐसी विकथा मत सुनो। धन्नालालजी! देखो! भक्ति करते हैं। आहाहा! वीतरागी सन्त महामुनि भावलिंगी परमेश्वरपद को अन्दर से त्वरा से ग्रहण कर लेते हैं। त्वरा से, वेग से। कहो, समझ में आया?

उस समय उसके बजने का शब्द निष्फल नहीं है, किन्तु वह इस बात को पुकार-पुकार कर कहती है... पुकार-पुकार कर कहती है, देखो! हे **भव्य जीवो! यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्री आदिनाथ का दिया हुआ उपदेश...** भगवान ने जो उपदेश दिया है, वही सुनो, वही सुनने लायक है। **किन्तु इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे देव हैं, उनके उपदेश को अंश मात्र भी मत सुनो...** सुनने को जाते हैं न। चलो भाई! कुछ मिलेगा। धूल मिलेगी। चलो भाई! वहाँ उपदेश चलता

है। वीतरागी तत्त्व क्या, सर्वज्ञ के तत्त्व की अभेद दृष्टि का विषय क्या और अभेद की दृष्टि में भी जब तक पूर्ण अभेद न हो, तब भेद में राग क्या आता है, उसकी मर्यादा क्या, उसकी खबर नहीं और कथन करते हैं कि चलो, भाई! थोड़ा तो लाभ मिलेगा न। जयचन्दभाई! लाभ मिलेगा मिथ्यात्व का। समझ में आया? विपरीत मान्यता-उल्टी मान्यता का लाभ (मिले), वह धर्मकथा नहीं। **अंश मात्र भी मत सुनो...** क्यों? भाई! सुनने में क्या है? वह तो परज्ञेय है। परन्तु सुनने में तेरी कोई इच्छा तो है या नहीं? सुनेगा तो तुझे लाभ होगा, ऐसी तेरी मान्यता झूठी है। इसलिए अंश मात्र भी सुनना नहीं। यह क्या? वाणी नुकसान करेगी? परन्तु तेरे भाव में उस वाणी में आनन्द आता है, उत्साह आता है कि उसमें कुछ लाभ होगा, वह तेरा भाव ही झूठा है। अंश मात्र सुनना नहीं।

क्योंकि यदि परमात्मा है तो श्री आदिश्वर भगवान ही हैं, इनसे भिन्न लोक में दूसरा कोई परमात्मा नहीं है। वह तो आदिश्वर कहो या सर्व तीर्थंकर एक आदिश्वर में सब आ जाते हैं। २९।

गाथा २९

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव।
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं।।२९।।

अर्थ - हे जिनेश्वर! हे प्रभो! सूर्य का प्रभा समूह तो मनुष्यों को सन्ताप का करनेवाला है तथा चन्द्रमा का प्रभा समूह, जड़ता का करनेवाला है, किन्तु हे पूज्यवर! आपका प्रभा समूह तो सन्ताप व जड़ता, दोनों को नाश करनेवाला है।

भावार्थ - यद्यपि संसार में बहुत से तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु हे पूज्यवर! हे प्रभो! आपके सामने कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं है क्योंकि हम यदि सूर्य को उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहें, तो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसकी प्रभा का समूह मनुष्यों को अत्यन्त सन्ताप का करनेवाला है। यदि चन्द्रमा को हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहें तो यह भी बात नहीं बन सकती, क्योंकि चन्द्रमा की प्रभा का

समूह जड़ता का करनेवाला है, किन्तु हे जिनवर! आपकी प्रभा का समूह तो सन्ताप और जड़ता दोनों का सर्वथा नाश करनेवाला है, इसलिए आपकी प्रभा का समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है।

गाथा - २९ पर प्रवचन

रविणो संतावयरं, ससिणो उण जड्डयाअरं देव।
संतावजडत्तहरं, तुम्हच्चिय पहु पहावलयं।।२९।।

आहाहा! चन्द्र, सूर्य को भी हल्का बना देते हैं। प्रभु! आपका चैतन्यप्रकाश और आपके सर्वज्ञ में आया जो तत्त्व, उसके आगे इस चन्द्र, सूर्य को हम क्या अधिक कहें? दुनिया कहती है, चन्द्र अधिक है, सूर्य अधिक है।

हे भगवान! हे प्रभु! **सूर्य का प्रभासमूह तो मनुष्यों को सन्ताप करनेवाला है...** सूर्य की प्रभा। ताप लगता है न? आताप, आताप। गर्मी.. गर्मी.. गर्मी। भागो... भागो। ... गर्मी... गर्मी... गर्मी। सुनता हो तो ... हम एक जगह गये थे तो उसका भट्टारक सुनने आया। हाथ में पंखा था। ये कोई तेरा सुनने का लक्षण है? देखा था या नहीं? उसने देखा था, साथ में थे। ठाठ-माठ करके (आये), पंखा भी ऐसा। मयूरपंख। बैठा। मानो भगवान! क्या है? तू भगवान है? विनय की खबर नहीं। सुनने में कितनी विनयता, नम्रता, योग्यता, पात्रता होती है, उसकी भी खबर नहीं। भगवान की वाणी सुनने आया है, वहाँ ऐसे-ऐसे पंखा चलाता है। मानो मैं बड़ा! भट्टारक। ईश्वरचन्दजी! अरेरे! जैनदर्शन में ऐसे ही रोटी खानेवाले निकलते हैं।

भगवान की वाणी कैसी! इन्द्र, सिंह, बाघ भगवान की सभा में (बैठते हैं)। बाघ और सिंह का तो शरीर बहुत गर्म होता है। इतनी गर्मी ... गर्मी होती है, हवा लगने दो, हवा लगने दो। ओहोहो! तेरा सुनने का लक्षण ही सच्चा नहीं है। सुनने का भी लक्षण सच्चा नहीं है। ... कहा न? बन्दर। आता है न? बन्दर है। ऐसी नम्रता।

कहते हैं, भगवान की वाणी सूर्य के साथ मिलान करने में आती है, ऐसा है नहीं। क्योंकि वह सूर्य तो मनुष्यों को सन्ताप करनेवाला सूर्य है। **तथा चन्द्रमा का**

प्रभासमूह, जड़ता करनेवाला है। चन्द्र उगता है, शीतलता (होने से) मनुष्यों को निद्रा आ जाती है। शीतल ठण्डी हवा आती है न? वह जड़ता का कारण है। अथवा चन्द्रमा की शीतलता में मनुष्य जागता हो तो जड़ता की-विषय की वासना रात्रि को उत्पन्न होती है। चन्द्र जड़ता का कारण है।... सूर्य सन्ताप का कारण है और चन्द्र जड़ता का कारण है। उसमें कोई महत्ता या अधिकता है नहीं। कहो समझे? **जड़ता करनेवाला है।**

किन्तु हे पूज्यवर! हे पूज्यवर! हे पूज्यवर! आप तो पूजनेलायक हो। **आपका प्रभासमूह, सन्ताप व जड़ता, दोनों का ही नाश करनेवाला है।** आपकी वाणी सुने... भगवान को भी प्रभामण्डल होता है न। उसमें नजर पड़े तो सात भव दिखते हैं। और चैतन्यप्रभु सर्वज्ञ उसमें नजर पड़ जाए तो अपने स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन हो जाए। ऐसा प्रभासमूह मिथ्यात्व, सन्ताप का नाश करता है। अचेतन जड़ भाव विकार, उसका नाश कर चैतन्य की जागृति करनेवाला भगवान, आपका ही .... है। आप ही यथार्थ चन्द्र, सूर्य से दूसरी चीज़ की उपमा आपको दे... चन्द्र, सूर्य की आती है? जयचन्दभाई! आता है कहीं? किसमें? लोगस्स किया है या नहीं? चंदेसु णिम्मलयरा आईतेसु अहिंयपयासयरा सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धि... पहले तो किया था या नहीं? चंदेसु णिम्मलयरा, णिम्मलयरा, णिम्मलतरा। हे भगवान! आप चन्द्र से निर्मल हो। तो कहते हैं, नहीं। चन्द्र तो जड़ता लानेवाला है। रात्रि में निद्रा लाता है अथवा विषय की वासना (लाता है)। यहाँ तो निमित्त का कथन है न। और सूर्य का आताप गर्मी... गर्मी... गर्मी (देता है)। ऐसे देश हैं कि वहाँ सूर्य (की इतनी गर्मी होती है कि) चमड़ी काली पड़ जाए। क्या कहते हैं? सिद्दी, सिद्दी। अरबस्तान, अफ्रीका। चमड़ी एकदम काली। आताप लगता है।

प्रभु! आपका प्रभासमूह जड़ता का नाश, विषय वासना का नाश, अज्ञान-अचेतन का नाश और चैतन्य की जागृति, और सन्ताप, आकुलता का भी नाश करनेवाला है। निमित्त से कथन है न, भैया? भक्ति में निमित्त आता है न? उपादान, अन्दर शुद्ध उपादान से करे, तब निमित्त का कथन उसमें आता है। ये दो पुस्तक आ गये हैं। जैनतत्त्व मीमांसा।

भावार्थ – यद्यपि संसार में बहुत से तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु

हे पूज्यवर... प्रभु! कोई भी तेजस्वी पदार्थ... देखो! यह मिलान करते हैं। आपके प्रभासमूह जैसा है, उसका किसी के साथ मिलान होता नहीं। (कोई भी) आप समान **उत्तम पदार्थ नहीं है, क्योंकि यदि हम सूर्य को तेजस्वी पदार्थ कहें तो उसकी प्रभा, मनुष्यों को अत्यन्त सन्ताप देती है, यदि चन्द्रमा को उत्तम व तेजस्वी पदार्थ कहें तो...** यह बात भी बन नहीं सकती। क्योंकि चन्द्रमा का प्रभासमूह जड़ता करने में समर्थ है। निमित्त से (कथन है)।

किन्तु हे जिनवर! आपकी प्रभा का समूह, सन्ताप तथा जड़ता, दोनों का सर्वथा नाश करनेवाला है, इसलिए आपकी प्रभा का समूह ही उत्तम सुखदायक है। 'वचनामृत वीतराग का परम शान्त रस मूल।' बोलते हैं न? ज्योति आया है या नहीं? 'वचनामृत वीतराग का परम शान्त रस मूल, औषध जो भवरोग का...' भव का ही नाश। पंचास्तिकाय में है कि जिनभवा। भगवान! आप कैसे हो? पंचास्तिकाय शुरुआत (में आता है)। भव को जीतनेवाला जितभवा। और आपकी वाणी? चार गति का भाव और उसका फल जो परतन्त्र है, उसका नाश करनेवाली है। भव बतानेवाली, भव का फल (मिले), ऐसा आपकी वाणी में है नहीं। सर्वार्थसिद्धि का भाव जिस भाव से मिले, उसका भाव बतानेवाले नहीं हो। मोतीलालजी!

मुनि को जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि मिलता है और तीर्थंकरत्व मिलता है, वह भी भव है न? नहीं, आपकी वाणी तो भवछेदक है। भव और भव का कारण, चार गति का जो कारणभाव है, (उसको) छेदनेवाली वाणी है। नहीं, उस राग का छेद कर। स्वभाव सन्मुख होकर शुद्ध परिणति में रहे, वह तेरी दशा और तेरा धर्म है। बीच में शुभराग आता है, वह परज्ञेय की भाँति ज्ञाता को जानने में आता है। जाननेलायक है। जाननेलायक में प्रयोजनभूत कहने में आया, आदरनेलायक नहीं है। परन्तु आये बिना रहता नहीं। कितने ही ऐसा कहते हैं, ये लोग सोनगढ़ में शुभभाव को मिथ्यात्व कहते हैं। पत्र में आता है, हाँ! जैन गजट में आया था। जैन गजट में नहीं, परन्तु जैनदर्शन में आया था। वहाँ उदयपुर में देखा था न। मक्खनलाल। कहाँ गये? उग्रसेनजी! उग्रसेन के गाँव में। ऐसी चिट्ठी चली थी, हमारे जाने से पहले। देखो, ये कहते हैं कि शुभ उपयोग मिथ्यात्व है। अरे! सुन तो सही। शुभ उपयोग को मिथ्यात्व अज्ञानी कहते हैं।

शुभ उपयोग को मिथ्यात्व कौन कहता है? देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा करना, वह भी शुभ उपयोग है। शुभ उपयोग मिथ्यात्व है? है ही नहीं। उसको लाभदायक मानकर, धर्म की पंक्ति में उसको घुसाये कि उससे धर्म होता है, तो वह मान्यता मिथ्यात्व है। वह तो श्रद्धा में विपरीतता हुई। समझ में आया? बड़ा लेख लिखा है, जैनदर्शन में ऐसा लिखा है। फूलचन्दजी सबका जवाब देने के लिये तैयार थे। एक-एक अक्षर का। अरे! सुन तो सही, प्रभु! तू क्या कहता है? किसको आरोप देता है?

यहाँ भगवान को कहते हैं, प्रभु! उत्तम पदार्थ तो आप ही हो। चन्द्र और सूर्य उत्तम नहीं है। कहो, समझ में आता है? भगवानजीभाई! इसमें सब गड़बड़ करते हैं। कानजीस्वामी शुभभाव को मिथ्यात्व कहते हैं। कौन कहता है? तीन काल में शुभभाव को मिथ्यात्व कहनेवाला मिथ्यादृष्टि है। ईश्वरचन्दजी! और शुभभाव को धर्म कहनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। कठिन बात, भाई! पढ़ते नहीं, सुनते नहीं, विचार करते नहीं। पढ़े कहाँ से? पढ़े तो उसका... समझे? रहता नहीं। उसका हृदय रहता नहीं—उसकी मान्यता रहती नहीं। ३०।

गाथा ३०

मंदरमहिज्जमाणांबुरासिणिग्घोससण्णिहो तुज्झ।
वाणी सुहा ण अण्णा संसारविसस्सणासयरी।।३०।।

अर्थ - हे भगवन! हे जिनेश्वर! मन्दराचल से मंथन किये गये समुद्र के निर्घोष (बड़ा भारी शब्द) के समान आपकी वाणी शुभ है, किन्तु अन्य वाणी शुभ नहीं तथा आपकी वाणी ही संसाररूपी विष का नाश करनेवाली है, किन्तु अन्य दूसरी वाणी संसाररूपी विष का नाश करनेवाली नहीं है।

भावार्थ - हे भगवन्! यद्यपि संसार में बहुत से बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और उनकी वाणी भी मौजूद है, किन्तु हे प्रभो! जैसी आपकी वाणी (दिव्यध्वनि) शुभ तथा उत्तम है, वैसी बुद्ध आदि की वाणी नहीं है क्योंकि आपकी वाणी, अनेकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन करनेवाली है और उनकी वाणी, एकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन

करनेवाली है। वस्तु अनेकान्तात्मक ही है, एकान्तात्मक नहीं। आपकी वाणी समस्त संसाररूपी विष को नाश करनेवाली है, किन्तु बुद्ध आदि की वाणी, संसाररूपी विष को नाश करनेवाली नहीं, बल्कि संसाररूपी विष को उत्कृष्ट करनेवाली ही है। आपकी वाणी मन्दराचल से जिस समय समुद्र का मन्थन हुआ था और जैसा उस समय शब्द हुआ था, उसी शब्द के समान उन्नत तथा गम्भीर है।

गाथा - ३० पर प्रवचन

मंदरमहिज्जमाणांबु रासिणिग्धोससण्णिहा तुज्झ।
वाणी सुहा ण अण्णा, संसारविसस्स णासयरी।।३०।।

ओहो! दिव्यध्वनि। अब दिव्यध्वनि (की बात करते हैं)। प्रातिहार्य हैं न एक के बाद एक? **हे भगवान! हे जिनेश! मन्दराचल से मंथन किये गये समुद्र के निर्दोष (बड़े भारी शब्द)...** मेरुपर्वत को दण्ड बनाकर। मेरुपर्वत एक लाख योजन ऊँचा। (उसका) दण्ड बनाकर समुद्र में मन्थन (करने में आये)। जैसे दही में मथनी होती है न? क्या कहते हैं? रवैया। ऐसा-ऐसा करते हैं या नहीं? तो दही की छाछ हो जाती है। उसी प्रकार समुद्र में मेरुपर्वत ... ऐसा निकला, उसमें—दही में भी आवाज निकलती है न? एक मण दही हो, उसमें गर्म पानी डाले तो ऐसी आवाज होती है अन्दर से... ये तो मेरुपर्वत समुद्र में डालकर (हिलाये तो) ऐसी आवाज (होती है), प्रभु! आपकी ध्वनि ऐसी निकलती है। ओहोहो! मनुष्य की ध्वनि। समझ में आया? **हे भगवान जिनेश! मन्दराचल से मन्थन किये गये समुद्र के निर्घोष (बड़े भारी शब्द) के समान आपकी वाणी ही शुभ है,...** गम्भीर ध्वनि निकलती है। गर्जना होती हो। ओहोहो! सहज, हाँ! जैसे बादल में गर्जना होती है न? कौन करताा है? कौन करे? वह तो सहज ऐसी वाणी हो जाती है।

भगवान की वाणी... ऐ... मास्तर! भगवान की वाणी कैसी है? विस्ता या प्रयोगसा? हँसते हैं। बच्चों! कहाँ गये विद्यार्थी? प्रश्न करते थे। भाई! भगवान की वाणी गर्जना की उपमा दी है, परन्तु गर्जना विस्ता है और ये वाणी प्रयोगसा है। चैतन्य

का उसमें निमित्त है। **उसके समान आपकी वाणी ही शुभ है...** वाणी शुभ है। जड़। भगवान! हम सुनते हैं तो हमको शुभ उपयोग हमारे कारण से हुआ। आपकी वाणी भी शुभ है। वाणी शुभ है, वाणी पूज्य है। आता है या नहीं? वाणी पूज्य है। आहाहा! भगवान! आप तो पूज्य हो, आपकी वाणी (पूज्य है)। वाणी तो जड़ है, अचेतन है। वाणी जिस पत्र में लिखते हैं, वह भी अचेतन जड़ है। उसको पूज्यता से नमन करना, वह भी शुभभाव है, शुभ उपयोग है। तो कहते हैं कि शुभ उपयोग आता तो है। आपकी वाणी को हम शुभ कहते हैं। हमारे शुभ उपयोग में वह निमित्त पड़ती है। शुद्ध का भी निमित्त कहने में आता है।

आपकी वाणी अत्यन्त शुभ है, अत्यन्त शुभ है। जड़। किन्तु अन्य वाणी शुभ नहीं है। **आपकी वाणी ही संसाररूपी विष का नाश करनेवाली है,...** संसार के विष को उतारनेवाली आपकी वाणी है। जैसे मन्त्र (बोलते हैं) तो विष उतर जाता है। सर्प काटा हो। भगवान! निमित्त से कथन है न। उतरे, तब निमित्त में ऐसा आरोप देने में आता है न? संसार का विष अनादि से चढ़ा है, विकल्प, राग, दया, दान, व्रत का शुभराग मेरी चीज़ को लाभ करेगा, ऐसी विषदृष्टि जो हुई है, आपकी वाणी जहाँ सुनते हैं तो संसार का नाश कर देती है। तब (वाणी) सुनी कहते हैं। समझ में आया? संसार में तो यह करना है, ... करना है। कोई भी उदयभाव संसार का (हो), जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, षोडशकारण भावना भाते हैं, आता है न? कहाँ गये श्रीचन्दजी? है या नहीं? क्या बोलते हो? भूल जाते हैं। आप पूरा दिन वहाँ बोलते हो। षोडशकारण भावना भाते-भाते, परमगुरु होय, परमगुरु होय। आता है या नहीं? षोडशकारण तो शुभराग है, वह तो आस्रवतत्त्व है। समझ में आया? तो आस्रवतत्त्व की भावना करने योग्य नहीं है। मोतीलालजी! वह आये बिना रहता नहीं। जब तक वीतराग न हो, सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञान (हुआ है), अभेद दृष्टि का भान है, परन्तु अभेद की परिणति पूर्ण नहीं हो, तब तक वह तीर्थंकर गोत्र का भी भाव आता है। परन्तु उसका भी नाश करनेवाली आपकी वाणी है। नाश, भव का भाव और भव, सबके विष को उतारनेवाली वाणी है।

जबकि अन्य वाणी,... दूसरे की वाणी **संसार-विष का नाश नहीं करती।**

भगवान! आपकी ध्वनि... देखो! ध्वनि तक आये। आठ प्रातिहार्य लेने हैं न? आपकी वाणी में ही कोई अचिन्त्य प्रभाव है कि आपकी वाणी सुनते हैं, उनकी दृष्टि में संसार-विष रहता नहीं। क्योंकि आप संसार का नाश करके ही वीतराग हुए हैं। और आपकी वाणी में संसरण इति (संसार), स्वभाव से खिसकर दूर होना, ऐसा उपदेश आपकी वाणी में है ही नहीं। संसार—संसरण इति संसार। उदयभाव को संसार कहते हैं। उस उदयभाव को तो नाश करनेवाली है। उसकी वाणी में ऐसा निमित्तत्व की ताकत है। अपने शुद्ध उपादान से जो अन्तर एकाग्र हो, उसको ऐसी वाणी में निमित्तता है, ऐसा कहने में आता है। नहीं तो अनन्त बार निमित्त वाणी भी सुनी। बराबर है? भगवान की दिव्यध्वनि भी अनन्त बार सुनी। कल्पवृक्ष का फूल, मणिरत्न का दीपक, (उससे) पूजा भी अनन्त बार की। परन्तु उसकी क्रिया का कर्ता और बीच में शुभभाव आया, उससे मुझे धर्म होगा, ऐसी मान्यता का शल्य रहा तो उसको आत्मा का कुछ लाभ हुआ नहीं। कहो, समझ में आया?

विष का नाश करनेवाली दूसरे की वाणी (नहीं है)। भगवान सर्वज्ञ के अतिरिक्त, वीतराग के अतिरिक्त किसी की वाणी विष का नाश करनेवाली नहीं है। श्रीमद् ने कहा है न? 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कही सके नहीं वह भी श्री भगवान जो...' अमृत का समुद्र बहता है। जहाँ अमृत-समुद्र, सागर, शक्ति का सत्त्व जहाँ भरमार उछलती हुई पर्याय में पूर्ण परिणति हुई, वह वाणी द्वारा कितना कहें? वाणी द्वारा कितना आता है? 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जो। उस स्वरूप को अन्य वाणी क्या कहे?' प्रभु! पामर प्राणी, जिसे तत्त्व क्या है, उसकी गन्ध-वासना भी नहीं है, वह वस्तु का स्वरूप कहे, ऐसा तीन काल में बनता नहीं। तेरी वाणी में जो चमत्कार है, ऐसा चमत्कार दूसरे में नहीं। चमत्कार कब कहने में आता है? गणधर दिव्यध्वनि सुनते हैं या नहीं? इन्द्र सुनते हैं या नहीं? बारह सभा है या नहीं? बारह सभा वहाँ क्यों आती है? सुनने को आती या नहीं? उसकी दृष्टि में खबर नहीं है? सम्यग्दृष्टि भी सुनने को आते हैं। उसकी दृष्टि में खबर नहीं है कि मुझे वाणी से लाभ नहीं होगा? और वाणी सुनने में शुभराग है, उससे भी मुझे चारित्र की वृद्धि नहीं होगी। खबर नहीं है? बराबर खबर है। लेकिन सुनने का भाव श्रोता का... चार ज्ञान

और गणधर पद, चार ज्ञान हुए हैं। और अपनी पदवी भी मालूम है, गणधर तो इस भव में मोक्ष जानेवाले हैं। मालूम है, उत्कृष्ट पदवी है, सब ऋद्धि उसके पास (है)।... ज्ञान आदि सब गणधर को उत्कृष्ट होता है। उस भव में ही मुक्ति होनेवाली है, खबर है, फिर भी शुभराग श्रवण, मनन का विकल्प आता है। आहाहा! कठिन बात, भाई! जहाँ निर्विकल्प की बात करे वहाँ विष को उड़ा देती है। राग का विष। और कहे कि बीच में राग शुभ उपयोग आता है, उसको शुद्ध में निमित्त का आरोप भी देने में आता है। साधक भी कहने में आता है। व्यवहार से साधन कहो, साधक कहो। ऐसा कथन होता है। अनेकान्त प्रभु का पंथ है। परन्तु अनेकान्त का ऐसा अर्थ नहीं है कि राग से भी कल्याण होगा और कल्याण स्वभाव के आश्रय से भी कल्याण होगा। ऐसा दो प्रकार का कथन अनेकान्त नहीं है। वह तो एकान्त मिथ्यादृष्टि का कथन है। कहो, समझ में आया? ३०वीं गाथा पूरी हुई। भावार्थ (बाकी) है न?

भावार्थ – हे भगवान! यद्यपि संसार में बहुत से बुद्ध... बुद्ध इत्यादि बहुत देव विद्यमान हैं। बुद्ध, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ... जिन्हें वीतरागता समझ में नहीं आयी है, सर्वज्ञ पद नहीं है, उन सबको ले लेना। **किन्तु हे प्रभो! जैसी आपकी वाणी (दिव्यध्वनि) शुभ तथा उत्तम है, वैसी बुद्ध आदि की वाणी नहीं...** दूसरे की नहीं है। **क्योंकि आपकी वाणी अनेकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन करनेवाली है...** इस अनेकान्त में गड़बड़ी चलती है। अनेकान्त क्या? शुभराग से भी धर्म होगा और निश्चय से भी होगा, उसका नाम अनेकान्त। ऐसा अनेकान्त भगवान की वाणी में आया ही नहीं है। ...चन्दजी! समझ में आता है?

अनेकान्त तो वह है कि परपदार्थ परपदार्थ से है और तेरे से नहीं है। तेरा भाव तेरे से है और पर से नहीं है। तेरे शुभभाव भी शुभ से है और शुद्ध से नहीं है। और शुद्धभाव स्वभाव के आश्रय से होता है, शुभभाव से नहीं। उसको भगवान अनेकान्त कहते हैं। उल्टी गड़बड़ करे, उसको अनेकान्त कहते नहीं। खबर भी नहीं। शास्त्र सुने और अन्दर से गड़बड़ी करे। देखो! भगवान की वाणी अनेकान्त है। आया न? अनेकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन करनेवाली है। एक-एक पदार्थ अपने द्रव्यस्वभावरूप है, गुणस्वभाव से गुणरूप भी है, पर्याय भी है। एक समय की पर्याय त्रिकाल में

नहीं और त्रिकाल पदार्थ एक समय में आता नहीं। ऐसी अनेकान्त वाणी भगवान, आपकी है। दूसरे में है नहीं। सर्वज्ञ एक समय में तीन काल देखते हैं। **वर्णन करनेवाली है...**

जबकि वस्तु अनेकान्तात्मक ही है,... वस्तु कैसी है ? अनेक आत्मक, अनेक धर्मस्वरूप। अनेक धर्मस्वरूप का अर्थ ? एक पदार्थ में ज्ञान है तो ज्ञान दूसरे गुणरूप नहीं। और एक द्रव्य एक गुणरूप नहीं। एक गुण एक द्रव्यरूप नहीं। एक गुण एक द्रव्यरूप है ? एक पर्याय एक गुणरूप है ? एक गुण एक पर्यायरूप है ? एक गुण एक द्रव्यरूप है ? एक द्रव्य गुणरूप है ? नहीं। गुण एक पर्यायरूप है ? नहीं। ऐसी अनेकान्त वाणी, भगवान ! आपकी है, दूसरा वह कह सकता नहीं, दूसरे में है नहीं। देखो ! देव की वाणी कैसी है, उसकी पहचान (करवाते हैं)। पण्डित नाम धारण करके बड़े-बड़े शास्त्र पढ़ ले, और पढ़ डाला, कहते हैं न ? इतना पढ़कर पढ़ डाला। पढ़कर छोड़ दिया। परन्तु उसका मर्म क्या है, उसका रहस्य क्या है, उसे समझे नहीं तो चैतन्य का पता लगता नहीं।

वस्तु... अनेक अन्त धर्म स्वरूप (है)। आत्मक है न ? अनन्त धर्मस्वरूप है। **एकान्तात्मक नहीं। ...एकान्तात्मक नहीं। आपकी वाणी, समस्त संसाररूपी विष को नाश करनेवाली है; किन्तु बुद्ध आदि की वाणी संसाररूपी विष का नाश करनेवाली नहीं, बल्कि संसाररूपी विष को उत्कट करनेवाली (बढ़ानेवाली) ही है।** विष को बढ़ानेवाली है। भगवान को ऐसा नहीं बोलते। लौकिक, अमुक... अरे ! भगवान किसको कहते हैं ? एक समय को आत्मा कहते हैं, क्षणिक पर्याय को ही आत्मा कहते हैं। वह भगवान कैसा ? त्रिकाली को भूल जाते हैं। अकेले त्रिकाली को आत्मा कहकर, पर्याय का अंश उसमें है, उसको नहीं मानते हैं, वह भी आत्मा का नहीं पहचानते, जानते नहीं। एकान्त माननेवाला एकान्त... देखो ! भगवान का मार्ग, प्रभु ! अनेकान्त है उसका अर्थ, कोई भी द्रव्य, कोई भी गुण, कोई भी पर्याय अपने से है और पर से नहीं है। उसका नाम अनेकान्त है। और स्याद्वाद उसका वाचक है। कहनेवाला। कथंचित् मुख्य-गौण करके कहता है। जब नित्य कहता है, तब अनित्य गौण रह जाता है। अनित्य कहे, तब नित्य गौण रहता है। ऐसी बात स्याद्वाद वाणी में आती है। वाणी

अनेकान्त तत्त्व को बतानेवाली है। तो भगवान की वाणी है, ऐसी वाणी बुद्ध की होती नहीं। बल्कि विष को बढ़ानेवाली है।

आपकी वाणी, समुद्र के मंथन के समय... अन्यमति की बात ली। अन्य में यह बात है न? उसकी बात ली। यह तो दृष्टान्त की बात है। सिद्धान्त उसमें सिद्ध नहीं करना है। उस समय होनेवाला घुघवाट, घुघवाट... घुघवाट समझते हो? आवाज। घु... गरजता है न? ऐसे भगवान आप बैठे थे। ऐसी वाणी निकली, आवाज करती हुई। बारह योजन में लाखों, करोड़ों मनुष्य हों... ऐसी आवाज करती हुई आपकी वाणी है। उसके **समान अत्यन्त उन्नत तथा गम्भीर है।** वाणी कैसी है? उन्नत तथा गम्भीर है। अनन्त-अनन्त भाव को बतानेवाली वाणी, आपके अतिरिक्त दूसरे किसी को होती नहीं। ऐसी भक्ति का भाव है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल १०, बुधवार, दिनांक - ३१-०८-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - ३१ से ३४, प्रवचन-९

भगवान पद्मनन्दि आचार्य मुनि भावलिंगी सन्त इस भरतक्षेत्र में लगभग ९०० वर्ष पहले हो गये। उन्होंने यह एक ऋषभदेव भगवान की स्तुति का कथन किया है। भगवान ऋषभदेव तो बहुत कोडाकोडी सागरोपम पहले हो गये। उनको मानो समवसरण में विराजमान हैं, ऐसे समीपता देखकर भक्ति करते हैं, ऐसा वर्णन करने में आता है। भगवान की भक्ति शुभभाव है, धर्म नहीं। वजुभाई!

धर्मी को आत्मा का ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है, शुद्ध चिदानन्दमूर्ति अनादि-अनन्त आनन्द और पवित्र धाम आत्मा है। पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, शरीर, कर्म से रहित उसकी—आत्मा की प्रतीति में, ज्ञान में, भान में जब सम्यग्दर्शन होता है, तब धर्मी को परमात्मा प्रति भक्ति, पूजा, उनका विनय, बहुमान ऐसा भाव आये बिना रहता नहीं। वह भाव आता है, उसको पुण्य परिणाम कहते हैं। शुभभाव कहते हैं। शुभभाव तो मुनियों को भी भक्ति करने में आता है। और गृहस्थ भी भगवान की प्रतिमा, यात्रा, पूजा, श्रवण, मनन में धर्मी गृहस्थों को भी शुभभाव-पुण्यभाव बन्धभाव है तो भी आये बिना रहता नहीं। वह बन्धभाव, मुक्ति का कारण नहीं। वह बन्धभाव-पुण्यभाव से धर्म की प्राप्ति होती है ऐसा नहीं। परन्तु तीव्र राग से बचने को ऐसा मन्दराग, पुण्य, कषाय की मन्दता पुण्य परिणाम आता है, ऐसा यहाँ वर्णन किया है। ३० गाथा चली है। ३१। ६० गाथा है। बोलो।

गाथा ३१

पत्ताण सारणिं पिव तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि।
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई।।३१।।

अर्थ - हे प्रभो! हे जिनेश! जो अज्ञानी जीव, आपकी वाणी को प्राप्त कर लेते हैं, उन अज्ञानी जीवों की भी वह गति होती है, जो गति, मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल प्राप्ति की कारण होती है।

भावार्थ - जो जीव ज्ञानी हैं, वे आपकी वाणी को पाकर मोक्ष -स्थान में जाकर उत्तमफल को प्राप्त होते हैं, इसमें तो किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं, किन्तु हे भगवन! अज्ञानी पुरुष आपकी वाणी का आश्रय कर मोक्ष-स्थान में उत्तम फल को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार नदी, वृक्ष के पास जाकर उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण होती है; उसी प्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण है; इसलिए आपकी वाणी उत्तम नदी के समान है।

गाथा - ३१ पर प्रवचन

पत्ताण सारणि पिव, तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि।
जो मोक्खतरुट्ठाणे, असरिसफलकारणं होइ।।३१।।

जैसे समीपता को प्राप्त वृक्षों को नदी उत्तम फल रूपी उत्पत्ति का कारण होती है। नदी। जो वृक्ष के समीप नदी जाती है, नदी जाती है, तो उस वृक्ष में उत्तम फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से हे प्रभु! सर्वज्ञ पद में उनकी वाणी निकलती है तो उनके बहाने भक्ति करते हैं। पहले से लिया है। सर्वार्थसिद्धि में भगवान जब पूर्व भव में थे, वहाँ से लेकर यहाँ तक आये हैं। नेमचन्दभाई! वहाँ से भक्ति का प्रारम्भ किया है।

प्रभु! आप जब इस भव के पहले सर्वार्थसिद्धि में थे, तब जो सर्वार्थसिद्धि के देव की शोभा थी, वहाँ से आप निकल गये और जब पृथ्वीतल पर आये, उसके बाद नष्ट हो गयी। ऐसे परमात्मा की भक्ति जहाँ-जहाँ देखते हैं, वहाँ उनका बहुमान आता है। ऐसे करके (कहते हैं), पृथ्वीतल पर आये तो पृथ्वी का वसुमति नाम हो गया। भगवान! आपके कारण से। आपका जन्म हुआ तो इन्द्रों ने, देवों ने आकर पन्द्रह मास रत्न की वृष्टि की। आपके आने से पहले वह वसुमति नहीं थी और आप आये तो पृथ्वी का नाम वसुमति हुआ। उसका अर्थ कि भगवान सर्वज्ञ परमात्मा अथवा तीर्थंकर जहाँ जन्म लेते हैं, वही धन्य क्षेत्र आदि है। ऐसा कहकर भक्ति करते हैं।

कहते हैं, हे जिनेश! **जो अज्ञानी जीव,... 'जडाणं पि'** है न पाठ में? आत्मा का जिसको भान नहीं, मैं कौन हूँ और मेरी आत्मा की प्राप्ति, मुक्ति की कैसे होती है,

इसकी जिसको खबर नहीं, ऐसे अज्ञानी जीव, **आपकी वाणी प्राप्त करते हैं,...** आपकी वाणी को, वाणी तो जड़ है, परन्तु वाणी में कहनेवाला जो भाव है, भगवान की वाणी में क्या आता है ? कि तेरा स्वभाव शुद्ध चिदानन्द वीतराग अविकारी है, उसकी तुम दृष्टि और स्थिरता और राग, पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, (वह) बन्ध का कारण है, उसकी तुम उपेक्षा करो। उसकी अपेक्षा करो नहीं। वजुभाई ! ऐसी वाणी भगवान की है, उस वाणी को जो समझता है, वाणी वाणी के कारण से प्राप्त करते हैं, **वाणी प्राप्त करते हैं,...** ऐसा लिखा है। वाणी प्राप्त करते हैं, इसका अर्थ (क्या) ? वाणी तो वचन है, वचनवर्गणा भगवान की दिव्यध्वनि। उसमें से आगम की रचना हुई, उस वाणी में कहनेवाला वाच्य, वाच्य-भाव। जो आत्मा अविकारी अखण्डानन्द शुद्ध चिदानन्द है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा का जो शुभभाव होता है, उस बन्ध के कारण से रहित आत्मा है। ऐसा भगवान की वाणी में आता है। समझ में आया ? ऐसी वाणी को जो प्राप्त करता है, उसको क्या फल मिलता है ?

उनकी भी **वही गति होती है, जो मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल प्राप्ति का कारण होती है।** जैसे नदी वृक्ष के मूल में जाए तो उसको बड़ा फल आता है। आम का हो तो आम आदि (प्राप्त होते हैं)। इसी प्रकार भगवान हमारे मूल में आपकी वाणी का भाव यदि प्राप्त हो जाए... समझ में आया ? वृक्ष के मूल में नदी जाती है न ? तब फल होता है न ? ऐसे यहाँ कहते हैं, प्रभु ! आपकी वाणी अरागी वीतरागी भवछेदक वाणी और पुण्य एवं पाप का छेद करनेवाली आपकी वाणी है। आपकी वाणी में ऐसी ध्वनि आती है। जो परमात्मपद, वीतरागपद और सर्वज्ञपद प्राप्त करावे, ऐसी आपकी वाणी है। तो वह वाणी जिसके मूल में गयी, जिसकी श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा भाव आ गया, उसको अति उत्तम मोक्षफल की प्राप्ति होती है। समझ में आया ? यहाँ बन्ध और बन्ध का फल वाणी में आता नहीं, ऐसा कहते हैं। आप वीतराग हैं। प्रभु ! आप तो सर्वज्ञ हो। एक समय में तीन काल-तीन लोक सर्वज्ञपद में आप जानते हो और अविकारी पद भी जानते हो। ऐसी जो प्रथम अल्पज्ञता और राग पुण्य-पाप का विकल्प था, उसको छेदकर अल्पज्ञता नाशकर सर्वज्ञ हुए, पुण्य-पाप का नाश कर वीतराग हुए। ऐसी आपकी वाणी सुनकर जिसके मूल में वह पानी प्राप्त हो जाता है, ... ओहो !

जिस वृक्ष के समीप नदी आती है, तब बड़े-बड़े फल हो जाते हैं। ऐसे हे नाथ! आपकी दिव्यध्वनि ऐसी निकलती है कि जिसके मूल में यदि वाणी घूस जाए, वाणी का अर्थ वाणी में कहने में आनेवाला वाच्य। वाणी का उपचार से कथन है। ऐसा आत्मा अखण्डानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द शुद्ध सिद्ध समान स्वभाव निर्विकल्प है, उसमें मूल में आपकी वाणी पहुँच जाए तो उसको सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्त होकर क्रमश: मोक्षफल की प्राप्ति होती है। उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपकी वाणी में ऐसी ताकत है। वह निमित्त से कथन है। ताकत तो यहाँ समझे तो निमित्त की ताकत कहने में आती है। नहीं तो ऐसी वाणी भी अनन्त बार सुनी है।

यहाँ तो कहते हैं, हम उस निमित्त की बात नहीं करते हैं। हम निमित्त से कहते हैं, परन्तु आपका भाव हमारे हृदय में घुस गया है कि आप तो आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा बताते हो। ज्ञाता-दृष्टा आत्मा। राग का करनेवाला नहीं, पुण्यक्रिया का करनेवाला नहीं, जड़ की क्रिया करनेवाला नहीं। ऐसा आत्मा बताते हो, ऐसा हमारा वृक्ष का मूल है, उसके मूल में यदि आपकी वाणी घुस जाए तो हमें भी मोक्षरूपी फल प्राप्त करने में कोई आश्चर्य नहीं है। अल्प काल में मोक्षरूपी फल प्राप्त करेंगे। ऐसा नि:सन्देह आचार्य महाराज अपना हृदय भक्ति में गद्गद् होकर कहते हैं और अपनी नि:शंकता, निर्भयता और पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति आपकी वाणी से होती है, दूसरे से होती नहीं। कहो, समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा के सिवा ऐसा उपदेश, ऐसा वाणी का वीतरागभाव कभी कोई वाणी में अन्यमति में, अल्पज्ञ में या अज्ञानी में होता नहीं। ज्ञानी

भावार्थ – जो जीव ज्ञानी हैं, वे आपकी वाणी को प्राप्त कर, मोक्ष स्थान में जाकर, उत्तम फल को प्राप्त होते हैं,... अज्ञानी में से ज्ञानी निकाला है। **इसमें तो किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं;...** सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्द चैतन्यमूर्ति है, ऐसा राग से रहित होकर; राग हो, परन्तु उसको पृथक् कर, पुण्य-पाप का विकल्प शुभाशुभ उपयोग से पृथक् कर, अपने आत्मा का जिसको भान हुआ, ऐसे ज्ञानी को आपकी वाणी मिले और मोक्ष मिले, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। उसमें तो कोई आश्चर्य नहीं है। समझे?

किन्तु हे भगवान! अज्ञानी पुरुष भी आपकी वाणी का आश्रय लेकर, मोक्ष

स्थान में उत्तम फल को प्राप्त करते हैं। यहाँ तो बन्ध की बात भी नहीं करते हैं। करते हैं वाणी से। नेमचन्दभाई! प्रभु! ओहोहो! अन्दर उछाला मारता आत्मा अन्दर निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव से भरा है, उसकी दृष्टि करने का आपका उपदेश है। उसका ज्ञान कराकर उसमें लीन होने का आपका उपदेश है। बीच में शुभराग आदि आता है, परन्तु वह रखने लायक है, उससे लाभ होगा, ऐसा आपके उपदेश में कभी होता नहीं। ऐसा उपदेश हो, वह वाणी वीतराग की नहीं। वजुभाई! सेठ को सब रखना पड़े न? यहाँ ना कहते हैं, पुण्य से धर्म नहीं होता ऐसा कहते हैं। भगवान की वाणी से भी धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं। भगवान की मूर्तिपूजा से भी धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त से कथन करते हैं, आरोप करते हैं। वीतरागता बताते हैं न। उनकी वाणी में क्या आता है? भवछेदक वाणी, प्रभु! भव का कारण और उसका फल, आपकी वाणी में ऐसा आता ही नहीं। आपकी वाणी तो भव का नाश करानेवाली है। ऐसा समझकर ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करे, उसमें क्या आश्चर्य है? हरा वृक्ष पानी चूस ले, उसमें क्या? परन्तु सूखने की तैयारी है, वह भी पानी चूस लेता है तो फल आ जाता है। कहो, समझ में आया? अज्ञानी भी प्राप्त करता है।

जिस प्रकार नदी, वृक्ष के पास जाकर उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण होती है; उसी प्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण है,... नदी वहाँ जाए। उसका अर्थ बात को घुमाकर लिया है। जो कोई आपकी वाणी के समीप आते हैं, उसको वाणी समीप आयी, ऐसा कहने में आता है। ओहो! कहो, समझ में आता है? धन्नालालजी! वाणी भगवान सुनाने को जाते हैं? भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जहाँ समवसरण में विराजते हैं, उनकी वाणी सुनने को सभा जाती है तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करे, उसमें तो कोई आश्चर्य नहीं है। अज्ञानी अप्रतिबुद्ध मूढ़ जीव आपकी वाणी को प्राप्त कर, आपकी वाणी का भाव समझकर अल्प काल में मोक्ष प्राप्ति करे, उसमें हमें कोई शंका नहीं है। ऐसी आपकी वाणी है। निमित्त से कथन है। भक्ति में तो व्यवहार से कथन है। व्यवहार आरोपित बात है और परमार्थ अनारोपित वस्तु का स्वभाव है।

ऐसे तो भगवान की वाणी अनन्त बार सुनी। यहाँ तो वह बात कहते ही नहीं। हमने तो सुनी वह सुनी, ऐसा कहते हैं। हमने तो आपकी वाणी बराबर सुनी। सुनी का अर्थ वह है, आप कहना चाहते हो, **'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस वि कामभोगबंधकहा'** इच्छा और इच्छा का फल आपकी वाणी में नहीं आता। वह बन्ध का कारण तो अनादि से सुना है। इच्छा उत्पन्न हो और इच्छा का पुण्यबन्ध हो और उसका फल संयोग हो, ऐसी वाणी तो अनन्त बार सुनी और ऐसी कामभोग की अनन्त कथा अनन्त बार की। आप तो उससे भिन्न बात करते हो। इच्छा और भोग से निवृत्त हो। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु की आप दृष्टि कराते हो। हमारे मूल में आपकी वाणी आ जाती है। हमारे मूल में आपकी वाणी घुस जाती है। मधुर आता है न? पंचास्तिकाय में आता है न? हितकर, मधुर और स्पष्ट। विशद-स्पष्ट। आपकी वाणी प्रभु! हितकर है। हितकर का अर्थ मोक्ष करानेवाली। बन्ध करानेवाली आपकी वाणी है ही नहीं। पंचास्तिकाय भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ, (कहते हैं), सर्वज्ञ आपकी वाणी तो हितकर है। हितकर तो मोक्ष है। मोक्ष करानेवाली है, बन्ध करानेवाली आपकी वाणी में भाव आता नहीं। बन्धभाव है, बन्ध का कारण है, उसको तो ज्ञेय के रूप से जान लो। तुम्हारा स्वभाव नहीं है। ऐसी हितकर, मधुर, मनोहर। जिसको आत्मा का रसिकपना प्रगट हुआ है, उसको वीतराग की वाणी मधुर मीठी लगती है। मानो कान में अमृत डाल रहे हो, ...भाई! यह दूसरी बात है, पैसे कमाने की बात नहीं है। यह तो दो-पाँच लाख पैदा हो, फलाना हो, चाचा-भतीजा बैठकर बातें करते हो, उस बात में मिठास लगती हो। यहाँ वह नहीं है, वह सब तो पापकथा है। वजुभाई!

वीतराग! आहाहा! अरे! प्रभु! तेरा चैतन्यस्वभाव है न, भगवान! ज्ञायकस्वभाव है न। परम स्वभाव से भरा परमात्मस्वभाव वीतराग तेरा है न, उसकी दृष्टि कर। मूल में पहुँच जा, मूल में जा। कहते हैं, अज्ञानी का अज्ञान नाश होकर आपकी वाणी उसके पास पहुँच जाती है, तो उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अज्ञानी भी ज्ञानी हो जाता है और धर्म की प्राप्ति कर मोक्ष को प्राप्त होता है। ३१ (हुई)। ३२ (गाथा)।

गाथा ३२

पोयं पिव तुह पवयणम्मि सल्लीणा फुड़महो कयजडोहं।
हेलाए च्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं।।३२।।

अर्थ - जिस प्रकार जिन मनुष्यों के पास जहाज मौजूद है, वे मनुष्य उस जहाज में बैठकर, जिसमें बहुत-सा जल का समूह विद्यमान है, ऐसे समुद्र को बात की बात में तिर जाते हैं। उसी प्रकार हे पूज्य! हे जिनेश! जो मनुष्य आपके वचन में लीन हैं अर्थात् जिन मनुष्यों को आपके वचन पर श्रद्धान है, बड़े आश्चर्य की बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्र में, जिसका अन्त नहीं है, ऐसे संसाररूपी सागर को तिर जाते हैं।

भावार्थ - हे प्रभो! इस समय संसार में जितने जीव हैं, सब सामान्यतया अज्ञानी हैं। उनको स्वयं वास्तविक मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि हो सकता है तो आपके वचन में श्रद्धान रखने पर ही हो सकता है; इसलिए हे प्रभो! जिन मनुष्यों को आपके वचनों पर श्रद्धान है, वे मनुष्य अनन्त संसार-समुद्र को बात की बात में तिर जाते हैं, किन्तु जो मनुष्य आपके वचनों में श्रद्धान नहीं रखते, वे इस संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकते। जिस प्रकार जहाजवाला ही समुद्र को पार कर सकता है और जिसके पास जहाज नहीं, वह नहीं कर सकता।

गाथा - ३२ पर प्रवचन

पोयं पिव तुह पवयणम्मि, संलीणा फुडमहो कयजडोहं।
हेलाए च्चिय जीवा, तरंति भवसायरमणंतं।।३२।।

आहाहा! हे नाथ! मानो समवसरण में प्रभु विराजते हों। और इन्द्र जैसे १००८ नाम से स्तुति करते हैं न भगवान की? १००८ नाम से, ऐसे। ये मुनि तो पंचम काल के हैं। भगवान का विरह हुए हजारों वर्ष (हो गय)। हमें विरह नहीं है, ऐसा कहते हैं। हमें तो आपकी वाणी की समीपता हो गयी है। भाई! ओहो! धन्नालालजी! वाणी-भगवान की दिव्यध्वनि तो कहाँ रह गयी।

भगवान! हम पंचम काल के मुनि सन्त दिगम्बर हैं, आपकी वाणी हमारे समीप आ गयी है। जैसा आपने कहा था ऐसा शास्त्र है, ऐसा गुरु ने हमको बताया तो आपकी वाणी हमारे समीप घुस गयी है। आपकी वाणी का हमें विरह है, ऐसा हम नहीं मानते। आपकी वाणी हमारे समीप आ गयी है। हमारे समीप आ गयी है। ओहोहो! उसका अर्थ कि वाणी के भाव के समीप हम आ गये हैं। वाणी में जो भाव कहने में आता है, उसके समीप हम हैं। आपकी वाणी हमारे मूल में आ गयी है।

जिसके पास जहाज विद्यमान है, ३२वीं गाथा। जहाज होता है न, जहाज बड़ा, जिसके पास जहाज विद्यमान है, वे मनुष्य जहाज में बैठकर, जिस प्रकार पुष्कल जल समूह से भरे हुए समुद्र को बात-बात में तिर जाते हैं। आहा! बड़ा समुद्र हो, जहाज साथ में है, जहाज में बैठा है न! बड़ा समुद्र हो तो भी तिर जाता है। ऐसे हे नाथ! हे पूज्यवर! हे पूज्य! हे जिनेश! जो मनुष्य आपके वचन में लीन हैं, वचनों में लीन है अर्थात्? वाणी तो जड़ है। वाणी सुनने के काल में भी राग आता है, शुभ विकल्प है। गणधर सुनते हैं तो भी शुभराग है, पुण्य है। वाणी में कहा हुआ अभेद चैतन्यस्वभाव, अभेद एकाकार स्वभाव अखण्डानन्द अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप है, ऐसी वाणी जो आप कहते हो, उस वाणी में-वचन में मनुष्य लीन हैं। वचनों में लीन है अर्थात् वचनों में कहने में आया भाव, ऐसा अपना निर्विकल्प ज्ञायकस्वभाव, उसमें जो लीन है। अर्थात् जिनको आपके वचन पर श्रद्धान है। क्या कहते हैं?

आपके वचन नाथ! सर्वज्ञ वीतराग, आपकी वाणी बारह अंग, पूर्व एकसाथ निकलती है। ऐसी आपकी वाणी में जिसको श्रद्धा है तो आपकी वाणी में आत्मा जैसा आया, पुण्य-पाप जैसा पृथक् नौ पदार्थ है, नौ पदार्थ है,... पंचास्तिकाय में आता है न? जीव और पुद्गल के संयोग से सात पर्याय होती है। ऐसा वहाँ टीका में शब्द आते हैं। संयोग से सात पर्याय होती है। संयोग से होती है। भगवान आत्मा... राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह आस्रव है। वह कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से होती है। और आत्मा में, आत्मा शुद्ध ज्ञायक है, उसके समीप होकर, एकाकार होकर जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान अर्थात् संवर, निर्जरा हुई तो कर्म का निमित्त का अभावरूप संयोग वहाँ है। और पूर्ण अभाव होकर मुक्ति होती है। और थोड़ा अभाव होकर अपने में संवर, निर्जरा स्वभाव

समीप होकर होते हैं। भगवान! आपने नौ पदार्थ की पृथकता-पृथकता, नौ का कार्य भिन्न-भिन्न कहा, नौ पदार्थ का कार्य भिन्न-भिन्न कहा। समझ में आया? क्या?

आत्मा का कार्य ज्ञाता-दृष्टा होना। संवर का कार्य राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होना, निर्जरा का कार्य शुद्धि की वृद्धि होना। मोक्ष का कार्य पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होना। और पुण्य-पाप का परिणाम जो होता है, वह आस्रव का कार्य है। आस्रव मलिनभाव है। ओहोहो! और वह अटक-रुक जाता है, वह बन्धकार्य है। ऐसा प्रत्येक पदार्थ का आपने कार्य बताया, उसकी जिसके हृदय में श्रद्धा घुस गयी, उसे मुक्ति का मार्ग हाथ में आ गया। आपके वचनों में श्रद्धा है, वे मनुष्य भी बहुत आश्‍चर्य की बात है, पलमात्र में अनन्त संसाररूपी सागर को तिर जाते हैं।

श्रद्धानवान। जहाज। बड़ा समुद्र हो तो जहाज से तिर जाता है। ऐसा अनन्त संसारसमुद्र-उदयभाव-विकारभाव पड़ा है, परन्तु आपने कहा ऐसा उसका कार्य और स्वभाव का कार्य जिसकी दृष्टि में आया, श्रद्धान-रुचि बराबर जम गई कि मैं ज्ञायक हूँ, राग-द्वेष आदि पृथक् है, पुण्यबन्ध आदि पृथक् है, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, जप का विकल्प, पूजा, नामस्मरण आदि सब बन्ध का कारण है। वह अपना धर्म नहीं। ऐसी जिसको नौ तत्त्व के कार्य की श्रद्धा बैठ गयी... समझ में आता है? आपके प्रोफेसर से ये दूसरी बात है। उसमें यह बात आती नहीं। वहाँ तो फलाना-फलाना, ढीकना (ऐसा सब आता है)। मैं वीतराग। कहो, सुजानमलजी! ऐ दूसरी बात है या नहीं? दूसरी बात है। आहाहा!

अनन्त संसार तिर जाता है। अनन्त संसार। अनन्त संसार का अर्थ—जो शुभ-अशुभभाव अनेक प्रकार का है, अनन्त परपदार्थ है, उसमें अपनी बुद्धि है, वह मेरा है, वह अनन्त संसार है। और उससे रहित अपना स्वभाव संसारभाव और संसारफल से रहित है, उसकी दृष्टि जिसको हुई, वह अनन्त संसार से तिर जाता है। उसको भव रहता नहीं। समझ में आया? यह मात्र भगवान की भक्ति और शुभराग की बात नहीं है, हों! वह तो पहले से चली आती है। दुनिया मान लेती है कि भगवान की भक्ति करो, पूजा करो।

वह हमारे अजमेर की मण्डली आती है न? तो पहले (संवत्) २००६ की साल

में। दस साल हुए। देखो महाराज! सौभागचन्द डॉक्टर। लो, अंजनचोर भी तिर गया, नि:शंक हुआ तो। अरे! सुनो तो सही। ऐसा नि:शंकपना अनन्त बार किया। क्या तिरे? वजुभाई! भजनमण्डली में सौभागचन्द वहाँ के बड़े हैं न। पूरे मण्डल के बड़े हैं। सब भक्ति वह बनाते हैं। अभी तो पहली बार मिले थे। २००६ की साल। राजकोट। प्रवचन सुने। अंजनचोर भी नि:शंक हुआ तो तिर गया। भक्ति से तिर जाते हैं, यह बात सच्ची नहीं है। जैनदर्शन में ऐसी-वैसी बात है नहीं। वह तो शुभराग था। वह तो भविष्य में आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन पाया तो उसका आरोपपूर्वक कहा। नि:शंक का व्यवहार राग में करके कथन कर दिया है। हजारीमलजी! आते हैं या नहीं आठ? रत्नकरण्ड श्रावकाचार में नहीं आता है? नि:शंक, नि:कांक्षित आदि आठ नाम आते हैं। तो क्या हुआ? वह तो भविष्य में अपनी वस्तु की स्थिति श्रद्धा-ज्ञान में सर्वज्ञ परमात्मा जैसा आत्मा लिया तो पूर्व के राग में आरोप कर, उससे तिर गया, ऐसा कहने में आया है। ऐसी राग की मन्दता, नि:शंकता तो अनन्त बार की।

'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवेयक उपजायो।' उसमें नि:शंकता नहीं थी? बाह्य की व्यवहार नि:शंकता? 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया, उसमें क्या हुआ? भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द की शक्ति का भण्डार पड़ा है। निर्विकल्प अभेद स्वभाव की दृष्टि किये बिना कभी तीन काल, तीन लोक में अनन्त संसार का उद्धार होता नहीं। वह कहते हैं। प्रभु! हमारे अनन्त संसार का उद्धार हो गया। ओहोहो!

भावार्थ – हे प्रभु! इस संसार में जितने भी जीव हैं, वे सब सामान्यतया अज्ञानी हैं। उनको स्वयं तो वास्तविक मार्ग का ज्ञान नहीं है। स्वयं को ज्ञान है नहीं। **यदि उन्हें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति करना है तो आपके वचनों पर श्रद्धान करना आवश्यक है...** दूसरे से कुछ होता नहीं। आप सर्वज्ञ परमात्मा जैन परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ, जिसको सौ इन्द्र पूजते हैं। आपकी वाणी में जो भाव आया, उस भाव की जो श्रद्धा करता है, उसको ही मुक्ति प्राप्त होती है। दूसरे को होती नहीं। **आपके वचनों पर श्रद्धान करना आवश्यक है, अतः हे प्रभो! जिन मनुष्यों को आपके वचनों पर श्रद्धान है, वे मनुष्य, अनन्त संसार-समुद्र को शीघ्रता से ही तिर जाते हैं;...** 'हेलाए'

आया है न ? उसका अर्थ किया है न ? लीलामात्र में। ... लीलामात्र में, शीघ्रता से। प्रभु ! आपने जो मार्ग कहा, ऐसा हमको बैठ गया, हमको बात रुचि है। हमारे समीप आप आ गये हो। हमारी श्रद्धा, हमारा ज्ञान शुद्ध स्वभाव में है। तो हम भी अल्प काल में संसार-समुद्र तिर जायेंगे, यह आपकी भक्ति का प्रताप है। ऐसा आरोप करके वर्णन किया है। वास्तविकता से तो निश्चय निज स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करना, वह अपनी भक्ति है। समझे ? व्यवहार भक्ति का आरोप से कथन करने में आता है। **अनन्त संसार-समुद्र को शीघ्रता से ही तिर जाते हैं; किन्तु जो मनुष्य, आपके वचनों पर श्रद्धा नहीं रखते...** यहाँ-वहाँ भटकते हैं। सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात जैन परमेश्वर जिनको एक समय में पूर्ण परमेश्वरता प्रगट हुई। आत्मा ज्ञायक खोल दिया। शक्ति में पूर्ण था, पर्याय में-अवस्था में खोल दिया।

भगवान की कथनशैली जो उसमें निकली, वही भगवान की परमात्मदशा को प्राप्त करने की वाणी है। उसको नहीं मानकर दूसरे को मानता है और कहीं भी सिर फोड़ता है, उसको कभी संसार का अन्त आता नहीं। कहो, बराबर है ? सुजानमलजी !

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सिर फोड़कर मर जाए, बाहर में क्या है ? सिर ही कहाँ आत्मा का है, वह तो जड़ है। शरीर मिट्टी-जड़ है, धूल है। उपवास करके मर जाए, क्षीण हो जाए छह-छह महीने के उपवास करके, मर जाए तो भी क्या है, यहाँ कहते हैं। सूख हो जाए तो भी धर्म नहीं, उसमें धर्म नहीं है। ओहोहो ! भगवान ! आपने जो आत्मा का स्वभाव निर्विकल्प वीतराग रागरहित कहा, उसकी श्रद्धा बैठ गयी, हमारा संसार तिरने में देर नहीं है।

जैसे जहाजवाला समुद्र को तिर जाता है। जिसके पास जहाज नहीं है, वह पार नहीं कर सकता। अस्त-नास्ति की। भगवान ! आपकी वाणी तो संसार-समुद्र तिरने की नाव है। समझ में आया ? संसार-समुद्र तिरने की नाव आपकी वाणी है। वाणी का अर्थ भाव। ३३ (गाथा)।

गाथा ३३

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं।
तह हिययपईपअरं सव्वत्तणमप्पणो णाह।।३३।।

अर्थ – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके वचन ही निश्चय से अनेकान्तवादरूपी विकट मार्ग को सिद्ध करते हैं। हे नाथ! आपका सर्वज्ञपना समस्त मनुष्यों के हृदयों को प्रकाश करनेवाला है।

भावार्थ – संसार में जितने पदार्थ हैं, वे समस्त पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं। जब और जिस वाणी से उन पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन किया जाएगा, तभी उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझा जाएगा, किन्तु दो-एक धर्म के कथन से उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

हे भगवन्! आपके अतिरिक्त जितने देव हैं, उन सबकी वाणी एकान्तमार्ग को ही सिद्ध करती है, इसलिए उनकी वाणी, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं कह सकती, किन्तु आपकी वाणी ही अनेकान्तमार्ग को सिद्ध करनेवाली है; इसलिए वही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर सकती है। आपके सर्वज्ञपने से भी समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश होता है, अर्थात् जिस समय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं, उस समय उनके हृदय में भी वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

गाथा – ३३ पर प्रवचन

तुह वयणं चिय साहइ, णूणमणेयंतवादवियडपहं।
तह हिययपईइअरं, सव्वत्तणमप्पणो णाह।।३३।।

हे जिनेन्द्र! हे प्रभु परमात्मा! **वास्तव में आपके वचन ही अनेकान्तवादरूपी विकट मार्ग को सिद्ध करते हैं...** ओहोहो! क्या कहते हैं? अनेकान्त, आत्मा में त्रिकाल नित्यता भी है और आत्मा में अवस्था का पलटन-परिणमनस्वभाव भी है, यह आपकी वाणी सिद्ध करती है। अज्ञानी कहते हैं, आत्मा नित्य है तो नित्य ही होता है,

अनित्य है तो अनित्य ही होता है? बौद्ध आदि अनित्य ही मानते हैं, सांख्यमति आदि आत्मा को एकान्त नित्य ही मानते हैं। एकान्तवादी को आत्मा का पता लगता नहीं। आप तो अनेकान्त सिद्ध करते हो।

... आत्मा द्रव्य पदार्थ अपने से है और पर से नहीं है। पर आत्मा पर से है और स्व से नहीं है। अपने से वह नहीं और उससे मैं नहीं। और एक-एक पदार्थ में अनन्त गुण है, एक-एक गुण एक-एक गुण से है और दूसरे गुण से नहीं है। एक-एक समय की पर्याय अपनी पर्याय से है और आगे-पीछे की पर्याय-अवस्था से वर्तमान पर्याय नहीं है। समझ में आया? मक्खनलालजी! ऐसा अनेकान्तवाद विकट मार्ग है, विकट मार्ग है। आहा! लोगों को अनेकांत विपरीत घुस गया है न। भगवान का अनेकान्त मार्ग है। निमित्त से भी होता है और अपने उपादान से भी होता है। ऐसा अनेकान्त है ही नहीं। और व्यवहार क्रियाकाण्ड से भी धर्म होता है और स्वभाव के आश्रय से भी धर्म होता है। ऐसा है ही नहीं। एकान्तवादी का कथन मिथ्यादृष्टि मूढ़ का है।

भगवान! आप अनेकान्त सिद्ध करते हो। ऐसे होता है, अपने चैतन्यस्वभाव से शान्ति मिलती है और जितना पुण्य-पाप का विकल्प उत्पन्न होता है, उससे बन्ध होता है। उससे शान्ति-धर्म कभी होता नहीं। ऐसा अनेकान्तवाद विकट तो है, सूक्ष्म तो पड़ता है। आपने उसको—अनेकान्तवाद को सरल करके बता दिया है। समझ में आया?

अनेकान्तवाद रूपी विकट मार्ग को सिद्ध करते हैं तथा आपका सर्वज्ञपना ही समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश करनेवाला है। ओहो! दो बात की। एक तो आप प्रत्येक पदार्थ में अस्ति-नास्ति आदि अनन्त-अनन्त धर्मों की बात करते हैं। अस्ति-अपने से है और पर से नहीं, उसका नाम अनेकान्त है। अपने से भी है और पर से भी है, ऐसा अनेकान्तवाद नहीं है। वह तो एकान्त हो गया। कोई भी पदार्थ लो, अँगुली लो तो एक अँगुली अपने से है और दूसरी अँगुली से नहीं है। तो वह अपने से अपने में अस्ति भी धारण करती है और दूसरे से नास्ति भी धारण करती है। उसका नाम अनेकान्त है। ऐसे अपना स्वभाव अविकारी अपने से प्राप्त होता है। विकल्प दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, दानादि का राग हो, उससे उत्पन्न नहीं होता। उससे धर्म उत्पन्न

नहीं होता। ऐसा अनेकान्तवाद विकट मार्ग है तो भी आप उसको सिद्ध कर सकते हैं। कहो, समझ में आया ?

सर्वज्ञ की बात है। प्रभु! आप सर्वज्ञ हो। दुनिया को प्रकाशित करते हो। तीन काल तीन-लोक को जानने की ताकत भगवान को प्रगट हुई, वह आत्मा है। सर्वज्ञपद कहाँ से आया ? पर्याय कहाँ से आयी ? प्राप्त की प्राप्ति है। अन्तर में वह सर्वज्ञशक्ति पड़ी हो तो प्राप्त होता है। बाहर से तो आती नहीं। सर्वज्ञपद को आपने घोषित किया तो प्रकाश हो गया लोगों में। ओहो! हमारा आत्मा भी सर्वज्ञ होने की ताकत रखता है। अल्पज्ञ और राग-द्वेष का अभाव कर आत्मा सर्वज्ञस्वभावी अन्तर में पड़ा है, उसको आत्मा प्राप्त कर सकता है, ऐसा प्रकाश प्रभु! आपने सर्वज्ञपना से किया है।

समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश करनेवाला है। समस्त मनुष्यों के ? क्या कहते हैं ? सब मनुष्यों के हृदय में प्रकाश किया। सब मनुष्य मानते थे ? प्रभु ! मनुष्य ही उसे कहें कि जो आपकी बात मानते हों, उसे मनुष्य में गिनते हैं। भाई ! समझ में आया ? वह मनुष्य है। दूसरा तो पशु है, तिर्यंच है-पशु है। ... मनुष्य है। आपकी वाणी, सर्वज्ञ हुए और वाणी निकली तो सर्व मनुष्यों के हृदय में प्रकाश करनेवाली है। मन्यते इति मनुष्य, ज्ञायते इति मनुष्य। अपना स्वभाव को प्रकाश करते हैं, उसको मनुष्य कहते हैं। बाहर का (शरीर) मिला, उसको मनुष्य कहते नहीं।

एक बार कहा था न ? श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा, मनुष्य किसको कहना ? वजुभाई ! मोक्षमाला में पाठ लिया है। मोक्षमाला में। सोलह वर्ष में, सोलह वर्ष की उम्र में। श्रीमद् राजचन्द्र। आपके वहाँ हो गये न ? ववाणिया, मोरबी के पास। २१ मील है। श्रीमद् राजचन्द्र। संवत् १९२४ में जन्म और १९५७ की साल में देह छूट गया। उन्होंने सोलह वर्ष की उम्र में मोक्षमाला बनायी। १०८ पाठ। सोलह वर्ष की उम्र में। संवत् १९४०, जन्म संवत् १९२४ में। उसमें १०८ पाठ बनाकर मोक्षमाला नाम रखा। उसमें एक मनुष्य का पाठ है। मनुष्य क्यों कहते हैं ? पाँच इन्द्रिय है, इसलिए ? तो पाँच इन्द्रिय तो बन्दर को भी होती है। परन्तु बन्दर को तुझसे अधिक पूंछ मिली है, तो उसको बड़ा मनुष्य कहना चाहिए। भाई ! समझ में आया ? इन्द्रिय मिली है, दो पैर है, दो हाथ है, दो आँख

है, नाक है। ऐसा मिला तो बन्दर को भी मिला है। तो बन्दर को तो पूंछ विशेष अधिक में मिली है। तो उसको मनुष्य कहना। नहीं, नहीं। मनुष्य उसको नहीं कहते।

मनुष्य किसको कहते हैं? स्व-पर विवेक करे, उसको मनुष्य कहते हैं। सोलह वर्ष में, हों! केवलचन्दभाई! सोलह वर्ष में। आहा! स्व-पर का विवेक है। विकार भिन्न है, मेरा स्वभाव भिन्न है, शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है, परपदार्थ भिन्न है—ऐसा विवेक करे सो मनुष्य। तो सर्व मनुष्यों को, प्रभु! आपकी सर्वज्ञ की वाणी निकली, सर्वज्ञपद सबको प्रकाशो। ओहो! उसमें विकार और पर की उपेक्षा कर, स्वभाव की अपेक्षा करके सर्वज्ञपद मिला तो सबको ऐसा भान हो गया, हम तो ऐसा मानते हैं। आपकी वाणी का प्रसाद सबको मिल गया। ओहोहो! मुझे मिला तो सबको मिला, ऐसा कहते हैं। लो, वजुभाई! स्वयं का पेट भर गया तो सबका पेट भर गया।

भावार्थ – हे जिनेन्द्र प्रभो! संसार के समस्त पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप है। जब वाणी द्वारा उस पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन करने में आता है, तब उसका वास्तविक स्वरूप समझ में आता है। किन्तु एक धर्म के कथन से उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप में समझ में आता नहीं। हे भगवन्! क्या कहते हैं? कोई भी पदार्थ है न? आत्मा हो, परमाणु हो, आकाश हो, धर्मास्ति हो, अधर्मास्ति हो, काल हो। जो पदार्थ है, उसमें एक धर्म नहीं होता। क्यों? कि एक पदार्थ अपना अस्तित्व दूसरे अनन्त पदार्थ के बीच रखता है। अस्तित्व। तो अनन्त-अनन्त पदार्थ से पृथक् रहने की उसमें अनन्त धर्म की ताकत है। समझ में आया?

आपकी कथन पद्धति, अनन्त पदार्थ है, अनन्त आत्मा है, अनन्त परमाणु है। उसमें आपने ऐसा सिद्ध कर दिया कि एक पदार्थ में एक, दो, चार, पाँच संख्यात धर्म होते नहीं। धर्म अर्थात् उसकी ताकत में एक, दो, चार, शक्ति (नहीं है), उसमें अनन्त ताकत है। क्योंकि अनन्त पदार्थ के बीच अपनी शक्ति अपने कारण से टिक रहा है और पररूप कभी हुआ नहीं। आत्मा आत्मापने सदा रहा और परमाणुरूप कभी हुआ नहीं। परमाणु परमाणुपने सदा रहा, दूसरा परमाणुपने और दूसरे आत्मापने कभी नहीं हुआ। ऐसा एक-एक पदार्थ अनन्त पदार्थरूप नहीं हुआ, ऐसा अनन्त धर्म एक-एक में आपने सिद्ध किये हैं। समझ में आया? कठिन बात, भाई! लोग तो बोले, धर्म करो, ये करो,

व्रत करो, उपवास करो, ये करो। अरे! सुन तो सही, वह सब तो राग की क्रिया है। धर्म-बर्म कहाँ रखा है उसमें?

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध रखता है। तब आत्मा में रागरूप नहीं होना, रागसहित नहीं होना ऐसा भी उसमें धर्म है। रागरहित होना धर्म है और रागसहित नहीं होना उसका धर्म है। समझ में आया? ऐसा अनेकान्त पदार्थ अनन्त धर्म, अनन्त धर्म (युक्त है)। ओहोहो! एक-एक पदार्थ में ज्ञान ज्ञानरूप है, ज्ञान आनन्दरूप नहीं, आनन्द आनन्दरूप है, आनन्द ज्ञानरूप नहीं। परमाणु में रंग है, वह रंग रंगरूप है, वह गन्धरूप नहीं है। गन्ध गन्धरूप है, वह रसरूप नहीं। रस रसरूप है, वह स्पर्शरूप नहीं। वह अपने से है और पर अनन्त से नहीं है। यह है, आप कहते हो, उसमें अनेकान्त धर्म-अनन्त धर्म की सिद्धि हो जाती है। समझ में आया? कठिन बात, भाई!

पृथक्ता बताते हैं, देखो! अनन्त है। और एक पदार्थ में अनन्त गुण है, ऐसा कहते ही अनन्त गुण की पृथक्ता अपना धर्म रखकर, दूसरा धर्म और दूसरे पदार्थरूप नहीं होना, ऐसी ताकत एक-एक गुण, एक-एक द्रव्य, एक-एक पर्याय रखते हैं। बराबर है? नेमचन्दभाई! ओहोहो! क्या कहते हैं? धर्म में ऐसी बात कैसी? अरे! धर्म कोई अचिन्त्य वस्तु है या धर्म की लोगों ने कल्पना कर ली है? कि कर लिया—पाँच-पचास हजार का खर्च कर दिया। दो-पाँच-पच्चीस मन्दिर बना दिये। धर्म होगा। धूल में भी धर्म नहीं है, सुन तो सही। धर्म कहाँ से आया? ऐ.. वजुभाई! पोपटभाई!

मुमुक्षु : भावनगर...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने बराबर किया था। बहुत समझकर किया था उसने। ठीक याद किया। राजकुमार ने इन्दौर में किया था न। बराबर सात प्रवचन सुनकर आधा घण्टा बोले थे। बहुत बोले थे। राजकुमार। वजुभाई वहाँ बोले थे।

वास्तविक स्वरूप समझ में आता है। परन्तु दो ही धर्म के कथन से पदार्थ का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता। आहाहा! वह एक पदार्थ की व्याख्या की। पदार्थ है। पदार्थ में धर्म अर्थात् शक्ति एक नहीं होती। अनन्त शक्ति बिना पदार्थ होता ही नहीं। अनन्त-अनन्त शक्ति के बिना अनन्त पदार्थ के बीच में अपना अपनत्व टिकना,

रखना, वह अनन्त शक्ति, संख्या से अनन्त शक्ति, हों! टिकना तीन काल नहीं, वह तो काल की अपेक्षा से, परन्तु एक पदार्थ में अनन्त पदार्थ के बीच में रहना और अनन्त परपदार्थरूप नहीं होना, उसकी अनन्त ताकत आप सिद्ध करते हो। एक परमाणु हो या एक आत्मा हो या एक आकाश हो या एक कालाणु हो। छहों द्रव्य में भगवान! आप अनन्त धर्म सिद्ध करते हो।

एक बार कहा था, कहा था न? सम्प्रदाय में पूछा था। धर्मास्तिकाय के गुण कितने? तो कहा, दो। अरूपी और गति। ये बैरिस्टर। ऐ... छोटाभाई! ये आपके बैरिस्टर। कहाँ गये मलूकचन्दभाई? धर्मास्तिकाय पदार्थ है न? उसमें एक गति धर्म और एक अरूपी (धर्म)। बस! हो गया? बस, क्या पढ़ते रहते हो? मुझे कहा। दो वर्ष की दीक्षा के पहले। (संवत्) १९७२। बस, दो वर्ष है। कुछ खबर नहीं। और माने क्या? हम जैन के बैरिस्टर हैं। आप थे या नहीं? मलूकचन्दभाई! सुना था? अरे..! भगवान!

सर्वज्ञ परमात्मा ने पदार्थ का वर्णन किया, वह पदार्थ है। अनन्त। अनन्त कहते ही अपने स्वभाव में एकरूप नहीं होना, दूसरेरूप नहीं होना, तीसरेरूप नहीं होना, चौथेरूप नहीं होना, ऐसे अनन्तरूप नहीं होना। ऐसी अनन्त ताकत सिद्ध की। एक-एक पदार्थ में अनन्त गुण है। है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक गुण दूसरा गुणरूप नहीं, तीसरा गुणरूप नहीं, अनन्त गुणरूप नहीं है। एक द्रव्य की एक समय की पर्याय-अवस्था-हालत-पूर्व की पर्यायरूप नहीं, भविष्य की पर्यायरूप नहीं, गुणरूप नहीं, द्रव्यरूप नहीं, अनन्त दूसरी पर्यायरूप नहीं। उसके बिना पदार्थ सिद्ध होता नहीं। कहो, समझ में आया?

हे प्रभु! हे भगवन! आपके सिवा जितने देव हैं, उन सबकी वाणी एकान्त मार्ग को सिद्ध करती है। एक धर्म, दो धर्म की शक्ति अथवा तो एक ही आत्मा है। या तो आत्मा का स्वरूप विज्ञानस्वरूप एक ही है, ऐसी बात करते हैं। या तो आत्मा अनित्य ही है, या तो आत्मा नित्य ही है, या तो आत्मा शुद्ध स्वभावरूप है तो पर्यायरूप भी शुद्ध ही है। या तो पर्याय अशुद्ध है तो वस्तु भी त्रिकाल अशुद्ध है। ऐसा एक-एक धर्म की बात करनेवाले वस्तु-पदार्थ को सिद्ध कर सकते नहीं। पदार्थ जैसा है वैसी वास्तविक बात ही सिद्ध कर सकते नहीं। आपकी तरह वास्तविक वस्तु का स्वरूप सिद्ध करनेवाले नहीं हैं।

इसलिए उनकी वाणी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का कथन नहीं कर सकती। ऐसा तो कहे न कि, तुम हो? हाँ। कब का है? अनन्त काल से। अकेला या पर से (है)? हूँ तो अपने से। मैं पर से नहीं हूँ। पर से नहीं हूँ और स्व से हूँ। उसमें पूरा हो गया। अनन्त धर्म उतने में, एक समय में सिद्ध हो गये। अनन्त धर्म नहीं हो तो वह पदार्थ अपने से टिक सकता नहीं। ऐसी वाणी परमात्मा आपके सिवा होती नहीं। कहो, बराबर है? ये भक्ति करते हैं, भक्ति। बड़ी भक्ति, भाई!

यह वास्तविक पदार्थ का ज्ञान और श्रद्धा करना, उसका नाम आत्मा की भक्ति (है)। वही निश्चय भक्ति है। भगवान की भक्ति आदि, पूजा, स्तुति आदि तो शुभभाव व्यवहार भक्ति कहने में आती है। परन्तु निश्चय भक्ति हो तो व्यवहार कहने में आती है। निश्चय नहीं हो तो व्यवहार कहने में आता नहीं। क्योंकि उसमें भी धर्म सिद्ध हुआ कि निश्चय में व्यवहार धर्म नहीं और व्यवहार में निश्चय धर्म नहीं। समझ में आया?

भगवान! आप ही उस बात को सिद्ध कर सकते हो। दूसरे की ताकत नहीं है। अज्ञानी देव कि जिसने तीन काल जाना नहीं, सर्वज्ञपना प्रगट नहीं हुआ है, उसने पदार्थ की ताकत की स्थिति भी जानी नहीं। तो दूसरा वह बात सिद्ध नहीं करेगा। आपकी वाणी अनेकान्त मार्ग को सिद्ध करनेवाली है। देखो! सम्यग्दर्शन। आत्मा अखण्ड आनन्द से भरा है, उसकी प्रतीत सम्यग्दर्शन (है)। और उसकी श्रद्धा नहीं करनी, वह मिथ्यादर्शन। और मिथ्यादर्शन में सम्यग्दर्शन नहीं, और सम्यग्दर्शन में मिथ्यादर्शन है ही नहीं। अपना ज्ञान हुआ सम्यक् में, चैतन्य स्वसंवेदन हुआ तो उस ज्ञान में अज्ञान नहीं। और आत्मा का भान नहीं और अज्ञान है, उसमें सम्यग्ज्ञान नहीं। ऐसा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। स्वभाव स्वरूप का भान होकर स्थिर हुआ चारित्र, उसमें अचारित्र नहीं है। पंच महाव्रत का विकल्प आदि उठते हैं, वह अचारित्र है। अट्ठाईस मूलगुण का (विकल्प) मुनि को उठता है, वह भी अचारित्र है। अचारित्र में चारित्र नहीं और चारित्र में अचारित्र नहीं। समझ में आया? ऐसी बात तो प्रभु! आप ही कर सकते हो। इसलिए उसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर सकते हैं।

तथा **आपके सर्वज्ञपने से समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश होता है।** सर्व पदार्थ का स्वरूप जाना और कहा और वैसी ताकत आपको प्रगट हुई, ऐसी ताकत जो

दृष्टि में आदर्श लेता है, कि ओहो! मैं भी ऐसा ही आत्मा हूँ। वह भी आत्मा है। मेरी जाति का आत्मा है। उसे ऐसी शक्ति प्रगट हुई तो आदर्श के रूप में मेरे आत्मा में भी ऐसी सर्वज्ञशक्ति अन्दर में पड़ी है। सर्वदृष्टा सर्वज्ञशक्ति में वर्णन आया। सर्वज्ञशक्ति है, उसके आश्रय से मेरा सर्वज्ञपद होगा, ऐसा प्रकाश आत्मा को सम्यग्ज्ञान का आपकी वाणी से मिलता है, दूसरे की वाणी से मिलता नहीं। समझ में आया?

समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश होता है अर्थात् जिस समय आपका यथार्थ उपदेश होता है,... यथार्थ न? यथार्थ उपदेश आप देते हो, **उस समय अन्य जीवों के हृदय में भी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।** धर्म का मूल सर्वज्ञ है, ऐसा कहते हैं। धर्म का कथन करनेवाले सर्वज्ञ परमात्मा। ज्ञान की पूर्ण शक्ति का विकास जिसको हुआ, वही धर्म का कहनेवाले हैं। आपने कहा तो दुनिया के हृदय में प्रकाश हो गया। हम भी सर्वज्ञ होने के लायक हैं। हम अल्पज्ञ या राग में रहने के लायक नहीं हैं। ऐसा प्रकाश हृदय में आपकी वाणी से होता है। ३४ (गाथा)।

गाथा ३४

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खिगणणेवि सो अंधो।।३४।।

अर्थ - हे भगवन्! जो मनुष्य, मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के ही बल से आप केवली के वचन में विवाद करता है, वह मनुष्य उस प्रकार का काम करता है कि जैसे, अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा देखे हुए आकाश में जाते हुए पक्षियों की गणना में जिस प्रकार अन्धा संशय करता है।

भावार्थ - जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है - ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गणना करे और उस समय कोई पास में बैठा हुआ अन्धा पुरुष उससे पक्षियों की गणना में विवाद करे तो जैसे उस सूझते पुरुष के सामने उस अन्धे का विवाद करना निष्फल है; उसी प्रकार हे प्रभो! हे जिनेश! यदि कोई केवल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का धारी आपके वचन में विवाद करे तो उसका भी विवाद करना

निरर्थक ही है, क्योंकि आप केवली हैं तथा ज्ञान में समस्त लोक और अलोक के पदार्थ हाथ की रेखा के समान झलक रहे हैं और वह प्रतिवादी मनुष्य, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का धारी होने के कारण थोड़े ही पदार्थों का ज्ञाता है।

गाथा - ३४ पर प्रवचन

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो।
वरद्दिट्ठिदिट्ठणहजंत-पविखगणणेवि सो अंधो।।३४।।

आहा! अब, दूसरे के साथ मिलान करके बात करते हैं। भगवान! आपकी आँखें... प्रवचनसार में कहते हैं कि सर्वज्ञ के असंख्य प्रदेश में अनन्त चक्षु हैं। सर्वचक्षु। उसको सर्वचक्षु कहते हैं। असंख्य प्रदेश में शक्ति है। जैसे छोटी पीपर में, छोटी पीपर के दाने-दाने में चौसठ पहरी तीखास-ताकत-चरपराई पड़ी है तो प्रगट होती है। है तो प्रगट होती है। ऐसे अपने आत्मा में, एक-एक आत्मा में सर्वज्ञ और पूर्णानन्द की शक्ति पड़ी है। नेमचन्दभाई! बराबर होगा यह?

हे भगवान! जो मनुष्य, मतिज्ञान... क्या कहते हैं? देखो! **मतिज्ञान-श्रुतज्ञान...** यहाँ श्रुत अज्ञान लेना। उसके **बल से आप केवली के वचनों में विवाद करता है;...** सर्वज्ञ ने ऐसा कहा है, उसमें वाद करते हैं। नहीं, नहीं, ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। अरे! परन्तु तू अन्धा है। मति और श्रुत अज्ञान है, अन्धा है। और जो देखता है, उसके साथ तू वाद करता है, तेरा वाद निरर्थक है। भगवान! वह मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान के बल से आप केवली के वचन में विवाद करते हैं। उनका वह कार्य ऐसा है कि **अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा आकाश में की गयी पक्षियों की गणना में अन्धे व्यक्ति के समान संशय करता है।** क्या कहते हैं? स्पष्ट आँखोंवाले ने १०८ बगुले देखे। अन्धा कहता है, नहीं। तेरी बात झूठी है। लेकिन तूने देखा नहीं, सुना नहीं। आकाश में उड़ते हैं, तेरी नजर पहुँचती नहीं। हमारी तो नजर पहुँचती है कि देखो, एक-एक, एक-एक, चलते-चलते, चलते-चलते गिन लिया। उसके साथ अन्धा विवाद करे, संशय करे कि आपकी बात किस प्रकार से झूठी है? क्या कारण से झूठी है? देखा है तूने?

आकाश में उड़ते पक्षी, उड़ते पक्षी। गति करते हुए पक्षी लिये न। नीचे हो तो हाथ लगाकर अन्धा गिने। हाथ लगाकर। मूल नजर तो है नहीं। समझ में आया?

भगवान! स्पष्ट दृष्टिवाला आकाश में उड़ते पक्षियों की गणना करके कहता है कि १०८ हैं। अन्धा कहता है, नहीं। क्यों नहीं है? कारण क्या? तुझे रंग का भी भान नहीं, आकाश में तेरी नजर पहुँचती नहीं, गति करते हैं, तेरी नजर घूमती नहीं। नजर ही नहीं है तो घूमे कहाँ से? किसके साथ तू वाद करता है? अन्धा। अन्धे का दृष्टान्त नहीं आता? आया था न? अभी दिया था न? भाई! एक अन्धा था। उसको दूध दिया। दूध कैसा है? भाई! अन्धा बेचारा जन्म से होगा। दूध कैसा है? एकदम सफेद है। दूध सफेद है। सफेद कैसा? बगुला जैसा। बगुला कैसा है? ऐसा हाथ किया। दूध देनेवाला अन्धे को (कहता है)। अन्धे ने पूछा, आप दूध देते हो, वह दूध कैसा है? सफेद। सफेद कैसा? बगुला जैसा। बगुला कैसा है? तो कहा, ऐसा। अन्धा कहता है, ऐसा बगुले जैसा दूध मेरे गले के नीचे नहीं उतरेगा। परन्तु तुझे भान नहीं है। हम तो (कहते हैं), बगुला सफेद होता है। तूने पूछा, बगुला कैसा है? दूध ऐसा क्या है? भान नहीं, खबर भी नहीं है। हम सफेद रंग बताते हैं, तो तू कहता है कि बगुला कैसा है? बगुला ऐसा है कहा तो, तू कहता है कि ऐसा दूध मेरे गले के नीचे नहीं उतरेगा। मूढ़ है।

इसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा अनन्त सर्वचक्षु है। तीन काल तीन लोक देखा, उसमें जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का मार्ग बताया, अपनी ऋद्धि सम्पदा अन्दर बोलकर बतायी कि देख, तेरी ताकत इतनी है। अल्पज्ञ ज्ञान में तुझे विशेष ज्ञान होता है। अल्प ज्ञान के अभाव में विशेष आया कहाँ से? अल्प ज्ञान तो चला गया, विशेष (ज्ञान) हुआ। व्यय हुआ, उत्पाद हुआ। तो आया कहाँ से? तेरी शक्ति में अधिक ज्ञान पूर्ण पड़ा है, उसके अवलम्बन से आता है। ऐसा भगवान! आप सर्वज्ञ से बात करते हो, अन्धा विश्वास नहीं करता है। अन्धा संशय करता है कि ऐसा नहीं होता।

अभी तो कितने ही लोग सर्वज्ञ का संशय करते हैं न। एक समय में भगवान तीन काल तीन लोक जाने। तब, तो सबकी बात का अन्त हो गया, सबकी बात का अन्त हो गया। अरे! मूढ़! तू क्या (कहता) है? अन्त क्या? अनन्त है, उसको अनन्त जानते हैं। जानते हैं तो वहाँ अनन्त का अन्त आ गया? समझ में आया? वजुभाई! क्या कहते हैं?

छैनी होती है न? छैनी। गोल छैनी होती है न? गोल। छैनी मारते हैं न? ... कहाँ से उसकी शुरुआत हुई? शुरुआत देखे बिना उसे देखी हम नहीं कहते। परन्तु शुरुआत है नहीं, ऐसा देखा। गोल है, ऐसा गोल है। थाली गोल होती है न? थाली है, देखकर कहा। थाली का किनारा कहाँ से शुरु हुआ? शुरु हुआ ऐसा देखो नहीं तो देखा नहीं। परन्तु शुरुआत है नहीं तो कहाँ से शुरुआत जाने? गोल चक्कर है।

ऐसे वस्तु अनादि-अनन्त है। अनादि-अनन्त है, आदि कहाँ? अन्त कहाँ? ऐसी चीज़ है, ऐसी ज्ञान में लेते हैं। अन्धा। मति-श्रुत के तर्क से, वितर्क से अज्ञानी मूढ़ तर्क करता है। वह अन्ध जैसा है। सर्वज्ञ के पास ... कहो, बराबर है?

भावार्थ – जिसकी दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण है, ऐसा कोई मनुष्य, आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गणना करे और उस समय पास में बैठा हुआ कोई अन्धा पुरुष, उन पक्षियों की गणना में विवाद करे... गणना में विवाद करे। अरे! परन्तु तूने देखा नहीं और गिनती कहाँ से लाया? ऐसे भगवान ने देखे अनन्त पदार्थ, अनन्त आत्मा, अनन्त गुण, भान नहीं है। तू अन्धा है और उसके साथ वाद करने जाता है। व्यर्थ में भटक जाएगा, कहते हैं। जैसे उस तीक्ष्ण दृष्टिवाले पुरुष के सामने **उस अन्धे का विवाद करना निष्फल है;...** निष्फल है न देखनेवाले के सामने?

उसी प्रकार हे प्रभो! हे जिनेश! **कोई मति-श्रुतज्ञानधारी, आपके वचनों में विवाद करे तो उसका विवाद करना निरर्थक ही है। क्योंकि आप केवली हैं। आपके ज्ञान में समस्त लोक-अलोक के पदार्थ, हाथ की रेखा के समान...** हाथ की रेखा देखे, ऐसे भगवान देखते हैं। सब देखते हैं। उसमें विवाद करता है तो सर्वज्ञपद और आत्मा की पूर्णता की तुझे खबर नहीं है। उसके साथ तू विवाद करता है तो निरर्थक सिर फोड़ रहा है। समझे? **हाथ की रेखा के समान झलक रहे हैं...** देखो! **और प्रतिवादी मनुष्य के पास...** यहाँ ज्ञान अर्थात् अज्ञान लेना, हों! सम्यक्ज्ञानी भगवान की वाणी में विवाद करते नहीं। वह तो स्वीकार करता है, यथार्थ है, प्रभु! आपकी वाणी में पदार्थ का स्वरूप, जो तत्त्व है वह त्रिकाल निःशंक ... सर्वज्ञ प्रभु परमात्मा ने जो मार्ग कहा, पदार्थ कहा वैसा है, उसमें शंका होती नहीं। ये तो अज्ञानी की बात करते हैं।

और प्रतिवादी मनुष्य के पास... जो मतिज्ञानधारी हो और आपके साथ (विवाद) करे तो (उसे) थोड़े पदार्थ का ज्ञान है। वह आपके साथ (वाद) करे तो वह मूर्खता में जाता है। कोई पचास हजार या एक लाख रुपये का खर्च करे। परन्तु उसका पुत्र विवाह करता है और वह एक लाख का खर्च करता है तो मैं क्यों नहीं खर्च करूँ? मैं एक लाख रुपये का खर्च करूँगा। अभी एक कहता था, बीस लाख खर्च करने हो तो क्या है? ओहो! लेकिन तेरे पास तो लाख रुपया भी नहीं है, ये क्या बोलता है? तेरे बाप के पास एक लाख नहीं है। बीस लाख का खर्च करना है, उसमें क्या है? तीन-चार लाख रुपया इकट्ठा होना मन्दिर के लिये, उसमें क्या है? तीन-चार लाख तुझे मालूम नहीं है। किसे तीन-चार लाख कहना।

ऐसे मति अज्ञानी और श्रुत अज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी शास्त्र, पदार्थ, मार्ग में संशय करे वह अन्ध मनुष्य के समान है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल १२, शुक्रवार, दिनांक - ०२-०९-१९६०
ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा - ३५ से ३८, प्रवचन-१०

३४ गाथा हो गयी। ३५वीं। देखो! यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति निर्ग्रन्थ आचार्य मुनि हैं, वे भी करते हैं। ऐसा उस प्रकार का भाव आता है, इसलिए निर्ग्रन्थ योगीश्वर भी भक्ति करते हैं। नियमसार में भी समाधि अधिकार में पहली गाथा लेते हुए लिया है कि सर्वज्ञ की स्तुति जिन योगीश्वर भी अशुभ वंचनार्थ—अशुभ पाप के भाव से बचने के लिये अथवा शुद्ध के अभाव के काल में अथवा अशुद्ध के नाश के लिये जिनेश्वर की भक्ति जैन योगीश्वर भी करते हैं। नेमचन्दभाई! मुनि भी करते हैं। है न? जिन योगीश्वर भी करते हैं, ऐसा है वहाँ? अशुभ को छोड़ने के लिये। नाश के दो-तीन अर्थ किये हैं। नाश के लिये, छोड़ने के लिये, बचने के लिये। समझ में आया? यह भाव आता अवश्य है। भक्ति का, पूजा का, राग की मन्दता का, बहुमान सर्वज्ञ परमात्मा की प्रतिमा का या सर्वज्ञ परमात्मा की उपस्थिति में भगवान का। किन्तु वह पुण्यबन्धन का कारण है, ऐसा ज्ञानी समझते हैं और (उससे) रहित आत्मा के स्वभाव की सन्मुख की जो एकाग्रता (होती है), उतना निश्चय सत्य सच्चा धर्म है। परन्तु यह दो नय का कथन यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि अन्यवादी समझ नहीं सकते। ३५।

गाथा ३५

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं।।३५।।

अर्थ - हे भगवन्! हे प्रभो! आपके नय, परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखनेवाले, भिन्न-भिन्न, ऐसे परवादियों के नय (कुनय) रूपी वैरियों के मध्य में तीनों जगत में विजय को प्राप्त होते हैं; इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।

भावार्थ - परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखनेवाले तथा एक-दूसरे के विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं; ऐसे योद्धाओं के द्वारा जिस प्रकार

बात की बात में जीत लिये जाते हैं तो जैसे उन शत्रुओं को जीतने में कोई आश्चर्य नहीं है; उसी प्रकार के प्रभो! जो परवादियों के नय परस्पर में एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखनेवाले हैं, भिन्न-भिन्न हैं; ऐसे उन नयों को यदि परस्पर में सम्बन्ध रखनेवाले तथा अभिन्न आपके नय जीत लेवें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

गाथा - ३५ पर प्रवचन

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगया णया तुज्झ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं।।३५।।

हे भगवन्! देखो! यह भी एक स्तुति है। सर्वज्ञ के ज्ञान का जो अंश नीचे है, उन्हें तो पूर्ण ज्ञान है परन्तु उन्होंने कथन किया है, उस श्रुतज्ञान प्रमाण कि जो आत्मा के शाश्वत स्वभाव को जाने, वर्तमान पर्याय शुभराग को भी जाने। एक साथ जाने, उसका नाम प्रमाण ज्ञान कहा जाता है। उस प्रमाण ज्ञान के दो भाग:—एक निश्चय, एक व्यवहार। ऐसे जो (दो) नय प्रमाण के अंश, आचार्य महाराज (कहते हैं), इस प्रकार से प्रभु, हे भगवान! हे प्रभु! **आपके नय, परस्पर में सम्बन्धरहित भिन्न ऐसे परवादियों के नय (कुनय) रूपी वैरियों के मध्य में तीनों जगत में विजय को प्राप्त होते हैं; इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।**

दूसरे तो कहते हैं कि बस, व्यवहार अर्थात् राग। ऐसा आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसके आश्रय से धर्म होता है, वैसे राग के आश्रय से भी धर्म होता है। यह तो दो नय विरोध हो गया। दोनों का मेल और सम्बन्ध रहा नहीं। भगवान का नय तो दोनों का सम्बन्ध रखता है। सम्बन्ध अर्थात ? निश्चय से तो स्वभाव के आश्रय से कल्याण (होगा) और राग के आश्रय से पुण्यबन्धन का कारण है, इस प्रकार दो नय का सम्बन्ध करते हैं। वह एकान्त ऐसा माननेवाले हैं कि पुण्यबन्ध से—व्यवहार से भी कल्याण होता है और निश्चय से भी (कल्याण होता है), वे तो परस्पर नय के शत्रु हुए, विरोध हुआ।

जो प्राणी, जिनके योद्धा परस्पर कलहवाले हैं, वे बैरी जिसके विरोधी योद्धा अनबनवाले हैं, उन्हें बात की बात में वे योद्धा उनको जीत लेते हैं क्योंकि योद्धाओं का

मेल नहीं और इन योद्धाओं को मेल है। क्या कहा इसमें? हजारीमल! समझ में आया? परस्पर सम्बन्ध नहीं रखनेवाले तथा एक-दूसरे के विरोधी ऐसे शत्रु। शत्रु इकट्ठे हुए हों १००-२००-५०० तो एक-दूसरे के अन्दर विरोधी होते हैं। उनका मेल नहीं होता। ऐसे जो शत्रु, जिनमें परस्पर एकता है तथा एक-दूसरे के विरोधी नहीं—ऐसे योद्धाओं द्वारा जैसे बात की बात में जीत लिये जाते हैं। **तो जैसे उन शत्रुओं को जीतने में कोई आश्चर्य नहीं है।**

उसी प्रकार हे प्रभु! जो परवादियों के नय परस्पर में एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखनेवाले हैं, भिन्न-भिन्न हैं; ऐसे उन नयों को यदि परस्पर में सम्बन्ध रखनेवाले तथा अभिन्न... अभिन्न अर्थात्? जहाँ आत्मा निश्चय से नित्य है, वहाँ ही आत्मा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इन परस्पर नयों का इस प्रकार से सम्बन्ध है। व्यवहार से वे कहते हैं कि आत्मा अनित्य ही है और आत्मा नित्य ही है, वे एक-दूसरे के अन्दर ज्ञान के नय विरोधता को पाते हैं। शत्रु विरोधवाले हों, एक-दूसरे को मेल न हो, उसे शत्रु जीत लेते हैं। उसमें वापस विरोध निकाले। देखो! इसमें एक-दूसरे को विरोध नहीं होना चाहिए। परन्तु विरोध का अर्थ उसका नाम। **विरोध्वंसिनी**—नहीं आता? **'उभयनय विरोध्वंसिनी स्यातपदांके।'** (समयसार कलश ४) इसका अर्थ—एक ओर आत्मा ऐसा कहा जाता है कि वस्तु शुद्ध त्रिकाल सच्चिदानन्द है। दूसरी अपेक्षा से कहा जाता है कि पर्याय में-अवस्था में यह विकार है, विकार का परिणमन है। वे एक-दूसरे के विरोधी लगते हैं, परन्तु विरोध नहीं है। विरोध को ध्वंस करनेवाली भगवान की वाणी है। व्यवहार से अशुद्ध है, यह बराबर है। निश्चय से शुद्ध है, यह बराबर है।

अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु एकरूप से है और पर्याय से अनेकरूप है। ये दो नय परस्पर विरुद्ध लगते हैं। परन्तु विरोध नहीं है। दोनों का सम्बन्ध है। जिस अपेक्षा से एक है, उस अपेक्षा से अनेक नहीं है। जिस अपेक्षा से अनेक है, उस अपेक्षा से एक नहीं है। अज्ञानी, (ऐसा मानता है कि) जिस अपेक्षा से अनेक है तो अनेक है और अनेक ही है। एक है, वह एक ही है। इस प्रकार आत्मा में अनन्त गुण हैं तो अनन्त गुण भिन्न हैं तो भिन्न ही है। एकान्त कहता है। ऐसा नहीं है। अनन्त गुण, गुण लक्षण से भिन्न होने पर भी वस्तुदृष्टि से वे गुण अभिन्न हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति है, उसकी रुचि-परिणति, वह धर्म है और तो भी उससे विरुद्ध शुभराग— भगवान की भक्ति, पूजा, दान, दया भाव ऐसा आये बिना रहता नहीं। तथापि वह निश्चय से विरोध होने पर भी उस काल में उसकी व्यवहार से मैत्री भी गिनने में आती है। क्यों? कि उस जाति की कषाय की मन्दता, अकषाय की दृष्टि और स्थिरता होवे, तब ऐसा भाव, पूर्ण अकषाय न हो, उसे हुए बिना नहीं रहता। यह दो नय का सम्बन्ध है। समझ में आया? वे कहते हैं कि दो नय का सम्बन्ध करो। किस प्रकार से? व्यवहार से भी धर्म होता है। पूजा, दान। लो! उसमें और एक तर्क किया था। ऐसा कहते हैं कि भगवान का उपदेश पर की दया का नहीं है। पर की दया पाल सकता है कोई? तब तो पर ठूंठ हो गया। परपदार्थ की अवस्था जीवन और मरण कोई आत्मा दूसरे का कर सकता है? बिल्कुल नहीं। तथापि उपदेश में ऐसा आता है कि दूसरे जीव को नहीं मारना, दूसरे जीव को दु:ख नहीं देना। इसका अर्थ यह कि उसे ऐसा भाव आता है। वह भाव आने पर भी दूसरे को बचाया जा सकता है, यह बात इसमें सिद्ध नहीं होती। वे कहते हैं कि दूसरे को बचाने का भाव आता है, तो दूसरे को बचा सकता ही है। यह तो परस्पर ज्ञान के अंश-नय विरोधता को पाते हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

यह गहन बात वीतराग के नय आचार्य कहते हैं। समयसार में कहते हैं न, प्रभु! तेरे नय जाल इन्द्रजाल जैसा है। एक ओर कहते हैं कि आत्मा त्रिकाल आनन्द का कन्द है, दूसरे प्रकार से कहते हैं कि उसकी पर्याय में वर्तमान दु:खदशा है। परन्तु आनन्द है, उसमें दु:ख आया कहाँ से? अरे! सुन तो सही। यह विरोध नहीं है। आनन्द उसका स्वभाव होने पर भी, उसकी विपरीत अवस्था में दु:ख है। यदि दशा में आनन्द हो तो मुक्त होने का पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न करने का नहीं रहता। कहो, समझ में आया इसमें?

तो कहते हैं, महाराज! आपकी जो ज्ञान की अपेक्षाओं के कथन हैं, वे परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, परस्पर सुमेलवाले हैं। अज्ञानियों के कथन परस्पर विरोध है-विरुद्ध है। और उन विरोध के नय के योद्धा में आपके नय सम्बन्धवाले-मेलवाले वे उन्हें जीत लें, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। लोग अनेकान्त की व्याख्या ही दूसरी करते हैं। व्यवहार से भी धर्म (होता है)। दो नय को समकक्ष रखना। मोतीलालजी! क्या कहता है तू? दो नय

हैं, यह बराबर है, परन्तु एक व्यवहार को अनित्यनय का विषय वर्तमान क्षणिक रागादि हैं। निश्चयनय का विषय अभेद अखण्ड आनन्दकन्द शुद्ध ध्रुव स्वरूप है। इस प्रकार दो नय को कहे तो उन नय का सम्बन्ध, सम्बन्ध है। दोनों को सम्बन्ध है। ऐसे सम्बन्ध की दृष्टि बराबर समझकर स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता करे, उसे मोह का नाश हुए बिना नहीं रहता। विरोध का नाश करनेवाली है। वे (अज्ञानी के) अकेले विरोध को उत्पन्न करनेवाले हैं। ३६।

गाथा ३६

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ।
जच्छ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा।।३६।।

अर्थ - हे जिनेश! हे प्रभो! ऐसा संसार में कौन-सा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञान के धारक आपका वर्णन करने में समर्थ हो ? क्योंकि बृहस्पति आदि जो उत्तम कवि हैं, वे भी आपका वर्णन करने में मन्दबुद्धि हैं।

भावार्थ - संसार में बृहस्पति के बराबर पदार्थों के वर्णन करने में दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वे इन्द्र के भी गुरु हैं, किन्तु हे जिनेन्द्र! आपका गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं, अर्थात् उनकी बुद्धि में भी यह सामर्थ्य नहीं, जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाध हैं। जब बृहस्पति की जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करने में हार मानती है, तब अन्य साधारण मनुष्यों की जिह्वा आपका गुणानुवाद कर सके - यह बात सर्वथा असम्भव है।

गाथा - ३६ पर प्रवचन

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ।
जत्थ जिण ते वि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा।।३६।।

ओहो! हे जिनेश! हे प्रभु! इस प्रकार सन्मुख रखकर (कहते हैं), सर्वज्ञ परमात्मा

हे नाथ! **ऐसा संसार में कौन–सा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञान के धारक आपका वर्णन करने में समर्थ हो?** लो! **वर्णन करने में समर्थ हो...** लो! और वर्णन कर सकते हैं और फिर कहते हैं कि वर्णन करने में समर्थ किसी की जीभ नहीं होती। समझ में आया? 'जो पद सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में कह सके नहीं वह।' और कहते हैं कि कहा। किस अपेक्षा से? समझ तो सही! कि इस वाणी द्वारा उसका पूर्ण स्वरूप अनुभवगम्य है, वह आ नहीं सकता। परन्तु किसी प्रकार से कथन कहने में न आवे, तब तो जगत में उपदेश और दूसरों को समझाने में निमित्त, इस बात का ही नाश हो जाता है। कथंचित् वक्तव्य न हो तो इनकार करनेवाला कि नहीं, ऐसा नहीं होता... नहीं, ऐसा नहीं होता... ऐसा नहीं होता—ऐसा भी कहा न उसने? कथंचित् वक्तव्य है और किसी अपेक्षा से वीतराग का स्वरूप वाणी द्वारा पूर्ण आ नहीं सकता। यह किसकी जीभ है, कहते हैं प्रभु! कि आपके स्वरूप का वर्णन कर सके! एक समय में जिसने तीन काल तीन लोक एक समय में प्रकाशित किये और उसमें एक समय में पूर्ण ध्वनि—दिव्यध्वनि निकली प्रभु! आपका वर्णन (करने में) किसकी जीभ जगत में है कि कर सके?

क्योंकि बृहस्पति आदि जो उत्तम कवि हैं, वे भी... कुलगुरु लिखा है। इसका अर्थ कवि लिखा है इसमें। देवों के जो गुरु अर्थात् बाहर में बड़े। ऐसे बृहस्पति जैसे कवि भी आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हैं। स्तुति के विकल्प से पूर्ण स्वरूप का वर्णन आ नहीं सकता। ऐसा कहना चाहते हैं, हों! **आदि जो उत्तम कवि हैं, वे भी आपका वर्णन करने में मन्दबुद्धि हैं।** प्रभु! हम क्या वर्णन करें? आप सर्वज्ञ परमात्मा, पूर्णानन्द की प्राप्ति (हुई है)। विकल्प द्वारा और वाणी द्वारा उसका क्या पार पड़े? समझ में आया? पार अर्थात्? पूर्णता की व्याख्या विकल्प द्वारा भी ज्ञात नहीं होती, कही नहीं जा सकती और वाणी द्वारा भी कही नहीं जा सकती। वह तो अन्तर्दृष्टि से इस आत्मा के सर्वज्ञपद को जाना जा सकता है, पहिचाना जा सकता है, माना जा सकता है। बाकी वाणी द्वारा और विकल्प द्वारा प्रभु पार नहीं पाया जा सकता।

संसार में बृहस्पति के बराबर पदार्थों के वर्णन करने में दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है, क्योंकि वे इन्द्र के भी गुरु हैं... बड़े हैं। **किन्तु हे जिनेन्द्र! आपका**

गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं... उनकी बुद्धि में भी इसका सामर्थ्य नहीं है कि जिससे वे आपके गुणानुवाद कर सकें। आड मारता है। आहाहा! प्रभु! हम बाल हैं। हम आपकी स्तुति और यह वस्तु एक समय का प्रभु, और उस समय के प्रभु की प्रगट हुई प्रभुता, उसका क्या वर्णन करें? प्रभु! हम तो मन्दबुद्धि हैं। ऐसा करके अपनी निर्मानता बताकर भगवान की भक्ति और स्तुति कर रहे हैं।

प्रभु! आप एक समय में, समय एक और अंश तीन अनन्त गुणों के। छोटे में छोटा समय कि जिसके दो भाग नहीं होते और एक समय में तीन अंश—उत्पाद, व्यय और ध्रुव। ओहो! यह आपने जाने और आपका ज्ञान इन्हें पहुँच गया, ऐसा कहकर मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है।

स्थिरता एक समय में ठाणे उपजे विणसे सबहि,
उलट पलट ध्रुव सत्ता राखे, या हम सुनी न कबहि,
अबधु नटनागर की बाजी, क्या जाने ब्राह्मण काजी।

ब्राह्मण अर्थात् वेद आदि और काजी अर्थात् कुरान। क्या जाने अन्दर में? ऐसा जो आत्मा का स्वरूप भगवान, समय छोटा और अंश तीन। अनन्त गुणों के तीन अंश एक समय में। आहाहा! अनन्त गुण एक आत्मवस्तु में एक समय में, उसके अंश की पर्याय भी अनन्त अनन्त पर्याय, उन्हें आपने एक समय में ऐसे सबको जान लिया। यह वह आपका ज्ञान प्रभु! बृहस्पति जैसे भी आपकी स्तुति में हार मान जाते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसा चैतन्य माहात्म्यवाला पदार्थ, वे बृहस्पति जैसे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते, ऐसा कहकर भक्ति करते हैं।

हे जिनेन्द्र! आपका गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं, अर्थात् उनकी बुद्धि में भी यह सामर्थ्य नहीं, जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें क्योंकि आपके गुण संख्यातीत... क्या कहते हैं? और वाणी तो थोड़ी है, शब्द थोड़े हैं। यह वस्तु। यह वस्तु एक संसार के साधारण पदार्थ को (नहीं कहा जा सकता)। गाय का घी हो, उसकी मिठास का वर्णन नहीं किया जा सकता। घी-गाय का ताजा होता है सवेरे? उसका भी वर्णन (नहीं किया जा सकता)। क्या करे वर्णन? कैसा मीठा? समझ में आया? गाय का घी कैसा मीठा? केले जैसा? मिश्री जैसा? कैसा?

प्रभु! इस जगत के पदार्थों का इस प्रकार से भी वर्णन (नहीं किया जा सकता) तो आप तो ओहोहो! सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण जहाँ असंख्य-असंख्य प्रदेश में अनन्त-अनन्त प्रकाश का पुंज प्रगट हो गया है। प्रभु! वे आपके गुण क्या कह सकते हैं? बृहस्पति जैसे नहीं कह सकते तो दूसरा कौन कह सकता है? कहो, समझ में आया?

तथा अगाध हैं। अगाध-अगाध। ओहो! देखो न! सवेरे शक्ति (का वर्णन चलता है)। ४७ शक्ति में वर्णन, वह वर्णन। गजब बात! यह तो सर्वज्ञ से वर्णन आया है न! पश्चात् मुनियों ने कहा है। द्रव्य-वस्तु परमात्मा के स्वभाव से परिपूर्ण शक्ति से भरपूर पदार्थ है। उसके समय की अवस्था में विकार आदि हो, वह विकार शक्ति का कार्य वह नहीं है। शक्ति में है ही नहीं। है और शक्ति का कार्य नहीं। यह तो वाणी! वजुभाई! संसार है, पर्याय में संसार-संसरण है। (वह) गुण का कार्य नहीं है। तब गुण का कार्य नहीं तो पर्याय तो गुण का ही कार्य है। पर्याय की व्याख्या... नहीं आता? 'गुण विकारा पर्याया:'। गुण का विशेष कार्य, वह पर्याय है। तो यह विकार संसार है, वह विशेष कार्य नहीं? नहीं, नहीं। सुन तो सही। हम तो पर्यायदृष्टि से ऐसा कहते हैं कि उसके संसार का भाव है। वस्तु दृष्टि से उसके गुणों में विकार हो और विकार कर सके, ऐसी उसमें ताकत ही नहीं है। लो! यह परस्पर विरोध लगता है।

मुमुक्षु : पर्याय .... स्वतन्त्र ...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र है। गुण में ताकत नहीं कि संसार को उत्पन्न करे। संसार को उत्पन्न करे (ऐसी) गुण में ताकत होवे तो संसार का कभी अभाव होगा ही नहीं। भगवान यह संख्यातीत आपके गुण और वाणी जहाँ बृहस्पति की भी जीभ आपका गुणानुवाद करने में अपनी हार मानती है। हार मानती है अर्थात?

देखो न! कल भक्ति की बात नहीं आयी थी उसको? वह कहे, हम भक्ति करते हैं। वह लड़का कहे। हाँ, प्रभु! आपका भक्त हूँ, आपकी भक्ति करता हूँ। यह बात कितनी ली! समझ में आया? न्याय में तो बात इसे विचारनी चाहिए न? निर्मान-निर्मान। प्रभु! मैं तो आपका दासानुदास हूँ। मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? उसको कहे, मेरे लाखों और करोड़ों... धूल में भी नहीं। लाखों कैसे, वह तो पहले खारेक का दिया नहीं? क्या कहलाता है? बादाम। बादाम के ऊपर का छिलका दिया और खारेक का बीच का कस

दिया। भारी, भाई ! तू होशियार। ऊपर खाया, दूसरे में अन्दर का दिया अर्थात् दोनों व्यर्थ। ऐसा नहीं है। जहाँ-जहाँ जो वस्तु का कस और तत्त्व है, उसके ऊपर नजर जानी चाहिए और उस अर्पणता में जानी चाहिए।

संसार में अच्छे घर और अच्छे चावल नहीं बनाता ? और भगवान के नाम से जहाँ-जहाँ चावल साधारण, कपड़े साधारण और मन्दिर साधारण (करे)। तुझे कीमत नहीं है। तुझे भगवान की भक्ति की कीमत नहीं है। ऐसा कहना चाहते हैं। वजुभाई ! घर के कपड़े-बपड़े अच्छे। ऐसा अमुक स्त्री के लिये पाँच सौ की साड़ी, हजार की साड़ी, पाँच हजार का अमुक यह। यहाँ करना हो तो कहे, परन्तु ऐ... सब इतने में हो जाएगा। भक्ति हो जाएगी, जाओ। ...तुझे भक्ति नहीं है। तुझे सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति त्रिलोकनाथ परमात्मा के विरह में उनकी प्रतिमा के प्रति भी तुझे जो भक्ति चाहिए, वैसी भक्ति नहीं है। तथापि वह भक्ति का भाव है शुभ। इस जगत में वह धर्म नहीं है। प्रभु ! यह तेरे कथन की शैली और ज्ञान उसे कौन कह सकता है ? प्रभु ! वह तो तू ही कहनेवाला है। तेरे गुणानुवाद दूसरा कोई नहीं कर सकता।

अन्य साधारण मनुष्यों की जिह्वा आपका गुणानुवाद कर नहीं सकती-ऐसे सर्वथा असम्भव विकल्पों से क्या काम करावे ? विकल्प की वृत्ति से क्या हो ? ऐसा कहते हैं। विकल्प उठता है, वह तो राग है और स्वरूप तो रागातीत है, विकल्पातीत है, वचनातीत है, कायातीत है, मनातीत है। ऐसे स्वभाव की बात तो प्रभु ! विकल्परहित ही ज्ञात होती है और अनुभव में आती है और वेदन में आती है। इस विकल्प से पार पाया जाए, ऐसा नहीं है। यह साथ ही कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

इन्द्र भक्ति करते हैं, जिसकी महिमा। कुन्दकुन्दाचार्य भी भगवान की पूजा, भक्ति, यात्रा करने निकले थे। लो ! जो कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि विकल्प हेय है, जहर है, बन्ध है, छोड़नेयोग्य है। श्रद्धा में बात करे छोड़नेयोग्य। परन्तु इस अस्थिरता के काल में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। परन्तु श्रद्धा में यदि उसे आदरणीय माने और यह मुझे ठीक है - ऐसा माने तो राग को ठीक माननेवाले वीतराग को पहिचानते नहीं। वीतराग को जानते नहीं। वीतराग, वीतरागभाव को प्रशंसा करते हैं, वीतरागभाव का ही आदर करने का कहते हैं, परन्तु तो भी उसका विरोधी राग आता है। प्रभु ! यह शैली और यह आपका ज्ञान, वह बृहस्पति जैसे भी पूर्ण नहीं कर सके। ३७।

गाथा ३७

सो मोहत्थेण रहि ओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया।
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं।।३७।।

अर्थ - हे प्रभुओं के प्रभु! हे जिनेन्द्र! आपने उस समय मोहरूपी चोर से रहित उत्तममार्ग का प्रकाश किया था; इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के धारी भव्य जीव इस समय भी उस मार्ग से ही बिना क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं।

भावार्थ - यदि मार्ग साफ तथा चोरों के भय से रहित होवे तो मनुष्य जिस प्रकार बिना विघ्न के उस मार्ग से चले जाते हैं। उस प्रकार हे भगवन्! आपने भी जिस मार्ग का उपदेश दिया है, वह मार्ग भी साफ तथा सबसे बलवान मोहरूपी चोर से रहित है; इसलिए जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय के धारी हैं, वे बिना किसी विघ्न के सुख से उस मार्ग से मोक्ष को चले जाते हैं।

सारार्थ - मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले प्राणियों को यदि कोई रोकनेवाला है तो मोहरूपी चोर ही है, इसीलिए भव्य जीव सहसा मोक्ष को नहीं जाते, परन्तु हे भगवन्! आपने मोहरहित मार्ग का वर्णन किया है, इसलिए भव्य जीव, निर्विघ्नरूप से मोक्ष को चले जाते हैं।

गाथा - ३७ पर प्रवचन

सो मोहथेणरहिओ पयासिओ पहु सुपहो तए तइया।
तेणज्ज वि रयणजुआ णिव्विग्धं जंति णिव्वाणं।।३७।।

आहाहा! हे प्रभु के प्रभु! सर्वज्ञ परमात्मा की पर्याय की पूर्णता को पहिचानकर कहते हैं। हे प्रभु के प्रभु! गणधरों के भी प्रभु! **हे जिनेन्द्र! आपने उस समय मोहरूपी चोर से रहित...** मोहरूपी चोर रहित। **उत्तममार्ग का प्रकाश किया था;...** क्या कहते हैं? आपने तो अन्दर जो लुटेरे हैं, पुण्य-पाप की सावधानी का मिथ्यात्वभाव और

शुभाशुभभाव वे सब लुटेरे हैं, मोहभाव लुटेरे हैं। उस लुटेरे से बचने के लिये आपने जो मार्ग कहा, वह निर्विघ्न चलता जाए, ऐसा मार्ग आपने कहा है। मोह में तो सब आया या नहीं यह ? कि मोह नहीं होगा इसे ? या दृष्टान्त सब यह देते हैं कि देखो ! ऐसा दृष्टान्त देते हैं न ? रेत का। ऐड़ी ले, तेरे ऐड़ी की छाप बन जाए और अमुक निकल जाए। ऐसा दृष्टान्त दिया था। अब वह तो सब लड़के भी बातें करते हैं, सुन न अब। और वापस क्या बात की है इसमें ? कि नव तत्त्व एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसलिए धर्म नव तत्त्व में आया नहीं। इसलिए पाप से विरोधी पुण्य धर्म है। ऐई ! अरे ! भगवान ! तुझे क्या हुआ ? समझ में आया ?

परमात्मा ने कही हुई बात मोहरहित है। मोहरहित है। तो पुण्य और पाप का भाव मोह है, राग है। पर सन्मुख के झुकाववाली वृत्ति है और वह धर्म नहीं, तथापि व्यवहार धर्म की दशा आये बिना नहीं रहती। यह बात... निश्चयधर्म इससे प्राप्त नहीं होता, तथापि निश्चयधर्म में इसे निमित्तरूप से आये बिना नहीं रहता और निमित्त भी तब कहलाता है कि निश्चय की परिणति करता होवे तो। कहो, समझ में आया ?

एक धर्मध्यान की बात आयी थी जरा। वह समाधि में आता है न ? समाधि के दूसरे श्लोक में। ऐसा कि धर्म की परिणति, उसे धर्मध्यान कहते हैं। ऐसा आता है। उपयोग में बैठा है, वह परिणति जो है, उसे धर्मध्यान कहते हैं। स्वआश्रित धर्म परिणति को धर्मध्यान कहते हैं। स्वआश्रित। आत्मा भगवान परिपूर्ण प्रभु के सन्मुख होकर जो परिणति प्रगट हुई, वह धर्मध्यान है। निश्चय धर्मध्यान है। तथापि पूर्ण वीतरागता न हो, वह भक्ति का शुभभाव व्यवहार उसे उपचार से धर्मध्यान कहने में आता है। ऐसा मार्ग आपने मोहरहित वर्णन किया है। उसमें मोह का अंश है नहीं। मोह तो लुटेरा चोर है। बराबर होगा यह ? क्या कहा ?

उत्तममार्ग का प्रकाश किया था; इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के धारी भव्य जीव इस समय भी उस मार्ग से ही निर्विघ्नरूप से बिना क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं। आपने उस समय वीतरागभाव वर्णन किया था। एक ही मोक्षमार्ग वर्णन किया। रागरहित शुद्ध चिदानन्द की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और आनन्द की रमणता, इसे आपने मोक्ष वर्णन किया, उस समय।

हम उस मार्ग में अभी तब वर्णन किया उसमें हम चले आ रहे हैं। ओहोहो! कहो, समझ में आया? इसमें तो कुछ राग-बाग की बात भी नहीं आती। राग आया है। परन्तु उसे कहते हैं कि मार्ग में गिनते नहीं है। आपने मार्ग में गिनाया ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आता है तो भक्ति तो करते हैं, परन्तु मार्ग में आपने गिनाया नहीं। व्यवहारमार्ग का अर्थ ही आपने वास्तव में मार्ग में गिनाया नहीं।

इस समय भी... मुनि हैं, आचार्य हैं, छठवें गुणस्थान में हैं। विकल्प उठे तब। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान है। कहते हैं, प्रभु! आपने उस समय प्रकाशित किया था न, वह मार्ग निर्विघ्नरूप से मोहरहित (होकर) हम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में चले आ रहे हैं। हम भी मोक्ष के पन्थ में स्थित हैं। यह आपने प्रकाशित किया, इसलिए स्थित हैं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? निमित्त से कथन तो ऐसे ही होवे न! आपने प्रकाशित किया। और वापस ऐसा कहे, और इतने-इतने पुण्य के नजदीक में आये, निश्चयनय तक आये, वह सब पुण्य का फल है और तुम (कहते हो) कि पुण्य हेय है। कहो, पुण्य के कारण आये होंगे निश्चय तक? मोतीलालजी! बहुत लिखा है। बहुत लिखते हैं। कहा, पढ़ो तो सही। शान्तिभाई को कहा। लाये थे न, शान्तिभाई ने पढ़ा, हों! है या नहीं? भावनगर में बोले थे, कौन जाने उठ जाते हैं इस समय। कहो, समझ में आया?

बिना क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं। यदि मार्ग साफ तथा चोरों के भय से रहित होवे तो मनुष्य... देखो न, अभी यह मोटरें कैसे चलती हैं यह? क्या कहलाता है? सीमेण्ट कंकरीट का रास्ता और यह क्या कहलाता है दूसरा? डामर का। उत्तर में जाते हैं तो जहाँ हो वहाँ रास्ता ऐसा। भूले पड़े तो वहाँ सीमेण्ट कंकरीट का रास्ता। नहीं? ५० मील। कैसा गाँव कहा? ऐसे से ऐसे घूमे। चारों ओर जंगल में भी रास्ता सब सीमेण्ट कंकरीट का। मोटर सरसराहट चलती ही जाए। ५०-६०, ६०-६० मील। चोर भी नहीं और वहाँ कोई विघ्न करनेवाला भी नहीं। इसी प्रकार प्रभु! आपने ऐसा मार्ग कहा और चोररहित। साफ-साफ और चोररहित। आहाहा! **मनुष्य जिस प्रकार बिना विघ्न के उस मार्ग से चले जाते हैं। उस प्रकार हे भगवन! आपने भी जिस मार्ग का उपदेश दिया है, वह मार्ग भी साफ है..** देखो! आपके उपदेश में तो निर्लेप, निर्विकल्प वीतरागता की ही बात करते हैं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ...वीतरागता की महिमा आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : महिमा करते हैं। हे नाथ! आपने तो... आहाहा! दिव्यध्वनि का प्रपात खिराया। निमित्त से कथन ऐसा ही आता है न। ऐसा यह मार्ग साफ और चोर रहित आपने बताया है। राग साफ मार्ग होगा? महिमा है नहीं, तथापि राग आये बिना रहता नहीं। ऐसा ही निश्चय और व्यवहार का मेल और सम्बन्ध है। आहाहा! ... वहाँ तो जिन योगीश्वर स्तुति करते हैं, हों! ऐसा आया है। समाधि अधिकार में। उसमें पहली गाथा है न? अशुभवंचनार्थ सर्वज्ञ की स्तुति जिनयोगीश्वर भी करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भी यात्रा के लिए निकले थे। बहुमान का भाव आता है। साक्षात् परमात्मा न हो तो उनकी स्थापना निक्षेप के प्रति धर्मी को (भक्ति) उपजती है तो राग का लक्ष्य पर के ऊपर ही जाता है। कहीं राग का आश्रय स्व में नहीं आता, तथापि प्रभु! आपने तो साफ और चोर रहित मार्ग कहा है। कहो, समझ में आया?

वह मार्ग भी साफ है तथा सबसे बलवान मोहरूपी चोर से रहित है। इसलिए जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान... ऐसी स्वरूप की गुल्ली / ईंट अन्दर पड़ी है। उसकी जिसने प्रतीति की, ज्ञान करके रमणता की, यह आपने कहा था। आपने पूरे बारह अंग में, चार अनुयोग में यही कहने में आया था। ऐसा सम्यक् साफ (मार्ग) है। स्वभाव भी पड़ा हुआ है। स्वभाव न पड़ा हो और आश्रय लेना हो (तो आश्रय नहीं होगा) और उसमें मोहरहित-चोररहित मार्ग आपने कहा है। राग के अवलम्बनरहित साफ ध्रुव परम स्वभाव स्थित है। ध्रुव सत्.... सत्.... सत्.... सत्.... सत्.... सत्.... उसमें एकाकार हुआ, ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग आपने कहा है। **तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय के धारी हैं, वे बिना किसी विघ्न के सुख से...**

मुमुक्षु : .... व्यवहार कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ व्यवहार कहा?

मुमुक्षु : १७२ गाथा में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त की बात है। यह पंचास्तिकाय में लिखा है न वह। वह तो निमित्तपना ऐसा ही होता है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और वासना की

वृत्ति उठे तो सत्देव, सत्गुरु, सत्शास्त्र—ऐसी ही वृत्ति का वहाँ निश्चय में सम्बन्ध नहीं, परन्तु व्यवहार से मैत्री ऐसी ही (कहने में आती है)। निश्चय से तो उससे विरोध है। उसे व्यवहार से मैत्री गिनकर उससे बढ़ता है, ऐसा आरोप से कथन किया जाता है। तीन काल में दूसरा बदलता नहीं इसमें। तीन काल, तीन लोक। साफ और परम शुद्ध चैतन्य स्थिति है न ऐसा?

वह **मोहरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र...** अर्थात् व्यवहाररहित निश्चयरत्नत्रय है, वह मार्ग देता है कहा, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। व्यवहार से कुछ कथन साथ में आवे उसे कहा हो वह उपचार का कथन है, वह बन्ध का कारण है। व्यवहार मोक्षमार्ग का राग, वह बन्ध का कारण है। तीन काल तीन लोक में इसमें कहीं बदले, ऐसा नहीं है। परन्तु जगत चिल्लाहट मचा जाए। हाय... हाय...! भगवान की पूजा और भक्ति और शुभराग, वह बन्ध का कारण? अब अनन्त बार बन्ध का कारण, सुन न! एक बार क्या, अनन्त बार। तो फिर नहीं तो छोड़ता किसलिए है? यदि उसमें कुछ लाभ होवे तो उसका लक्ष्य छोड़ता किसलिए है। उसका लक्ष्य छोड़कर स्थिरता होती है या उसे साथ में घसीटकर होती है? ढसरडीने समझे या नहीं समझे? साथ में लेकर। राग को साथ में लेकर अन्दर में जाया जाता होगा स्वभाव में? या राग को छोड़कर जाया जाता है?

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! आपने तो उत्तम मार्ग विघ्नरहित सुख से-सुख से (पहुँच जाए ऐसा बताया है)। ऐसा करके अपना ऐसा स्वभाव है, ऐसा आपने प्रकाशित किया और उसके ओर की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र वह रागरहित, क्लेशरहित, व्यवहाररहित, विकल्परहित से कहकर निर्विघ्न से सुख से-सुख से (पहुँच जाए), ऐसी जो निर्विघ्न दशा मोक्ष की, उसे हम निर्विघ्न मार्ग से प्राप्त करेंगे, ऐसा ही आपने बताया है। यह प्रभु! आपकी बलिहारी है। ऐसा कहते हैं। आपकी भक्ति करनेवाले के राग को भी आपने तो चोर कहा है। नुकसानदार कहा है। आहाहा! उसे मन का विस्तार कहा है। मन विस्तरित होता है। आता है न? पंचास्तिकाय में। मन-मन। क्या कहते हैं? प्रसार, प्रसार। मन पसरता है ऐसे। शुभराग में मन पसरता है। ऐसे अन्दर ढलता नहीं। घर में नहीं आता। पसरता है, मेरा मन चौड़ा होता है। ऐसे परिणमन अन्दर स्थिर नहीं होता परन्तु आपने उस काल में ऐसा हो, ऐसा आपने वर्णन निश्चय से विरोध होने पर भी और मोहरहित

मार्ग से मोहवाला, रागवाला मार्ग विरुद्ध होने पर भी व्यवहार से आपने यह वर्णन किया जानने के लिये कि ऐसी दशा उसे होती है। कहो, समझ में आया?

मोक्ष में चले जाते हैं। **मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले प्राणियों को यदि कोई रोकनेवाला है तो मोहरूपी चोर ही है,...** राग और विकल्प, वे स्वरूप की स्थिरता में विघ्न करनेवाले हैं परन्तु उन्हें तो आपने कहा कि वह कोई मार्ग नहीं है। इसलिए हमारे वह कुछ विघ्न नहीं रहा। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो अभी ऐसा आहार खाना, ऐसा पानी पीना, उसका यह करना, यह करना, वह धर्म और यह करते-करते होगा। यह लिखा है इसमें, हों! लो, यह कहते हैं कि पुण्य करते-करते धर्म होगा, यह खोटी बात है। तब और क्या करते थे। पुण्य करते ही। पुण्य का अर्थ शास्त्र में पवित्रता कहा है। ऐसा लिखा है। पुण्य अर्थात् पवित्रता। आता है या नहीं कहीं? वह पवित्रता पाप के अशुभभाव से छूटने की अपेक्षा से। अन्य पवित्रता कहाँ धूल में थी? आहाहा!

अरे! वीतरागी निष्कलंक पन्थ, जिनेन्द्र का निष्कलंक वीतराग मोहरहित पन्थ को मोही जीवों ने घेरा डालकर दूसरे प्रकार से प्ररूपित करके दुनिया के पास कुरूपरूप से रखा है। कुरूपरूप से रखा है। प्रभु! आपने ऐसा कहा नहीं, ऐसा कहते हैं। आपने उसे गिना ही नहीं। अकेला मोक्षत्त्व। नियत.. नियत—निश्चय एक ही मोक्ष पन्थ है। दूसरा कोई मोक्ष पन्थ निश्चय के अतिरिक्त है नहीं। कहो, समझ में आया इसमें?

कोई रोकनेवाला है तो मोहरूपी चोर ही है, इसीलिए भव्य जीव सुगमता से मोक्ष को नहीं जाते,... क्या कहा? **भव्य जीव सहसा मोक्ष को नहीं जाते,...** नहीं उस मोह के कारण। और, हे भगवान! आपने मोहरहित मार्ग का वर्णन किया है। मोह होवे तो विघ्न हो। इतनी सुगमता से मोक्ष नहीं मिले। कहो, समझ में आया? चोर हो वहाँ मिले? **इसलिए भव्य जीव, निर्विघ्नरूप से मोक्ष को चले जाते हैं।** छूटते जाते हैं, छूटते जाते हैं, ऐसा कहते हैं। स्वभाव सन्मुख की दृष्टि करके राग से छूटते जाते हैं। आपने छूटने का मार्ग कहा है। राग से छूटने का मार्ग कहा है। राग को रखने का मार्ग आपने कहा नहीं। आपके मार्ग के अन्दर में वह कभी तीन काल में नहीं आता। ३८।

गाथा ३८

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए।
केहिं ण जुणतिणा इव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि।।३८।।

अर्थ – हे भगवन! हे गुण-निधान! जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाने को खोल दिया था, उस समय ऐसे कौन से भव्य जीव हैं, जिन्होंने सड़े तृण के समान दूसरे राज्य आदि निधानों को नहीं छोड़ दिया ?

भावार्थ – हे जिनेश! हे गुण-निधान! जब तक भव्य जीवों ने मोक्षरूपी खजाने को नहीं समझा था तथा उसके गुणों को नहीं जाना था, तभी तक वे राज्य आदि को उत्तम तथा सुख का करनेवाला समझते थे, किन्तु जिस समय आपने उनको मोक्षरूपी खजाने को खोल कर दिखा दिया, तब उन्होंने राज्य आदि निधानों को सड़े हुए तृण के समान छोड़ दिया अर्थात् वे सब मोक्षरूपी खजाने की प्राप्ति के इच्छुक हो गए।

गाथा – ३८ पर प्रवचन

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणम्मि गुणणिहाण तए।
केहिं ण जुण्णतिणाइ व इयणिहाणेहिं भुवणम्मि।।३८।।

हे भगवन्त! हे भगवन्! हे **गुणनिधान!** प्रभु! आप तो गुण के निधान / खान हो। गुण की तो खान स्थित हो। ओहोहो! **जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाने को खोल दिया था...** आपने मोक्ष की पर्याय कैसे प्राप्त हो और आत्मा में मुक्तस्वभाव कैसा है, यह खोलकर बताया। ऐसा खजाना खुला। वे रत्न पड़े हों न, खोलकर ऐसे बतावे कि देख! यह खजाना, भाई! ले तुझे भरना हो तो ले जा। वे कहते थे। कैसे हैदराबाद के कहलाते हैं? निजाम सरकार। उनकी कन्या का–पुत्री का विवाह हुआ न, उनके पास खजाना बहुत पड़ा था। देख यह खजाना पड़ा है। ले जा। कितना ले जाए? बहुत रुपये

होंगे। २३ करोड़ की तो आमदनी थी, बारह महीने की। यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा... वह तो धूल का खजाना। मर जानेवाले हैं दोनों। आहाहा! समझ में आया?

परमात्मा! आप अमृत सरोवर, उसमें से फव्वारा फूटा और उसमें जो आपने मार्ग कहा, वह कैसा मार्ग है? कि मोक्षरूपी खजाना खोल दिया। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण तत्त्व पूरा पड़ा है। वस्तु तो मोक्षस्वरूप ही है। क्या कहा? हे भगवान! आपने तो वस्तु को मोक्षस्वरूप खोल दिया है। वह वस्तु मुक्तस्वरूप है, उसमें ज्ञान, आनन्द शक्तियाँ पूर्ण मुक्त पड़ी है। मुक्त ही है। पर्याय में तेरी दृष्टि राग की एकता में और पुण्य तथा निमित्त की एकता में उस खजाने की खबर तुझे नहीं पड़ती। भगवान ने खोलकर बताया है।

कहते हैं कि ऐसे खजाने को पाकर कौन भव्य जीव है कि **जिन्होंने सड़े तृण के समान दूसरे राज्य आदि निधानों को नहीं छोड़ दिया।** क्या कहते हैं? आत्मा का निधान आपने प्रभु बताया न। गुणनिधान कहा था न पहले? उस गुण का निधान खजाना चैतन्य चमत्कार प्रभु ऐसा बताया। उसके समक्ष राज आदि के निधान सड़े हुए तिनके। सड़ा हुआ समझते हो न? सड़ गया हुआ कचरा। सड़ गया हुआ कचड़ा। जूठन है। सड़ा हुआ कचरा होता है न? उकड़ा को क्या कहते हैं? कूड़ा, कचड़े का ढ़ेर। कचड़े का ढ़ेर होता है न सड़ा हुआ। सवेरे निकालते हैं न? यह बैल और भैंसे हों, वहाँ सड़े हुए तिनके, कण्डे, राख डाल दे, महिलाएँ डाल देती हैं। वहाँ घर में डालती होगी यह।

प्रभु आपने यह खजाना बताया। चैतन्य चमत्कार तेरे आत्मा में प्रभुता पड़ी है। तेरे आत्मा में स्वयं परमेश्वर पद पड़ा है। उस परमेश्वर पद का अब पर्याय में इनलार्ज कर। अन्दर प्रगट कर। ऐसे खजाने की बात की है। प्रभु! (उसे) प्रकट करने के लिये किसने राग नहीं छोड़ा होगा? और राग के निधान किसने (रखे होंगे)? सड़े हुए तिनके को छोड़।... उसके प्रति का राग छोड़ा, इसलिए खजाना छोड़ा कहलाता है। इस खजाने के समक्ष उस खजाने की कुछ कीमत नहीं है। अरबों रुपये हों और चक्रवर्ती का राज।... छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियाँ और छियानवें करोड़ सैनिक और छियानवें करोड़ गाँव, अड़तालीस हजार पाटण, बहत्तर हजार नगर। इस खजाने की मिठास—चैतन्य के अन्तर शान्त और आनन्द अविकारी स्वभाव की मिठास, उस

मिठास को खोलने गये (तो) सब छूट गया। कौन भव्य जीव नहीं होगा? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। **कौन भव्य जीव नहीं होगा?** ऐसा कौन भव्य जीव होता है **कि जिन्होंने यह नहीं छोड़ दिया।**

हे जिनेश! हे प्रभु! गुणनिधान! **जब तक भव्य जीवों ने मोक्षरूपी खजाने को...** जाना नहीं था। खबर नहीं कि क्या चीज़ है। तुझमें रत्न पड़े हैं। विशाल समुद्र के नीचे रत्न। स्वयंभूरमण समुद्र में रत्न के ढ़ेर पड़े हैं। रेत नहीं, रत्न (भरे हैं)। इसी प्रकार भगवान के—आत्म भगवान के अन्तर स्वभाव में अनन्त गुण के निधान रत्न पड़े हैं। ऐसा आपने जहाँ बताया... कहो, भगवानजीभाई! इस धूल को निकाल डाला। नग्न हो गये, नग्न—नग्न दिगम्बर। आहाहा! यह खजाना खोलने में हमें अब वक्त विकल्प का भी रहा नहीं। तो उसे रखें और उसे छोड़ें। छोड़े कौन? सामने देखा नहीं। चक्रवर्ती के राज के सामने देखा नहीं। कहो, समझ में आया? **खजाने को नहीं समझा था तथा उसके गुणों को नहीं जाना था...** आत्मा के गुण। देखो न! आता है न सवेरे, वे गुण? कितनी शक्तियाँ आत्मा में है। शक्ति की संख्याएँ, हों! ऐसी संख्या का सत्त्व और सामर्थ्य हमने जाना नहीं था।

श्रावण कृष्ण १२, गुरुवार, दिनांक - ०३-०९-१९६४

श्रावकाचार, गाथा - १ से ६, प्रवचन-११

पर्यूषण का पहला दिन है उत्तम क्षमा। उत्तम क्षमा उसे कहते हैं, जिसे आत्मा का अनुभव हुआ हो... सम्यग्दर्शनरहित क्षमा, वह उत्तम क्षमा नहीं है। लोग दृष्टान्त देते हैं न कि इस ईसु ख्रिस्ती ने क्षमा की, मोहम्मद ने क्षमा की, ऐसे दृष्टान्त बहुत आते हैं। वह क्षमा नहीं है। उत्तम क्षमा। उत्तम क्षमा उसे कहते हैं कि अपने में अपना आनन्दस्वरूप भगवान... कल कहा था न बहिन के शब्द में? जागृत जीव अन्दर ध्रुव पड़ा है—खड़ा है। उसकी अन्तर दृष्टि करके पूर्णानन्द का स्वीकार, सत्कार और स्वभाव का आदर करना.. आहाहा! समझ में आया? इसका नाम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शनरहित क्षमा को क्षमा गिनने में आती ही नहीं। कोई रागादि, क्रोध कषाय आदि अल्प करे तो वह शुभभाव है। पुण्य बँधता है। उत्तम क्षमा नहीं है। आहाहा! उत्तम क्षमा तो अपने आनन्द के अनुभवपूर्वक प्रतिकूल देव, मनुष्य, पशु और अचेतनकृत। देव, मनुष्य, पशु, अचेतन (इन) चार कृत कोई प्रतिकूलता आवे तो वहाँ ज्ञातादृष्टारूप से रहना और विकल्प उठाना नहीं, इसका नाम उत्तम क्षमा है। आहाहा! एक समय भी उत्तम क्षमा करे तो उस आत्मज्ञान को धर्म कहा जाता है। परन्तु यह क्षमा। समझ में आया? आहाहा!

कोई प्रतिकूल शब्द कहे, अपना दोष न हो और दोष कहे तो जानने कि यह तो दोष मुझमें है और कहता है तथा दोष मुझमें नहीं और कहता है तो वह तो अनजान है। उसे तो दोष की खबर नहीं और दोष मुझमें है और कहता है तो यह तो बराबर कहता है। समझ में आया? और मेरे में दोष कहता है, नहीं हो और कहता है तो यह बालक है, अज्ञानी है, इसे खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? और दोष कटु वचन से कहता है तो ऐसा जानना कि यह मुझे ताड़न तो नहीं करता न! समझ में आया? ताड़न करे तो (ऐसा जानना कि) यह मेरा वध तो नहीं करता। वध करे तो (ऐसा जानना कि) मेरे आत्मप्राण का—आत्मधर्म का घात तो नहीं करता। सेठ! इसका नाम उत्तम क्षमा है। आहाहा! एक भी बोल यथार्थ समझ में आये तो पूरी चीज़ भान में आ जाए। आहाहा!

भगवान आत्मा जागती ज्योति चैतन्यबिम्ब प्रभु में तो पूर्ण अकषायस्वभाव ही भरा है। आहाहा! वह जिसके अन्तर में, परमानन्द का नाथ बादशाह परमात्मा परमात्मस्वरूप का जिसे अन्दर में स्वीकार हुआ, दृष्टि में परमात्मस्वरूप का अन्तर आत्मा में स्वीकार हुआ, उसका नाम अनुभव और सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? उस सम्यग्दर्शनसहित क्षमा होती है। यह तो दृष्टान्त अन्दर कल आया है श्वेताम्बर का। उत्तम क्षमा का आया न? भाई! नहीं? वह क्या कहलाता है? जैनसन्देश आया है। सब अन्यमति के दृष्टान्त दिये हैं। ईशु ख्रिस्ती ने ऐसी क्षमा की, मोहम्मद ने ऐसा किया, योगीराज यह स्वामी नारायण में हो गये हैं न एक? उन्होंने ऐसी क्षमा की। वह क्षमा ही कहाँ है? उसे अभी आत्मज्ञान क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं, क्षमा कहाँ से आयी? समझ में आया?

मुनिराज को घाणी में पेला तो वे मुनि तो आनन्दस्वरूप में रमते थे। आहाहा! घाणी में पेला, इसका भी ख्याल नहीं था। आहाहा! और प्रतिकूलता में द्वेष का अंश भी नहीं था और अनुकूलता का ढ़ेर हो... आहाहा! तो भी रति का, राग का जिनके अभाव है और अपने आनन्दस्वरूप में शान्ति से रहते हैं, इसका नाम उत्तम क्षमा कहते हैं। समझ में आया? देश के लिये मारते हैं, उसे क्षमा करते हैं, वह क्षमा नहीं है। यह लड़के मर नहीं जाते? क्या कहते हैं उसे?

मुमुक्षु : शहीद।

पूज्य गुरुदेवश्री : शहीद हुआ। धूल भी शहीद नहीं। सुन तो सही। तुझे खबर नहीं, भाई! जहाँ अपना देश है, ऐसा मानता है, वही मिथ्याभाव है। उसे सहन करे, वह क्षमा नहीं। शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है, बापू! आहाहा!

जिसे परमात्मा... सर्व जीव परमात्मस्वरूप है, भगवन्त स्वरूप है। आहाहा! किसी प्राणी के प्रति राग-द्वेष होता है, वह राग-द्वेष इसका स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप नहीं तो उसे भी चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द है, ऐसा देखता है। किसके ऊपर द्वेष करना? समझ में आया? भगवान चिदानन्दस्वरूप से ज्ञायकस्वरूप से विराजमान भगवत्स्वरूप सब आत्मा है। आहाहा! पर्याय में एक समय की भूल है, वह तो एक समय की भूल है। अनन्त प्राणी निगोद से लेकर मिथ्यादृष्टि जीव एक सेकेण्ड के असंख्य

भाग में एक समय की भूल है। बाकी पूरी चीज़ भगवान है। लो, भगवानदासजी! भगवान है, यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु : एक समय की भूल में चौरासी...

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय की भूल में चौरासी के अवतार हैं। एक समय की भूल पर्याय में है, उसके पीछे भगवत्स्वरूप परमात्मा (विराजता है)... आहाहा! उसमें भूल का अभाव है और पर्याय का अभाव है। भूल का तो अभाव है परन्तु वर्तमान जो ज्ञानादि की पर्याय है क्षयोपशम अवस्था, उसका भी उसमें अभाव है। ऐसी चीज़ को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर... आहाहा! पर की अनुकूलता और प्रतिकूलता में (ज्ञाता-दृष्टा रहे)। वह तो ऐसा कहते हैं कि प्रतिकूलता आवे तो जरा द्वेष हो जाए, पश्चात् जीते। ऐसा नहीं है। यह परीषह की व्याख्या ही नहीं है। परीषह की व्याख्या (यह है कि) प्रतिकूलता के काल में आनन्द की पर्याय उत्पन्न करना—क्षमा। प्रतिकूलता का विकल्प आया और पश्चात् जीतना, यह परीषह की व्याख्या ही नहीं है। समझ में आया?

परि अर्थात् समस्त प्रकार से सहन करने का अर्थ ज्ञाता-दृष्टारूप से जानना। आहाहा! भगवत्स्वरूप परमात्मा कौन दोषी है और कौन रागी है? आहाहा! समझ में आया? ऐसी दृष्टि करना। और उस दृष्टिसहित क्षमा-शान्ति करने का नाम उत्तम क्षमा है। लो, यह पहला दिन है।

पद्मनन्दि आचार्य महाराज इस भरतक्षेत्र में लगभग ९०० वर्ष पहले महा भावलिंगी सन्त दिगम्बर मुनि, आत्मध्यानी, ज्ञानी महान सन्त हुए। उन्होंने जंगल में २६ अधिकार लिखे। २६। नाम दिया पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार २६ है परन्तु पच्चीस अधिकार (प्रमाण नाम दिया है)। पद्मनन्दि पचीस वह प—पा का मेल खाता है न। 'पद्मनन्दि पंचविंशति' उसमें अधिकार २६ है। जंगल में रहनेवाले मुनि। अन्तर में कितने ही निश्चय अधिकार में बात की है कि यह आत्मा... जैसे सवेरे अपने चलता है न? ऐसे कहा है कि यह आत्मा कर्म और कर्म से उत्पन्न हुए विकल्पों से भिन्न है। समझ में आया? कर्म, शरीर आदि से तो भिन्न है परन्तु पुण्य और पाप के विकल्प जो विकार, यह कर्म का कार्य है; वह आत्मा का कार्य नहीं, स्वभाव का कार्य नहीं। इसी शास्त्र में है, तथापि यहाँ अधिकार आयेगा।

मुमुक्षु : गम्भीर शास्त्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसी और इसी में कहा हुआ है और उसमें भी यही है। समझ में आया?

वस्तु चैतन्यमूर्ति, वह तो पुण्य-पाप के विकल्प और शरीरादि, यह सब परवस्तु है, उससे अत्यन्त भिन्न है। ऐसी अन्तर्दृष्टि और अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। समझ में आया? तथापि जब चरणानुयोग की पद्धति से व्याख्यान आवे, गणधर की रचना में भी ऐसा आवे। किस प्रकार से आवे, वह स्वयं यहाँ पद्मनन्दि आचार्य श्रावकाचार (कहते हैं)। यह छठवाँ अधिकार है। इसका नाम श्रावकाचार है। दूसरा इसका नाम उपासक संस्कार कहा जाता है। उपासक, वह श्रावक। उपासक अर्थात् श्रावक। ऐसे अन्य में—श्वेताम्बर में कहलाता है न? श्रमणोपासक उसे कहते हैं। श्रमण अर्थात् साधु के उपासक, सेवक, संस्कार। वह उपासक संस्कार का यह दूसरा नाम है। अन्तिम गाथा में है। इसकी ६२ गाथाएँ हैं। यह चरणानुयोग की पद्धति से इसमें कथन है। पहली गाथा। विनय करके श्रावकाचार का वर्णन करते हैं।

गाथा १

आद्यो जिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपुरुषौ।
एतदन्योन्यसम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह।।१।।

अर्थ : आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा, ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्तांने में आदि पुरुष हैं और इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से ही धर्म की स्थिति हुई है॥१॥

गाथा – १ पर प्रवचन

आद्यो जिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपुरुषौ।
एतदन्योन्यसम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह।।१।।

देखो! यह श्लोक पद्मनन्दि आचार्य का। इसका अर्थ। **आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ...** इस चौबीसी के आदि जिनेन्द्र। अनन्त काल के आदि नहीं। अनन्त काल में तो अनन्त अनादि से तीर्थंकर चले आये हैं। इस काल चौबीसी के इसमें आदि जिनेन्द्र, जो अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम में भरतक्षेत्र में तीर्थंकर नहीं थे। अठारह कोड़ाकोड़ी। नव कोड़ाकोड़ी यह, नव कोड़कोड़ी उस चौबीसी में नहीं थे। इसमें यह हुए, इसलिए इन्हें आद्य तीर्थंकर कहा जाता है।

आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ... 'आद्यो जिनो' ऐसा शब्द पड़ा है न? **और नृप श्रेयांस...** श्रेयांस नामक राजा। **यह दोनों महात्मा...** स्वयं ... है। **व्रत तीर्थ और दान तीर्थ के प्रवर्तक में...** वहाँ धर्म का शब्द यहाँ दान चाहिए। व्रत तीर्थ और दान तीर्थ **दोनों प्रवर्तक में आदि पुरुष हैं।** दोनों में आदिपुरुष हैं। अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम में व्रत नहीं थे और दान लेनेवाले पुरुष नहीं थे, इसलिए दान भी नहीं था। यह व्यवहार व्रत की बात चलती है, हों! और दान के व्यवहार दान और व्यवहार व्रत की बात चलती है।

निश्चयसम्यग्दर्शन और ज्ञान तथा भान तो भगवान को है, परन्तु पंच महाव्रत आदि के जो विकल्प उठे, उन्हें यहाँ व्रत कहकर भगवान ने व्रत चलाये। असंख्य काल में नहीं थे। असंख्य काल में, हों! अठारह कोड़ाकोड़ी। उसमें व्रत की आदि के करनेवाले भगवान प्रभु हैं। देखो! उसे व्रत तीर्थ कहा है। समझ में आया? और धर्म अर्थात् दान। व्रत, दान आदि, इन दोनों में आदिपुरुष ये दो हैं। इस चौबीसी में।

'एतदन्योन्यसम्बन्धे' अन्योन्य सम्बन्ध से व्रत के धारक भगवान और दान के देनेवाले श्रेयांसकुमार। धर्मस्थिति अभूत **'धर्मस्थितिरभूदिह'** इस भरतक्षेत्र में इनसे धर्म की स्थिति उत्तम हुई। व्रत धर्म और दान धर्म। यह व्यवहार धर्म की बात है। समझ में आया? निश्चय तो दोनों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और भान है। समझ में आया? परन्तु व्रत का धर्म शुभभाव पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प जो आये, उन्हें इन्होंने धारण किया अथवा व्रतरूपी तीर्थ शुरु किया, ऐसा कहा जाता है। व्यवहार की पद्धति की कथन पद्धति ऐसी होती है। निश्चय में जहाँ आवे, वहाँ विकल्प को उत्पन्न करनेवाला और विकल्प का कर्ता, वह भी वस्तु के स्वभाव में नहीं है। ऐसा सम्यग्दृष्टि

दान देने की क्रिया के काल में जो दान के आहार आदि की क्रिया हो, उसका कर्ता नहीं परन्तु दान का विकल्प उठे, उसका वह कर्ता नहीं। यह निश्चय की दृष्टि में वस्तु ऐसी होने पर भी, व्यवहार के कथन में उन्होंने दान दिया और इन्होंने दान लिया, इन्होंने व्रत पालन किया और उन्होंने दान देकर व्रत का पोषण किया। कहो, समझ में आया?

इन ऋषभदेव भगवान को बारह महीने तक आहार नहीं मिला क्योंकि लोगों को विधि नहीं आती थी और यहाँ मिलने का योग नहीं था। समझ में आया? उसमें जब इनके बारह महीने पूरे हुए, श्रेयांसकुमार आदि, भरतादि को स्वप्न आया है। तो श्रेयांस को स्वप्न आया कि एक कल्पवृक्ष सूखा है और मेरे आँगन में आनेवाला है। ऐसा स्वप्न (आया)। निमित्तज्ञानी को पूछा कि यह क्या? भगवान आदिनाथ तीर्थंकर बारह महीने से आहार के बिना हैं। समझ में आया? छह महीने तपस्या की थी, छह महीना भिक्षा के लिये निकलते थे परन्तु आहार का योग नहीं बनना था, इसलिए वे देनेवाले लोग अनजान थे अर्थात् उन्हें ऐसे देना यह विधि तो सीखाने में अभी आवे नहीं। तीर्थंकर थे, मौनरूप से थे। समझ में आया? इसलिए उन लोगों को... आहार लेने जाए तो कोई रत्न दे, कोई स्त्री दे, कोई यह लो... यह लो! यह प्रभु है, ये कहीं आहार-रोटियों के लिये आते होंगे? समझ में आया? इस प्रकार के लोग अनजान, इसलिए इस प्रकार का योग नहीं बना। श्रेयांसकुमार को यह स्वप्न आया तब कहा, भगवान आज पधारनेवाले हैं। यह ही योग उनके यहाँ होगा। भगवान आये। ओहो! दो भाई हैं न! सोमदेव और श्रेयांस। बहुत प्रसन्न हुए। आहाहा! हमारे यहाँ कल्पवृक्ष आया। परन्तु आहार कैसे देना, इसकी खबर नहीं होती।

ऐसे नजर भगवान के ऊपर करने पर जरा संकल्प-विकल्प स्थिर हो गये। जातिस्मरण हुआ। श्रेयांस राजकुमार ऐसे दान देने निकले परन्तु कैसे देना और क्या करना, यह खबर नहीं होती। .... बाँधी बराबर ऐसे प्रभु के निकट... राजकुमार, हों! महा, मोक्षगामी जीव है। अन्तिम शरीर-चरमशरीर है। परन्तु जब तक यह स्थिति... शरीर सुन्दर है। ऐसे नजर (करते हैं), वहाँ जातिस्मरण (होता है)। पूर्व भव में— आठवें भव में ये ऋषभदेव प्रभु मेरे पति थे, मैं इनकी पत्नी थी। किस प्रकार खबर पड़ी इस जातिस्मरण में? समझ में आया? जातिस्मरण तो मतिज्ञान का धारणा का एक भेद

है। मतिज्ञान का-धारणा का एक प्रकार है। उसमें से ऐसा हुआ कि यही आत्मा पूर्व आठ भव पहले... अभी शरीर भी नहीं है, आत्मा दिखता नहीं। ऐसी जहाँ नजर (करते हैं) वहाँ मति की निर्मलता हुई। ऐसा ही आया। आप आठवें भव में मेरे पति थे। मैं पत्नी (थी)। मुनि को दान दिया था और इस विधि से मुनि को दान दिया था।

कहो, इस जातिस्मरणज्ञान में भी इतनी ताकत है। यह महिमा क्या है, इसकी लोगों को खबर नहीं है। इस मतिज्ञान की निर्मलता में कितनी ताकत! यह आत्मा दिखता है? उनका शरीर है? अभी यह शरीर (है, वह) तो वहाँ था नहीं। समझ में आया? और यही आत्मा आठवें भव में पतिरूप से था, यह मति की निर्मलता की धारणा में एकदम अन्दर से आया। यही आठवें भव में थे। समझ में आया? उन्हें इतना उल्लास आया। ओहोहो! मुनि को हम दोनों पति-पत्नी ने दान दिया। उसके फलरूप से आठवें भव में यह भगवान ऐसे आये हैं और मैं अभी राजकुमार रूप से बराबर कमर बाँधकर गन्ने के रस के... शेरडी समझे न? गन्ना। रस के घड़े आये हैं। वे घड़े उठाकर देते हैं। समझ में आया?

यह व्रतधारी हैं। ये दान के देनेवाले हैं, ऐसा व्यवहार से उनके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कथन चरणानुयोग में न आवे तो समझाने में आ नहीं सकता। वास्तव में व्रत को धारना, वह विकल्प है। दान देने का विकल्प और उन्होंने इन्हें दिया, यह भी व्यवहार है। दे कौन? आहार के रजकण दे कौन? और रजकण ले कौन? समझ में आया? भीखाभाई! बापू! तत्त्व की दृष्टिसहित के चरणानुयोग की कथन की पद्धति को जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न समझे तो उसका एकान्त हो जाता है। समझ में आया? द्रव्यानुयोग का तत्त्वज्ञान है, वही सच्चा है। परन्तु कथन पद्धति की रीति भी चरणानुयोग में आती है, वह भी पद्धति की रीति उस प्रकार से सच्ची है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर नहीं थी तो दान की विधि जातिस्मरण बिना किस प्रकार खबर पड़े? कुछ सम्यग्दर्शन हो तो दान की विधि की खबर पड़ जाए? यह और किसने कहा? यह नहीं मालूम पड़ता। सम्यग्दर्शन में यह मालूम पड़ जाएगा? समझ में

आया? यह विधि दूसरी है। यह तो अन्दर का कोई ख्याल आवे, तब ही ख्याल आवे।

आत्मा का भान होने पर भी दान की विधि का ख्याल न हो। वह कहीं सम्यक्त्व हो, इसलिए ही ख्याल हो, (ऐसा नहीं है)। ऐसे जातिस्मरण हुआ इसलिए ख्याल आया। ओहो! प्रमोद... प्रमोद। आप कल्पवृक्ष मेरे घर में पधारे और आहारदान का मुझे योग हुआ, मेरा आँगन पवित्र हुआ। देखो यह! आँगन तो है पत्थर का। बड़े राजा हैं। ऐसे मणिरत्न के तल हों मणिरत्न की पाट पड़ी हो ऐसे नीचे जड़ी हुई। जैसे यह है न? यह टाईल्स-बाईल्स। वहाँ मणिरत्न की टाईल्स होती है राजकुमार के घर में। बड़े राजा हैं। और अभी पहला-पहला काल है चौथा। ओहो! पधारो... पधारो... पधारो... नमन है। वे आहार देते हैं और यह देनेवाले देते हैं और लेनेवाले लेते हैं। इन दोनों से इस काल में शुरु हुआ। व्रत और दान की विधि की शुरुआत इस काल में दो पुरुषों से हुई। दोनों पुरुष चरमशरीरी और मोक्षगामी हैं। समझ में आया? इन व्रत के परिणाम के कारण मोक्षगामी हैं और इस दान देने के भाव के कारण मोक्षगामी हैं, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पद्मनन्दि चलती है। यह उतरती है न? सब खबर नहीं? समझ में आया?

परन्तु व्यवहार से उसमें यह शब्द आते हैं कि इस व्रत के कारण तिरे और दान के कारण तिरे। उसमें—निमित्त में उपचार करके, उससे तिरे, ऐसे कथन चरणानुयोग में आते हैं। उन्हें बराबर न समझे तो दृष्टि का विपर्यास होता है। क्योंकि जो सत्य सिद्धान्त है, वह कहीं पलट जाते होंगे?

मुमुक्षु : चरणानुयोग में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चरणानुयोग में आता है, इसलिए कहीं तत्त्व बदल जाता होगा? कहो, धन्नालालजी!

आदिपुरुष इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से... अन्योन्य सम्बन्ध हुआ न? देखो! अन्योन्य सम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध। और यह तो व्यवहार हुआ। परन्तु बापू! इस वस्तु का कथन समझाना, यह आता है या नहीं? ओहो! उस **धर्म की**

स्थिति हुई... अभूत है अभूत? विसर्ग हो जाए। **'धर्मस्थितिरभूदिह' 'अभूदिह'** इस भरतक्षेत्र में भगवान पद्मनन्दि आचार्य महाराज कहते हैं, दो पुरुषों के कारण इस प्रकार से धर्म की स्थिति हुई। देखो! यह धर्मस्थिति व्रत और दान। यह व्यवहार दान और व्यवहार धर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं। निश्चयधर्म तो जो स्वभाव के आश्रय से है, वह है।

चतुर्थ काल आदि में जिस समय कर्मभूमि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई, उस समय सबसे पहले व्रत–तीर्थ की प्रवृत्ति श्री आदिश्वर भगवान ने की अर्थात् प्रथम इन्होंने ही तप आदि को धारण किया था। मुनिपना लिया न पहले, इन आदिनाथ भगवान ने। **उसी काल में दान–तीर्थ की प्रवृत्ति श्रेयांस राजा ने की थी अर्थात् सबसे...** यह प्रवर्ती कही न? हुई है उसे की है, प्रवर्ति की है, हुई है—ऐसा कहने में आता है। **सबसे पहले आदिश्वर भगवान को श्रेयांस राजा ने ही दान दिया था, इसलिए ये दोनों महात्मा, व्रत–तीर्थ तथा दान–तीर्थ के प्रवर्तानें में आदिपुरुष कहलाये...** यह आदि शब्द अन्तिम है। **इन दोनों के सम्बन्ध से इस भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति प्रारम्भ हुई है।** व्यवहारधर्म की स्थिति हुई है। आहाहा! जिस समय जो बात स्थापित करनी हो, जो समझाना हो, वह समझावे या नहीं? समझ में आया?

अब दूसरी गाथा। उसका मूल बताते हैं वापस। **आचार्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं।** देखो! यहाँ धर्म कहा। **'धर्मस्थितिरभूदिह'** पाठ में है न? अब यहाँ वास्तविक धर्म का स्वरूप क्या है, यह उसकी बात साथ ही समझाते हैं।

गाथा २

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः।।२।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है।।२।।

गाथा - २ पर प्रवचन

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः।।२।।

देखो! व्यवहार पहला धर्म बतलाया। अब निश्चयधर्म यथार्थ क्या है, उसे दूसरी गाथा में बतलाते हैं।

सम्यग्दृग–सम्यग्दर्शन... भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य का अन्तर में ज्ञान का भान भूमिका में होकर प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की बात है। समझ में आया? सम्यक् बोध। यह बोध लागू किया। सम्यग्-दृग— सम्यग्बोध। सच्चा ज्ञान। आत्मा का ज्ञान सच्चा ज्ञान, स्व ज्ञान का ज्ञान, स्व आत्मा का ज्ञान, वह सच्चा निश्चयमोक्षमार्ग है। और सम्यक्चारित्र... सम्यक्चारित्र। यह शब्द लागू पड़ा न तीनों को। सम्यक्चारित्र—स्वरूप में लीनता। निर्विकल्प आनन्द, निर्विकल्प शान्ति इन '**त्रितयं धर्म उच्यते।**' तीनों को भगवान धर्म कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

'**मुक्तेः पन्थाः स एव**' मुक्ति का पन्थ। '**स एव।**' यही मुक्ति का पन्थ है। '**स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः**' कहो, समझ में आया? प्रमाण से निश्चित। **यह धर्म ही मुक्ति का मार्ग है।** व्यवहार से यह, निश्चय से यह। व्यवहार से यह व्रत-दानादि का भाव, निश्चय से यह।

मुमुक्षु : दो प्रकार का धर्म?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों जाति के धर्म हैं। यह निश्चयधर्म और वह व्यवहारधर्म। धर्म नहीं है, उसे धर्म कहने का नाम व्यवहार है। धर्म है, उसे धर्म जानना, इसका नाम निश्चय। यहाँ तो... विधि अर्थात् व्यवहारधर्म कहा, निश्चयधर्म साथ में रहा है, यह दोनों बात साथ में की है। निश्चयरहित अकेले व्रत और दान के परिणाम, वे मोक्षमार्ग में व्यवहार से भी आरोपित नहीं किये जाते। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते

हैं। एकत्र हुआ। तथा **प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है।** वास्तव में सम्यग्ज्ञान से निश्चित हुआ, इसका नाम ही वास्तविक धर्म कहा जाता है। अब इसके सामने बात करते हैं।

गाथा ३

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः।।३।।

अर्थ : जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं, उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और उनके लिए संसार दीर्घतर हो जाता है, अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता।।३।।

गाथा - ३ पर प्रवचन

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः।।३।।

जो मनुष्य, इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं,... परिणमन नहीं करते। मार्ग है न, इसलिए गमन करना, ऐसा (कहा है)। मोक्ष में पहुँचना है, उसका यह मार्ग है। भगवान आत्मा ज्ञान का दल, आनन्द का कन्द, वीर्य की मूर्ति, ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में परिणमन नहीं करते, अन्तर में उसका अनुभव नहीं करते। **उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती... 'तेषां मोक्षपदं दूरं'** अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। लो! समझ में आया? जहाँ जाना है, उसका मार्ग लिये बिना मार्ग कैसे कटे?

पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति, पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति, उसका मार्ग स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र का परिणमन। समझ में आया? उसके साथ ऐसे व्यवहार के श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, दान, व्रत आदि के भाव होते हैं। उन्हें भी व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा

जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? **'तेषां मोक्षपदं दूरं'** मोक्ष अर्थात् ऐसा मार्ग कहा। **'रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जना:'** मार्ग में जाते नहीं, उन्हें मोक्षपद— मार्ग का फल दूर है। अर्थात् उन्हें मोक्षपद नहीं होता। तब क्या है?

'भवेद्दीर्घतरो भव:' अनन्त संसार भव उसके पड़ा है। समझ में आया? **संसार दीर्घतर हो जाता है अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता। उदयभाव का नाश कभी नहीं होता।** संसार शब्द से उदय भाव, विकारी भाव। यह आत्मा के अन्तर स्वभाव की दृष्टि-ज्ञान की रमणता बिना इस उदयभावरूपी संसार का नाश कभी नहीं होता। यह दीर्घ काल संसार चौरासी में भटकनेवाला रहता है। कहो, समझ में आया? यह तो अमितगति आचार्य में कहा है न? विद्वान शास्त्र पढ़े, वाँचन करे, सीखे परन्तु शास्त्र में कही हुई दृष्टि, ज्ञान और चारित्र उसमें से निकाले नहीं, नमे नहीं और शास्त्र के दृष्टान्त दिया करे (कि) इस शास्त्र में यह कहा है और इस शास्त्र में (यह कहा है)। अज्ञानी का संसार स्त्री, पुत्र, परिवार। इन विद्वानों का संसार शास्त्र। समझ में आया?

जो शास्त्र को कहना है, जो आत्मा पर से निराला, उसका दृष्टि-ज्ञान और अनुभव, वह निकालता नहीं और वाद-विवाद किया ही करता है। इस शास्त्र में यह लिखा... इस शास्त्र में (यह लिखा)। सब है शास्त्र में। परन्तु शास्त्र का तात्पर्य (क्या)? समझ में आया? यह अपने आया न १७२ गाथा (पंचास्तिकाय)। अभी शुरु की है। वीतरागता है। राग और निमित्त का लक्ष्य छोड़कर चिदानन्द शुद्ध उपादान निज-अपना स्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र नहीं करता और अकेले शास्त्र के पन्ने फिराया करता है। इसमें यह है और इसमें यह है। इसमें यह है और इसमें यह है। वह तो परमाणु है। उसमें बुद्धि जाए, वह भी व्यभिचारी बुद्धि है। समझ में आया? यह पद्मनन्दि में आता है। इसमें ही आता है। समझ में आया?

यहाँ उसे चरणानुयोग में व्यवहार सिद्ध करना है, इसलिए उसे व्यवहार तीर्थ, व्रत और दान का तीर्थ चलाया, उसमें धर्म चलाया। धर्म जो नहीं था, उसका प्रवाह खड़ा किया, ऐसा यहाँ कहने में आया है। और बात भी सच्ची है न? यह धर्म, व्रत और दान का भाव अठारह कोड़ाकोड़ी में किसी पुरुष को था नहीं। कहो, समझ में आया? अब इस धर्म के दो भेद।

गाथा ४

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः स्थिताः।।४।।

अर्थ : और वह रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है उसमें सर्वदेश धर्म का तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेशधर्म का गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं ।।४।।

गाथा - ४ पर प्रवचन

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः स्थिताः।।४।।

अर्थ – ओहो! **यह रत्नत्रयात्मक धर्म, सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है;...** सम्यग्दर्शन और ज्ञान तो है, वह है, परन्तु साथ में चारित्र की पूर्णता और अपूर्णता की अपेक्षा से सर्वदेश और एकदेश कहने में आया है। समझ में आया? **रत्नत्रयात्मक धर्म, सर्वदेश...** पूरा। यह मुनि को होता है। दिगम्बर मुनि सर्वविरति जंगलवासी, वनवासी। अभी आयेगा, हों! विवाद। समझ में आया? ओहो! एक वस्त्र का धागा नहीं, एक विकल्प उठता है जरा पंच महाव्रत का, उसमें जिनका प्रेम नहीं। प्रेम लगा परमात्मा के साथ। पूर्णानन्द का प्रभु परमात्मा स्वयं निज परमात्मा के प्रेम में— ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पूर्ण विरति से रमता है, उसे आद्य धर्म—उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहने में आता है। सर्व देश धर्म। पूरा धर्म। समझ में आया इसमें?

तथा एकदेश... श्रावक को पंचम गुणस्थान में एकदेश धर्म है। चारित्र पूर्ण नहीं है और व्रत भी पंच महाव्रत जितने (नहीं हैं)। स्थिरता भी थोड़ी है। पंचम गुणस्थान में और व्रत परिणाम भी बारह व्रत के परिणाम हैं। मुनि को तो स्थिरता भी बहुत है और पंच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प हैं। इसलिए वह सर्वविरति धर्म सर्वदेश कहा जाता है। गृहस्थ का एकदेश धर्म, उसे एक अंश धर्म कहा जाता है।

उसमें सर्वदेश धर्म तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं... भाषा तो ऐसी ही आवे न! अट्ठाईस मूलगुण आदि मुनि पालन करते हैं, स्वरूप की स्थिरता भी वे मुनि पालन करते हैं। **और एकदेश धर्म का पालन श्रावक करते हैं।** पंचम गुणस्थानवाले। पहले बात की, हों! सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित एकदेश धर्म पंचम गुणस्थान में श्रावक पालन करते हैं। ऐसा इस चौथी गाथा में कहा।

पाँचवीं।

गाथा ५

संप्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेने तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः।।५।।

अर्थ : इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए उस धर्म के कारण, गृहस्थ भी गिने जाते हैं।।५।।

गाथा - ५ पर प्रवचन

संप्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेने तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः।।५।।

देखो! मुनि कहते हैं कि वर्तमान में भी दोनों धर्म हैं। देखो! उस समय में भी (ऐसा था)।

अर्थ - इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है,... मुनिमार्ग और श्रावकमार्ग दोनों हैं। नहीं हैं, ऐसा नहीं है। यथार्थरूप से हो, उसकी बात है न यहाँ। इसमें से निकाले कि लो, यहाँ भी है, तो अभी भी यह सब सर्वदेश और (एकदेश है)। ऐसा नहीं, बापू! है तो उस समय यथार्थ है, उसकी बात की है। समझ में आया? **एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए**

उस धर्म के कारण गृहस्थ भी माने जाते हैं। देखो! इसका कारण गृहस्थ भी... देशकारण धर्म है न! **'तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः'** श्रावक धर्म के हेतु हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब आया न बराबर? उसमें भी है न नौवीं गाथा में वहाँ। नौवीं गाथा में है, देखो! गाथा नौ। नौ गाथा लिखा है वहाँ से। औषधिदान। २२० पृष्ठ। श्रावक-व्रतोद्योतन, दूसरा अधिकार है और उसकी गाथा नौवीं है। इसके बाद का दूसरा अधिकार, उसकी गाथा नौवीं। यह चलती गाथा ६२ है और इसके बाद श्रावक-व्रतोद्योतन है। उसकी गाथा नौवीं। देखो!

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया निरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात्।।९।।

देखो! कथन पद्धति! औषधिदान की व्याख्या करते हुए भगवान पद्मनन्दि आचार्य महाराज कहते हैं। **इच्छानुसार भोजन, भ्रमण और सम्भाषण से शरीर रोगरहित रहता है।** ऐई! यह निमित्त से समझाते हैं। भ्रमण-घूमना, खाना-पीना जब हो, उसके अनुकूल मिलता हो। नौवीं गाथा, श्रावक-व्रतोद्योतन। ६२ गाथा हो जाने के बाद नौवीं गाथा। तुरन्त ही यह अधिकार पूरा हो तो। समझ में आया? **परन्तु मुनियों के लिये न तो इच्छानुसार भोजन करने की आज्ञा है, न इच्छानुसार भ्रमण...** गर्म-गर्म तैयार रोटी मिले ऐसी गृहस्थों को तो। तवे में से सीधी। और शाम को घण्टे भर घूमने जाना। शाम, प्रात: जल्दी उठकर घण्टे-डेढ़ घण्टे घूमने जाए। क्या कहलाता है वह? हैंगिंग गार्डन। उस मुम्बई में है न एक? वहाँ बढ़िया है तो ऐसे घूमने निकले। कितने घण्टे, दो घण्टे। कहाँ गये जुगराजजी! है न वह घूमने-फिरने का मुम्बई में? यह तो एक बात करते हैं। शरीर अकड़ता है, चलो घूमो, ऐसा करो। मुनि को ऐसा नहीं होता। यह निमित्त से बात करते हैं, हों! चरणानुयोग की विधि का वर्णन है न?

सम्भाषण की आज्ञा है... यह तो द्रव्यसंग्रह में कहा नहीं? व्यवहारोलोकोउक्ति आता है न? भाई! द्रव्यसंग्रह में आता है। लघुद्रव्यसंग्रह है न, उसमें आता है। व्यवहार अर्थात् लौकिक बात। निश्चय अर्थात् यथार्थ वस्तु। इस लौकिक बात में शास्त्र में भी व्यवहार की ऐसी बातें आती हैं। समझ में आये (इस प्रकार से)। दूसरे प्रकार से किस प्रकार कहना? मुनियों को ठण्डा चाहिए हो और गर्म मिले, गर्म चाहिए हो और ठण्डा मिले। घूमने-फिरने का कुछ होता नहीं। राजमलजी। यहाँ तो भाई! सब बातें हो पूरे संसार की।

सम्भाषण की आज्ञा है, इसलिए उनका शरीर सदा... 'प्रायेण' इतना शब्द पड़ा है। **'प्रायेण'** है न? **'प्रायेण'** ऐसा करके बात डाल दी है। **किन्तु धर्मात्मा श्रावक उत्तम दवा, पथ्य, निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर की चारित्र के पालन करने के लिये समर्थ बनाते हैं।** देखो, भाषा। चारित्र पालन के लिये (समर्थ) बनाते हैं। सवेरे की और यहाँ की दोनों बातें बराबर समझनी पड़ेगी। ऐई! देवीलालजी! इसलिए तो यह अधिकार लिया है। ऐसी (बातें) आती है। चरणानुयोग में पद्धति, उसमें आती है। महाराज! आपको यह रोग हुआ, लाओ औषधि दें। वह कहीं औषध नया नहीं लेते। वह तो आहार में साथ में देते हैं।

कहते हैं, **धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा, पथ्य और निर्मल जल शरीर से चारित्र पालन करने के लिये समर्थ बनाते हैं। मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से होती है।'** देखो! है न इसमें? यह निमित्त से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में ऐसे कथन आते हैं, भाई! उसे न समझे और एकान्त ले लेवे, तब तो पूरे तत्त्व का नाश हो जाता है। समझ में आया?

कहते हैं, **इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति उत्तम श्रावकों से होती है।** है न? **'धर्मो गृहस्थोत्तमात्'** ऐसा पाठ है। उत्तम गृहस्थ, विवेकी गृहस्थ, ज्ञानी गृहस्थ, उसे मुनि की सेवा, मुनि की भक्ति, आहारादि का भाव आता है। उससे मुनिपना टिकता है। दूसरी जगह दूसरा आता है (कि) मुनि को ही रत्नत्रय दिया। कहीं आता है या नहीं? यह दान में होगा। समझ में आया? मुनि के शरीर का मोक्ष का मार्ग शरीर से निभता है; शरीर आहार-पानी दे, आहार-पानी श्रावक दे। इसलिए श्रावक ने ही उसका मोक्षमार्ग दिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें आता है। इसमें आता है, अपने दान में होगा कहीं? अपने कहाँ सब... यह आता है न? अपने व्याख्यान वांचन हो गया है। समझ में आया? ऐसा वहाँ आता है। आता है न? कहाँ गये भाई? किसमें दान में आता है या किसमें? दान की बारहवीं गाथा, लो भाई! दान का कितना अधिकार? दान का अधिकार कितने में? कितनी गाथा? बारह। यह बराबर है। बारह, इसमें पृष्ठ ११६ है। दान का अधिकार, इसमें बारहवीं गाथा। देखो! शैली तो सब समझना चाहिए या नहीं?

दाता की महिमा का वर्णन। बारहवीं (गाथा)

मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके
तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात्।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा
तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः।।१२।।

बारहवीं गाथा। **संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय है।** संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। **रत्नत्रय को शरीर में शक्ति होने से मुनिगण पालते हैं।** समझ में आया? यह निमित्त के सम्बन्ध से निमित्त का ज्ञान कराते हैं। ऐसी भी चरणानुयोग में कथन की पद्धति होती है। यह कथन मिथ्या नहीं है। यह व्यवहार की रीति से समझाने के लिये यह बात बराबर है। समझ में आया? ऐसा कोई बोले तो वह दृष्टि मिथ्यात्व है, उसे धर्म की खबर नहीं—ऐसा नहीं है। समझ में आया? ईश्वरचन्दजी!

मुमुक्षु : प्रयोजन के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रयोजनवान है। एक दूसरे के निमित्त का प्रयोजन है। निमित्त सिद्ध करना है।

और उन **मुनियों की शरीर शक्ति अन्न से होती है।** अन्न हो, उससे शरीर की शक्ति (रहती है), कहे। यह सब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या है। **मुनियों के लिये उस अन्न को श्रावक भक्तिपूर्वक देते हैं। इसलिए वास्तविक रीति से गृहस्थ**

ने मोक्षमार्ग को धारण किया है, ऐसा समझना चाहिए। देखो! **'तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः'** ऐसे व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को प्रसिद्ध करने के लिए इस प्रकार से कथन होते हैं, दूसरा कथन नहीं होता। परन्तु उसका ऐसा ही मान ले (तो विपरीतता है)। अभी तो निश्चयमोक्षमार्ग शरीर से होता है, ऐसा भी नहीं है, उसके विकल्प से होता है—ऐसा नहीं है। विकल्प से होता है, ऐसा नहीं है। शरीर से तो कहाँ होगा? 'शरीराद्य खलु धर्म साधनं'—कहते हैं न? इस प्रकार व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो मोक्षमार्ग में विकल्प भी वास्तविक साधन नहीं है, परन्तु व्यवहार का ज्ञान कराने के लिये मुनि की भक्ति श्रावक को उत्पन्न हुई है, (इसलिए) आहार देता है, शरीर पुष्टि रहती है, इसलिए शक्ति से पालन हो, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक की परम्परा का ज्ञान कराने के लिये यह कथन है। समझ में आया? धन्नालालजी! भाई! दोनों बात सामनेवाले की लेनी चाहिए या नहीं? वे कहें कि सामने नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है। समझ में आया? व्रत की अपेक्षा से दान को अधिक फल कहते हैं। यह तो ठीक, चलो। ..... रखा वहाँ।

अब यहाँ अपने चलता हुआ अधिकार। पाँचवीं गाथा हुई। **गृहस्थ भी गिने जाते हैं।** कौन? यह **'गृहस्था धर्महेतवः'** गृहस्थ धर्म के हेतु—निमित्त है, ऐसा शास्त्रकार पुकारकर कहते हैं। अब छठवाँ। यह थोड़ी गड़बड़ की गाथा है।

गाथा ६

संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्।।६।।

अर्थ : और इस काल में श्रावकगण बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्म की प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं, इसलिए इन सभी के मूल कारण श्रावक ही है। अतः श्रावकधर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है।।६।।

गाथा - ६ पर प्रवचन

संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्।।६।।

यह पत्रों में भी आ गया है, यह देखो! मुनि अकेले वन में रहें, वन में रहें—ऐसा नहीं है। इस शास्त्र में पद्मनन्दि आचार्य ने कहा। धन्नालालजी! भाई! बात तो दोनों लेना चाहिए या नहीं? कहो, समझ में आया? क्या कहा?

अहो! **अर्थ – इस काल में श्रावकगण बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं,...** यह बनवाते निकाला है गाथा बीसवीं श्रावक में से। अपने श्रावक व्रतोद्योतन है या नहीं? उसकी बीसवीं गाथा में यह सब स्पष्टीकरण है। बीसवीं-बीसवीं है न? बीसवीं। पृष्ठ २२६। बीसवीं। श्रावकद्योतन। देखो, यह वहाँ गाथा बीसवीं है। तत्प्रमाण अर्थ लेना। अथवा **'जिनगेहे'**। तो **'जिनगेहे'** अर्थात् कोई मन्दिर वन में बाहर भी होते हैं। समझ में आया? मुनि आकर बसे। ... मकान और मन्दिर आदि एकान्त में थे। यह तो अब सब (बदल गया)। जंगल में भी मन्दिर आदि थे। वहाँ आवे, मुनि बसे। तो कहते हैं, ...देखो! इसमें स्पष्टीकरण है। बीसवीं (गाथा)।

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वतते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः।।२०।।

अर्थ – जिस नगर में, देश में श्रावक लोग रहते हैं। देखो! रहते हैं। ऐसा है न पाठ में? बस्ती। **'स्यात्तत्र चैत्यालयो'** वहाँ जिनमन्दिर होते हैं। प्रतिमा, भगवान का दर्शन करने के लिये चैत्यालय होते हैं। देखो! है न? **और यहाँ पर जिनमन्दिर में यतिश्वर निवास करते हैं।** है न? **'यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च'** भिक्षा के लिये आवे, दर्शन करे, बैठे। शास्त्र में आता है न वे मुनि? सप्तऋषि। आठ जगह गये थे और दूसरे ने दिये। और भगवान के दर्शन करने मन्दिर में गये। वहाँ आदर किया

दूसरे मुनियों ने। ओहो! यह मुनि तो अभी कहाँ से? हम तो घर से आये थे और यह तो भ्रष्ट हैं, ऐसा विचारकर नहीं दिया। यह तो महामुनि लगते हैं। मन्दिर में दर्शन करने गये। मुनि आये थे, अत: परिचय हो। देशना मिलें। संघ मिले, पुण्य हो। जिनप्रतिमा के मन्दिर होंवे तो मुनि आकर रहें तो बातचीत का प्रसंग बने और व्याख्यान सुनने को मिले। समझ में आया? आ चढ़ते थे वे लोग। कुन्दकुन्दाचार्य को। वह गये थे न अभी हम? पौन्नूर हिल। पौन्नूर हिल। उसके पास एक पौन्नूर नाम का तीन-चार-पाँच मील दूर एक गाँव है। पौन्नूर गाँव। उस गाँव में पुराना मन्दिर है और गढ़ भी पुराना दिखता है। वे लोग वहाँ के वृद्ध परम्परा कहते थे कि यहाँ मुनि कुन्दकुन्दाचार्य यहाँ से उतरकर दर्शन करने आते थे। इस मन्दिर में (आते थे) और यहाँ आहारदान की विधि के लिये निकलते थे। पौन्नूर हिल। वन्देवास से।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं। ऐसा उस समय था, ऐसा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अभी कहते हैं। तब सुना न! हमें कहाँ खबर थी। हम तो गये थे। मन्दिर पुराना है, गढ़ पुराना है, बहुत पुराना है। सब लोग साथ में थे तो हम पहले गये थे, फिर लोग गये थे। कहते थे कि कुन्दकुन्दाचार्य ऊपर से दर्शन करने यहाँ आते थे और आहारदान के लिये... यह पौन्नूर हिल एक ऐसा पर्वत है। आसपास में चार मील, पाँच मील में जैनों के बहुत घर। अकेले दिगम्बर। चारों ओर दिगम्बर। पाँच मील, चार मील चारों ओर घर। मुनि किसी समय ऐसे जाएँ, किसी समय ऐसे जाएँ। समझ में आया? ऐसा वे लोग कहते थे। हम तो वहाँ दर्शन करने गणधर की मूर्ति वहाँ है? एक गणधर की प्रतिमा भी वहाँ है। उस पौन्नूर में मन्दिर में। ऐसे हाथ है। दूसरे प्रकार से... प्रतिमा है। आसपास में छह-सात गाँव देखे। खोज की। वहाँ छह-सात गाँव देखने गये थे। एक मंगल, मंगल कैसा (गाँव)? सात मंगल गाँव है। वहाँ आवास था न तुम्हारा? सात मंगल गाँव। गाँव का नाम सात मंगल। अकेले दिगम्बर, हों! सब किसान वर्ग। पच्चीस घर, तीस घर, चालीस घर परन्तु मात्र दिगम्बर जैन। एकदम

किसान। सात मंगल ऐसा नाम। वे वहाँ कहते थे कि यहाँ मुनि—कुन्दकुन्दाचार्य पधारते थे, दर्शन करते थे। दान का समय मिले, बातचीत का, सुनने का। इसलिए यहाँ कहते हैं। समझ में आया?

यतिश्वर निवास करे, वहाँ धर्म की प्रवृत्ति रहती है। मुनि दो घड़ी, चार घड़ी भगवान के दर्शन करके बैठें। **जहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है, वहाँ पर अनादि काल से संचय की हुई...** है न? **'सत्यघसंचयो विघटते' पापों का नाश होता है।** धर्म श्रवण से अशुभभाव का नाश होता है। और शुभभाव होता है। **भविष्य काल में स्वर्ग-मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है।** है न? **'स्वर्गापवर्गाश्रयं सौख्यं भावि नृणां'** मोक्ष तो अपनी निर्मलता से होता है। परन्तु उसमें जो श्रद्धा-ज्ञान है, उससे होता है और राग उसे भी मोक्ष का कारण, स्वर्ग का कारण व्यवहार से कहने में आया है। **इसलिए गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिए।** है? **'श्रावकाः संमताः'** मान्य करना चाहिए। श्रावक गृहस्थाश्रम में भी धर्मात्मा सच्ची श्रद्धा-ज्ञान आदि ऐसा हो, वह भी मान्य है, पूजनीय है। समझ में आया? वन्द्य है। नीचे है, देखो! इक्कीस में। **'वंद्यः सताम्'** २१वीं गाथा में है। समझ में आया? देखो!

इस दुःषम नाम के काल में जिनेन्द्र भगवान के धर्म से क्षीण होने से आत्मा के ध्यान करनेवाले मुनिजनों की ... विरल हो गया। दृढ़ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के फैल जाने से जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा, मन्दिरों, जिनमन्दिरों में भक्ति सहित थे, उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे। मनुष्य इस ... देखने में नहीं आता। ऐसे मनुष्य देखने में नहीं आते। **किन्तु जो भव्य जीव इस समय भी विधि के अनुसार जिनमन्दिर...** सब पाठ में है, हों! **'चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सो... पि नो दृश्यते यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम्' ऐसे निर्माण करवाते हैं, वह सज्जन वन्दनीय हैं।** ऐसे श्रावक हों तो भी वन्द्य-स्तुति करने योग्य है। पाठ में है। देखो! समझ में आया? २०वाँ है। **'वंद्यः सताम्' 'सताम्'** अर्थात् जीवो को ऐसे जीव भी वन्दनीय अर्थात् आदरणीय-स्तुति करनेयोग्य है। **समस्त... उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं।** लो! समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं... अब अपना चलता विषय। **'संप्रत्यत्र कलौ काले**

जिनगेहे मुनिस्थितिः।' पाठ तो ऐसा ही है। **'जिनगेहे मुनिस्थितिः'।** जिनमन्दिर में मुनि की स्थिति होती है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि अभी सब मुनि जिनमन्दिर में निवास करें। ऐसा कुछ नहीं कहा। यह तो कहते हैं, अभी तो सब जिनमन्दिर में गाँव में ही बसते हैं। अरे! भाई! ऐसा यहाँ नहीं कहा। वहाँ तो मन्दिर बना हो, मुनि आये हों थोड़ी देर वहाँ स्थिति रहे, टिकें। ऐसी बात है। बाकी मुनि तो वनवास, जंगल वनवास था। आहाहा! समझ में आया?

एक गजाधरलाल ने इसका अर्थ ऐसा किया है कि जिनमन्दिर बनाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कि मन्दिर होवे, वहाँ मुनि आकर बसते हैं। **आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं।** लो ठीक, मुनि की स्थिति। मुनि की-शरीर की स्थिति रखते हैं। यह व्यवहार के कथन हैं। निमित्त से समझावे, तब तो ऐसा ही समझावे न! **मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं। सर्वदेश एक देशरूप धर्म की स्थिति करते हैं।** समझ में आया? **'धर्मश्च दानमित्येषां' और दान देते हैं।** सच्चे मुनियों को स्थिति देते हैं, मदद करते हैं और स्वयं एकदेश पालन करते हैं। **इसलिए इन सबके मूल कारण श्रावक ही है। मुनि का मार्ग निभाना और श्रावक-श्रावक का अपना धर्म स्वयं निभावे।** इसका कारण श्रावक ही है। .... चन्दजी! परन्तु इस प्रकार से, हों! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से चरणानुयोग की पद्धति से ज्ञान कराया है। इसके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। इस प्रकार ही कथन की पद्धति चरणानुयोग में (आती है)। ओहो! मुनि आये। ... आये। भाव उत्पन्न हुआ। आहा! भाव कहीं उनके कारण से उत्पन्न हुआ है? समझ में आया? आये। महान प्रह्लाद से।

भरत चक्रवर्ती में आता है न? भरत चक्रवर्ती आहार के समय... भरतेश वैभव में (आता है)। भरत चक्रवर्ती। छह खण्ड का मालिक, छियानवें हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ घर में और चरमशरीरी। अन्तिम देह रजकण का, अब दूसरा है नहीं। परन्तु आहार के समय ऐसे मुनियों की राह देखते हैं। आहाहा! अरे! कोई मुनि, अरे! कोई धर्मात्मा (पधारे)। ऐसे सोने का वह पहना होता है - रखड़ी रत्न की, मणि रत्न की। महल में से बाहर निकले। उनके महल भी विशाल होते हैं न! ऐसा झोंपड़ा-बोंपड़ा नहीं होता। मील-दो मील में तो बड़ा मकान होता है। लम्बा, अकेला मणिरत्न बिछाया

हुआ। घर में से निकलकर ऐसे जाते हैं। ऐसे... अरे! कोई मुनि है। उसमें ऊपर से दो मुनि निकलते हैं। है न? आता है न?

मुनि आहार लेने जाते हैं। भरत को आहार का समय है और ऐसे देखते हैं। ओहो! उसमें दो मुनि निकले। पधारो... पधारो। भक्ति आये बिना रहती नहीं। बहुत भाव है। भक्ति का भाव। उनकी योग्यता देव-गुरु-शास्त्र के प्रति का बहुमान। ओहो! ऐसा कहे, आज हमारा आँगन पवित्र हुआ। समझ में आया? व्यवहार की भाषा क्या आवे? आँगन में हमें अन्दर आह्लाद आया है। वह आँगन पवित्र हुए, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? देखो! यह कितने ही लोग कहते हैं न कि भाई! यह निश्चय की ही (बातें करते हैं)। बापू! निश्चय के साथ ऐसा व्यवहार होता है। भाई! व्यवहार नहीं होता, ऐसा नहीं है। परन्तु उसकी मर्यादा है उस प्रमाण का फल होता है। समझ में आया? **धर्म की प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए इन सबों के मूल कारण श्रावक ही है।** लो! मूल कारण श्रावक। देखो! समझ में आया? अब कोई किसी का मूल कारण होता नहीं और सबका मूल कारण श्रावक है, ऐसा कहा। और वे उठावे कि मूल कारण तो उपादान है। भाई! अभी सुन न! यह बात नहीं है। समझ में आया? यह तो उपादान तो उपादान ही स्वयं से है, परन्तु सब दूसरे निमित्त की अपेक्षा गृहस्थ श्रावक है, वह धर्म का भाव उसमें निमित्त है, इसलिए उसे मूल कारण निमित्तरूप से कहने में आया है। धन्नालालजी!

सवेरे कहे, ज्ञानस्वरूप प्रभु है न। यह कोई व्यवहार आया है, उसका ज्ञान करते हैं न। व्यवहार मेरा है, (ऐसा) वह मानता नहीं। परन्तु व्यवहार के शास्त्र में उसका प्रमोद, उसे कैसा गिना था यह सब... दे। परन्तु यह बात बतलाते हैं। ओहो! धन्य अवतार! हमारे आँगन सफल हुआ, आज हमारे आँगन में कल्पवृक्ष उगा हुआ। सोने का सूर्य उगा। ऐसा कहते हैं या नहीं? यह पुत्र के विवाह में नहीं कहते शादी करे तब? घर में सोने का सूर्य कहीं नहीं उगा है परन्तु यह महिलाएँ गाँवें न। गाती तो होगी हिन्दी में भी। हमारे काठियावाड़ा में होता है न? 'वेणला भले वाया रे...' सवेरे गावे। 'सोना समो रे सूरज उग्यो।' सूरज तो जो है, वह है। परन्तु हमें पुत्र के विवाह का प्रमोद है तो सूरज को स्वर्ण सम उगा, ऐसा कहा जाता है। और 'थाळ भर्यो रे मोतिये।' विवाह में

आता है। सच्चा मोती एक भी उसके घर में न हो परन्तु बोलते हैं उस लड़के के विवाह के प्रेम में। आता है न उसमें? 'थाळ भर्यो रे सग मोतिये।' लो, यह सग मोती। यह मोती का भरा हुआ हो ऐसा... क्या कहते हैं यह? अन्दर से उसका प्रमोद बतलाते हैं। आहा! हमारे घर में तो मोती के थाल सज्ज हों! ऐसे। ऐसे नहीं। ऐसे सज्ज सरे इतने मोती हमारे घर में। आहाहा! तो जहाँ त्रिलोकनाथ परमात्मा या सन्त घर में आवे.. आहाहा! हमारे घर में तो हीरा-हीरा जड़े हैं। हीरा बरसे, मोती बरसे हमारे घर में। ऐसे प्रमोद के वाक्य निकलते हैं।

भगवान तो जहाँ आहार लेने जाएँ, (वहाँ) इस जगत के परमाणु ऊपर के रत्न होकर बरसते हैं। समझ में आया? रजकण होते हैं न? स्कन्ध... स्कन्ध ऊपर। वे परमाणु रत्न का परिणमन करके नीचे गिरते हैं। सडाट... लाखों, करोड़ों। ओहोहो! उस भूमि का योग पवित्रता में जो आया, उस पुण्य के कारण से, हों! पवित्रता के कारण से नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि मूल कारण श्रावक है। अपने धर्म का भी निभाव करता है और मुनि के धर्म का भी निभाव करता है। इसलिए मूल कारण वह है। समझ में आया? सूक्ष्म-सूक्ष्म व्याख्या समझना चाहिए, हों! ... पाठ ऐसा है। **'संप्रत्यत्र कलौ काले'** यह गाथा आ गयी है, भाई पहले। देखो! इसमें कलिकाल के मुनि तो जिनगृह में ही होते हैं। अरे! भाई! ऐसा नहीं होता, बापू! समझ में आया? मुनि तो आते हैं। मन्दिर के दर्शन करे, आहार-पानी ले। महा भावलिंगी सन्त। उन्हें जरा विकल्प आया तो आते हैं। दर्शन करते हैं। कोई पूछे तो प्रश्न का उत्तर देते हैं। और ५०-१०० मनुष्य इकट्ठे हो गये हों तो जरा प्रवचन भी धर्मलोभी प्राणियों को (सुनाते हैं)। आता है न? मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में आता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में। मुनि महा... जिन्हें अशुभभाव तो किंचित् रहा नहीं परन्तु धर्म के लोभी प्राणी देखकर... देखकर होता होगा? यह तो उसकी बात आती है। धर्मलोभी ऐसे सुनने (आवें)। विकल्प आया है, उसे समझाते हैं। भाई! मार्ग यह है, बापू! परमात्मा स्वयं अन्दर स्थित है। दूसरे भगवान की भक्ति वह तो शुभभाव है। तेरे भगवान की भक्ति, वह शुद्धभाव है। समझ में आया? वह भक्ति करने बैठा और सुनने बैठा, उसे भी वहाँ सुनाते हैं। तुम क्यों भक्ति करने आये हो भगवान की? अब सुन न,

भाई ! और उसे कहते हैं कि परमात्मा अन्दर विराजता है, उसकी भक्ति, वह सत्य और शुद्ध भक्ति है। पर की भक्ति व्यवहार (भक्ति है), तो तुम क्यों यह भक्ति करते हो ? ऐसा तर्क आता होगा उस श्रावक को ? अरे ! भाई ! ऐसे भाव मुनि को आते हैं, परन्तु उन्हें श्रद्धा-ज्ञान में क्या है, यह बात वे बाहर प्रसिद्ध करते हैं। कहो, समझ में आया ?

छह गाथायें हुई। अब श्रावक के प्रतिदिन के सत्कर्म की व्याख्या। पंचम गुणस्थान के योग्य जिसकी दशा (हुई है), उसे ऐसा भाव छह कर्मों का भाव आये बिना नहीं रहता। होता ही है। समझ में आया ? पंचम गुणस्थान श्रावक, सम्यग्दर्शन-ज्ञान (तथा) बारह व्रतधारी, उसे भी षट्कर्म का शुभभाव हमेशा आता है, उसके छह प्रकार वर्णन किये जाते हैं। उसे होते हैं। यह गाथा कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

श्रावण कृष्ण १३, शुक्रवार, दिनांक - ०४-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - ७ से १४, प्रवचन-१२

यह पद्मनन्दि पंचविंशति का छठवाँ अधिकार है। श्रावकाचार। अर्थात् उपासक संस्कार। धर्मी जीव को... पहले आ गयी यह बात कि आत्मा परम पवित्र शुद्ध ज्ञान आनन्दघन है। ऐसी अन्तर पहले दृष्टि-सम्यग्दर्शन होना चाहिए। जिसमें स्थिर होना है, वह चीज़ क्या है? चारित्र अर्थात् स्थिर होना। चारित्र अर्थात् कि रमना, स्थिर होना, टिकना। परन्तु वह चीज़ क्या है कि जिसमें टिकने से चारित्र होता है? अर्थात् प्रथम में प्रथम आत्मा अत्यन्त शुद्ध ज्ञायक का पिण्ड पवित्र है, उसे राग, कर्म, शरीर को लेप नहीं है। समझ में आया? ऐसी अन्तर में सम्यक् दृष्टि हुए बिना पंचम गुणस्थान के योग्य स्थिरता और उसे श्रावक आदि के जो व्रतों के विकल्प यथार्थरूप से होते नहीं। समझ में आया? यह तो पहले ही आ गया था। सब जगह लिखा है।

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः।।२।।

यहाँ से ही शुरु किया था। पहले ही आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड आनन्द और शुद्ध पूर्ण तत्त्व ध्रुव है। ऐसी अन्दर में दृष्टि होने से सम्यग्दर्शन—प्रथम धर्मदशा होती है। पश्चात् उसे पंचम गुणस्थान जो श्रावक का कहलाता है, उसमें स्वरूप में विशेष एकाग्रता, स्वचैतन्यस्वभाव का आश्रय चौथे गुणस्थान में लिया था, उसकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में स्वस्वभाव का आश्रय चौथे से उग्ररूप आश्रय लिया है। इसलिए उसे पंचम गुणस्थान के योग्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति—स्वरूप की स्थिरता प्रगट हुई होती है। समझ में आया? उसे उसकी भूमिका में बारह व्रतादि विकल्प होते हैं। उन्हें करना, ऐसे व्रत पालना, ऐसा यहाँ अधिकार चरणानुयोग की पद्धति के कथन से चलता है। समझ में आया? वहाँ छह गाथा हो गयी।

अब सातवीं। षट् आवश्यक कर्म। सम्यक् भानसहित धर्मात्मा को—श्रावक को हमेशा षट् कार्य होते हैं। षट् कर्म—छह प्रकार के शुभभाव। समझ में आया? देखो!

गाथा ७

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।७।।

अर्थ : जिनेन्द्रदेव की पूजा और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छह(षट्) कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य हैं ॥७॥

गाथा – ७ पर प्रवचन

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।७।।

पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि श्रावक को षट्कर्म के कार्य प्रतिदिन होते हैं। कौन से (षट्कर्म) ? जिनेन्द्रदेव की पूजा। समझ में आया ? ऊपर आ गया था, उस छठी गाथा में। जिनमन्दिर बना हुआ होता है। श्रावक के गाँव में जिनमन्दिर होता है। मुनि की भी आने की स्थिति होती है, उन्हें दान देने की विधि भी होती है और ऐसे मन्दिर में मुनि का आना हो, इसलिए शास्त्र श्रवण का योग भी वहाँ श्रावक को होता है। ऐसा कहकर यहाँ लिया कि देवपूजा। समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि श्रावक है, उसके गाँव में मन्दिर होता है। यह अनादि की रीति है। सेठी ! इससे वह प्रतिदिन भगवान की पूजा करे। संसार के काम करता है या नहीं पाप के ? ये पाप के भाव भी उसे आते हैं, इसलिए उसे ऐसे पुण्य कार्य के—षट्कर्म के भाव आये बिना नहीं रहते। वह है तो शुभभाव। समझ में आया ? यह तो चरणानुयोग की (कथन) पद्धति है। देवपूजा '**षट्कर्माणि दिने दिने**' करे। करनेयोग्य है, ऐसा कहे। समझ में आया ? जिनेन्द्रदेव की पूजा प्रतिदिन होती है। यहाँ पूजा शब्द प्रयोग किया है, हों ! दर्शन करके ऐसे चले जाना, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : खोटी होना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटी होना पड़े। खोटी होना पड़े न? धन्धा खोटी हो। श्रावक है, उसे तो इस अन्तर्दृष्टि में... पहले ही आगे आयेगा, पहले ही सवेरा हो और भगवान के दर्शन (करे)। आयेगा, देखो! १६वीं गाथा में। **'प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्'** १६वीं गाथा में आयेगा। समझ में आया?

देखो! यह अनादि का सनातन वीतराग मार्ग। जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जाना हुआ, देखा हुआ, कहा हुआ, रहा हुआ। इस प्रकार से मार्ग रहा हुआ है। उसकी यहाँ व्याख्या करते हैं कि श्रावक है, वह हमेशा भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करे। समझ में आया? घर में स्त्री-पुत्र की प्रतिदिन पूजा करता है या नहीं? पूजा अर्थात् बहुमान। और देव की पूजा तो होती है। श्रावक है, वह घर में स्त्री-पुत्र को सम्हालता है या नहीं? दूध पिलावे, ऐसा हो। तो कहते हैं, देव की पूजा श्रावक को हमेशा होती है। वह (स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी) पाप भाव है। होवे भले, परन्तु उसे ऐसा शुभभाव प्रतिदिन दिन-दिन होता है। उसे करनेयोग्य है, ऐसा व्यवहारनय के कथन में आता है। वास्तव में तो उस काल में वह विकल्प उस प्रकार का आता है, इसलिए पूजा के योग्य क्रिया में उसका लक्ष्य जाता है। कहो, समझ में आया?

साधारण जनता उसके घर आवे तो उसका आदर करता है या नहीं? कोई सेठिया गृहस्थ (होवे)। यह तो तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र भगवान, इनकी अस्ति के अभाव में जिनेन्द्रमूर्ति के दर्शन प्रतिदिन करे। समझ में आया? भानसहित की बात है न यहाँ तो? स्वभाव के दृष्टि के भानसहित उसे ऐसा भाव प्रतिदिन आये बिना नहीं रहता। बैगार नहीं करता वह। धन्नालालजी!

'गुरुपास्तिः' निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा। सन्त, मुनि, निर्ग्रन्थ भावलिंगी हों, उनकी सेवा। संसार में बड़ों की सेवा करते हैं या नहीं? श्रावक भी सेवा (करता है)। उसके माता-पिता, परिवार (की सेवा करता है)। अत: यहाँ **'गुरुपास्तिः'** गुरु की सेवा करे। उनकी सेवा का अर्थ उनकी भक्ति करे, आहारदान दे, इत्यादि का विनय करे। ऐसा दिन का-प्रतिदिन का कर्तव्य यह है। समझ में आया? गुरु, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा। जैसे बड़ों की करे तो यह उसे पंचम गुणस्थान में श्रावक को आये बिना नहीं रहता।

'स्वाध्यायः' बहियाँ प्रतिदिन खोजता है या नहीं? मनसुखभाई! इसलिए कहते

हैं कि यह बहियाँ खोजने का भाव जिसे अभी व्यापार का श्रावक के योग्य होता है न? तो उसे स्वाध्याय (का भाव आता है)। शास्त्र में क्या है, उसका स्वाध्याय प्रतिदिन करे। एक लाईन वाँच ली और दो लाईन वाँच ली और हो गया, स्वाध्याय कर लिया - ऐसा नहीं। तथा किसी दिन वाँचन किया और फिर सदा (छोड़ दे) ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : इतना वाँचता तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें भी क्या समझे एक लाईन, दो लाईन में? यहाँ बहुत आते हैं। स्वाध्याय करे एक लाईन, पृष्ठ लेकर ऊपर आवे। स्वाध्याय वह षट्कर्म करने का कहा न, फिर दो पृष्ठ पढ़े, आड़ा-टेढ़ा उठाकर ले। क्रमसर, नियमसर शास्त्र का स्वाध्याय करे। अपना अध्याय तो ज्ञानस्वरूप की बारम्बार चिन्तवना होती है। परन्तु उसके साथ वाँचना, शास्त्र का वाँचन करे, वाँचन ले, प्रश्न पूछे, धारण किये हुए की बारम्बार पर्यटना करे, विचारण करे और धर्मकथा करे तथा सुने। कहो, समझ में आया? सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या है? क्या लम्बा-लम्बा हुआ?

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। वाँचन, पूछना, पर्यटना, अनुप्रिया और धर्मकथा। पाँच प्रकार हैं। स्वाध्याय के पाँच प्रकार कहे। कहो, बहियों के नामा लड़के को बताता है या नहीं कि ऐसे लिखना, ऐसे करना। श्रावक, हों। तो कहते हैं कि उसे शास्त्र का स्वाध्याय, भगवान त्रिलोकनाथ ने कहे हुए, सर्वज्ञ ने कहे हुए, उसके अनुसार सन्तों ने कहे हुए, उनके कहे हुए शास्त्र का हमेशा स्वाध्याय करे कि जिससे उसके ज्ञान में यथार्थपना निर्मल बना रहे। कहो, समझ में आया? यहाँ तो स्वाध्याय कहा। है तो शुभभाव। परन्तु यहाँ अभी बात में कर्म है न? कार्य है न? परन्तु ऐसा भाव धर्मी को शास्त्रस्वाध्याय का आये बिना नहीं रहता। कितना? प्रतिदिन। एक दिन स्वाध्याय की और आठ दिन गप्प चल गया, ऐसा नहीं। धर्मचन्दजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वाँचन करना। वाँचन देना या वाँचन लेना। प्रश्न पूछना। धारण किया हो, उसकी पर्यटना—बारम्बार याद करना और विचारना—उसका दीर्घ

विचार करना और कथा कहना। यह स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। सेठी! क्या हुआ? निश्चय की बात आती परन्तु यह व्यवहार उसके साथ ऐसा होता है। श्रावक को ऐसा व्यवहार साथ में होता है। कहो, समझ में आया? कहाँ गये जगजीवनभाई! आये नहीं लगते तुम्हारे। तबीयत ठीक नहीं होगी? वहाँ गये होंगे। कहो, समझ में आया? स्वाध्याय।

'संयम' हमेशा किंचित् परपदार्थ के प्रति इच्छा घटावे, इन्द्रिय दमन का कुछ करे, ऐसा संयम अथवा छह काय के जीव को अमुक प्रकार के प्राणी को नहीं मारना, ऐसा भाव उसे प्रतिदिन श्रावक को होता है। ताराचन्दजी! समझ में आया? और योग्यतानुसार तप। पश्चात् इसे डाला। **'संयमस्तपः'** इच्छा घटाना। थोड़ी-थोड़ी इच्छा घटना। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश आदि। उसमें राग थोड़ा घटाना, इच्छा निरो—ऐसा तप भी श्रावक को पंचम गुणस्थान के योग्य ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

दान। प्रतिदिन दान करना। स्त्री, पुत्र के लिये प्रतिदिन कमा-कमाकर रखता है या नहीं? पैसा। ठीक! पैसा-पैसा डाले, उसकी बात कहाँ है? यथाशक्ति। सब जगह ऐसा आता है। अपने दान में आया था। दान के अधिकार में यथाशक्ति दे। समझ में आया? यह पैसे का ठीक याद किया इन्होंने।

मुमुक्षु : कम से कम दसवाँ भाग देना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दसवाँ आता है। कम से कम कमाता है, उसका दसवाँ भाग तो दान में निकाले। कहो, समझ में आया? यथाशक्ति दूसरी गाथाएँ बहुत हैं अवश्य। यह तो बाद में आयेगी। दान अधिकार। कितने में आया? दान की ३२ (गाथा)। है न। ३२। देखो, शक्ति नहीं उसमें। ३२ न?

ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव
तस्यापि संततमणुव्रतिना यथर्द्धि।

बस, यह। यथा दान शक्ति प्रमाणः। देखा! समझ में आया? १२५ पृष्ठ, ३२वीं गाथा। **'यथर्द्धि' अपने धन के अनुसार...** है? पाँच लाख कमाता हो और एक पैसा डाले वहाँ धर्मादा में हमेशा।

'यथर्द्धि' देखा! थोड़े में थोड़ा इसकी शक्ति प्रमाण। लाख पैदा करता हो और एक पाँच रुपये खर्च करे, वह यथार्थशक्ति प्रमाण नहीं है। शक्ति प्रमाण दान न करे तो उसे मायावी कहा है। धर्मी नाम धराता है न, और यथाशक्ति प्रमाण (इतने कम खर्च करता है)। पुत्र का विवाह हो, तब कैसे पचास हजार खर्च कर डालता है। खर्च करता है या नहीं? लड़की के विवाह में न हो तो भी उधार करके वह काम करता है? लड़की का विवाह हो तो फिर पचास हजार का खर्च करे तो उगाही, चन्दा-खरडा करता है? वहाँ घर में से निकालता है परन्तु सब अपने कारण से निकालता है या नहीं प्रत्येक? चन्दा करो चन्दा, भाई! अपने को लड़की की विवाह करना है।

इसी प्रकार दान के काम में धर्मी को लोभ घटाने का भाव हमेशा होता है। हमेशा दिन प्रतिदिन। जैसे पुत्र, कुटुम्ब, कमाने के लिये भाव (आता है), तो दान के प्रति भाव भी श्रावक को हमेशा होता है। कहो, समझ में आया? देखो! ऐसा कि इतना मिले तो करूँगा। .... नहीं मिल सकता। लिखा है इसमें, हों! ऐसा नहीं समझना कि मैं हजारपति होऊँगा, दान करूँगा। इन्होंने तो हजार का मुश्किल से लिखा। अभी तो लाख और करोड़ का कहाँ ठिकाना है? मनसुखभाई! हजारपति-हजारपति। अब हजार तो गये। एक हजार के तो... दिन-प्रतिदिन दस-दस हजार की तो अभी आमदनियाँ हैं। पाँच-पाँच हजार और दस-दस हजार और दो-दो हजार की आमदनी है। अब हजारपति तो क्या? उस समय के हिसाब से लिखते हैं। मैं हजारपति होऊँगा। हजारपति होऊँगा, हों! पति हजार का लाभवाला नहीं। तब दान दूँगा। अथवा मैं लखपति होऊँगा, तब दान दूँगा। **किन्तु जितना धन पास में होवे उसी के अनुसार ग्रास, दो ग्रास अवश्य दान देना चाहिए।** श्रावक को थोड़ा बहुत तो हमेशा दान देना चाहिए। कहो, समझ में आया?

यह छह कर्म। देखो! पाठ में है न **'षट्कर्माणि'**। यह षट्भाव हमेशा उसे होते हैं। अरे! दृष्टि, अनुभव कदाचित् सच्ची न हुई हो, तथापि उसे यह भाव गृहस्थाश्रम में उसकी योग्यता प्रमाण मन्दकषाय के लिये ऐसे भाव होते हैं। देवदर्शन, गुरुपूजा इत्यादि होते हैं। यह तो यहाँ सम्यग्दर्शनसहित की ही बात है। समझ में आया?

अब यह कहते हैं, सामायिक करे सामायिक। हमेशा सामायिक करे। कैसी सामायिक होती है?

गाथा ८

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।८।।

अर्थ : समस्त प्राणियों में संयमभाव रखना तथा संयमधारण करने में अच्छी भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना इसी का नाम सामायिकव्रत है ।।८ ।।

गाथा - ८ पर प्रवचन

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।८।।

अर्थ – सर्व प्राणियों में साम्यभाव रखे। सामायिक में सब प्राणियों (के प्रति समभाव रखे)। यह मेरा, यह तेरा, ऐसा ममता का विकल्प उस समय घटा दे। सामायिक के प्रकार चार हैं। एक न्याय से। एक सम्यग्दर्शन सामायिक, एक सम्यग्ज्ञान सामायिक, एकदेश सामायिक, एक सर्वविरति सामायिक। यह देशसामायिक की बात चलती है। क्या कहा? सम्यग्दर्शन सामायिक। अपना आत्मा अकेला वीतराग ज्ञायक है, ऐसी अन्तर्दृष्टि करना वह सम्यग्दर्शन सामायिक है। उस सम्यग्दर्शन की सामायिक बिना देशसामायिक और सर्वविरति की सामायिक नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया?

उसके साथ सम्यग्ज्ञान सामायिक। ज्ञान का वेदन सम्यक् का उग्ररूप से करे। ज्ञान का सम्यक् आचरण, वह एक सम्यग्ज्ञान की सामायिक है। ज्ञान की वीतरागी पर्याय। उस पूर्वक उसे देशसंयम की यह बात चलती है। देशसामायिक। एक अंश में भी राग घटाकर पंचम गुणस्थान के योग्य सर्व प्राणियों के प्रति समभाव रखना, वह यह देशसामायिक की बात है। मुनि को सर्वविरति की सामायिक (होती है)। मुनि को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसहित सर्व रागादि का त्याग समता-समता वीतराग। वीतरागी मुनि होते हैं। कहो, समझ में आया? कहो, वे कहते हैं कि मुनि को फिर अकेला शुद्धोपयोग

ही होता है। समझ में आता है न? परन्तु यह होता है, शुभपरिणति में भी मुनिपना होता है।

एक तो इस लिंग में कहा नहीं? १७२ गाथा में। आत्मा तो शुद्ध उपयोगी है, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया? शुद्ध उपयोगी को आत्मा कहते हैं। शुभाशुभ परिणाम हैं, वे होते हैं। यहाँ कहते हैं न शुभभाव आता है। परन्तु वह आत्मा नहीं है। व्यवहार बीच में आता है, ऐसा भाव श्रावक को होता है। आत्मा... शुद्ध उपयोग अथवा शुद्ध स्वरूप उसका शाश्वत् त्रिकाल। उसकी अन्तर्दृष्टि करना, उसका नाम उसने आत्मा जाना और माना तथा अनुभव किया कहलाता है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जब हो। चाहे जब हो। उसमें क्या है? कहो।

सामायिक संयम धारण करने में अच्छी भावना... शुभभावना है न। इन्द्रियों का दमन। उस समय इन्द्रिय की चपलता को रोके। शास्त्र की भाषा व्यवहार के चरणानुयोग में आवे। उसको इसे समझना चाहिए। भाव आता है कि यह नहीं। उस समय सामायिक में इन्द्रिय दमन होता है। उसे संयम की शुभभावना होती है। शुभ, हों! वह व्यवहार सामायिक है। शुद्ध-अन्दर में स्थित हो, वह निश्चय सामायिक है। निश्चय सामायिक की भूमिका में विकल्प वर्तता हो, पंच परमेष्ठी का स्मरण आदि शुभभाव है। ऐसी भाव की सामायिक उसे व्यवहार होता है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके,... संसारी आर्तध्यान-इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, शरीर में वेदना आदि हो, उसका त्याग सामायिक में होता है। शरीर में रोग होवे तो उसकी चिन्ता नहीं होती। उस समय कुछ सुने कि अरे! यह लक्ष्मी गयी।... उसके परिणाम में रौद्रध्यान नहीं होता। सामायिक में समता होती है। मेरा कुछ नहीं है। भवितव्य लिया है न? होनेवाला तो होता है। उसमें मेरा अधिकार क्या? स्वामी कार्तिकेय में आता है। उपबृहण में आता है। कहो, समझ में आया? वहाँ भवितव्य लिया है।

मुमुक्षु : भवितव्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो भवितव्य अर्थात् जैसा होता है, वैसा होता है। मैं

तो उसका जाननेवाला / ज्ञाता-दृष्टा हूँ, तब उसकी सामायिक यथावत् रहती है। वरना रहती नहीं। कहो, ...चन्दजी! आहाहा! ठीक!

मुमुक्षु : पैसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा, नुकसान कहाँ गया है? किसे नुकसान गया है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मी को नुकसान ही नहीं है। कहो, पचास हजार का नुकसान हुआ, लाख का नुकसान हुआ तो सामायिक में समता रख सकता है या नहीं? ऐसा कहते हैं। नुकसान हुआ ही कहाँ है? वह तो जाने के काल में जाते हैं। भवितव्य ऐसा होवे तो ऐसा होता है। मुझे क्या है? धर्मी समता-समता (रखता है)। उद्वेग नहीं, आर्तध्यान नहीं, रौद्रध्यान नहीं। हिंसानुबन्धी परिणाम, चौर्यानुबन्धी इत्यादि-इत्यादि (नहीं करता)। अपने में अन्दर में समता का प्रयोग करे। मरण के समय मैं कितनी समता रख सकूँगा? वह प्रतिदिन समता का प्रयोग है। प्रौषध है, वह १५-१५ दिन का प्रयोग है। मैं बाहर कितनी समता रखूँगा? प्रतिकूलता होने पर भी समता का प्रयोग अन्तर अजमाईश कितनी कर सकता हूँ, इस प्रकार हमेशा वह सामायिक में आत्मा की समता कितनी बनाये रखे, उसका प्रयोग करे। समझ में आया? दुनिया लुटती जाती हो, उस समय सामायिक में बैठा (होवे तो) विकल्प नहीं, विचार नहीं। मेरा कुछ नहीं, मेरा जाता नहीं। होवे, वह मेरा मेरे पास है। बाहर है, वह मेरा नहीं है। मेरा कुछ लुटता नहीं है। मेरा कोई ले नहीं जाता। कहो, भीखाभाई! यह सच्ची सामायिक की बात चलती है, हों! ऐसे तो खोटी कितनी की होगी। ....भाई!

'परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्' कहो, समझ में आया? **इसी का नाम सामायिक व्रत है।** ९वीं।

गाथा ९

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः।
श्रावकेन ततः साक्षात्याज्यं व्यसनसप्तकम्।।९।।

अर्थ : जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।।९ ।।

गाथा - ९ पर प्रवचन

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः।
श्रावकेन ततः साक्षात्याज्यं व्यसनसप्तकम्।।९।।

अहो ! धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि श्रावक, **जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन है।** उसे-श्रावक को सामायिक यथार्थ नहीं हो सकती। जिसका मन-चित्त व्यसनों में मलिन है, उसकी सामायिक शान्ति की हो नहीं सकती। **उनके कदापि सामायिक व्रत नहीं हो सकता।** कहो, समझ में आया? व्यसनों का नाम बाद में कहेंगे। **'श्रावकेन ततः साक्षात्याज्यं'** साक्षात् का अर्थ किया है सर्वथा। साक्षात् अर्थात् सर्वथा। सात व्यसन का त्याग श्रावक को तो हमेशा होता है। श्रावक नाम धरावे (और) परस्त्री का लम्पटी हो, माँसादि खावे और श्रावक नाम धरावे, ऐसा नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? **'श्रावकेन ततः' 'ततः'** अर्थात् इस कारण से। क्योंकि व्यसन मन मलिन रहा करता है। इस कारण से श्रावक को साक्षात्, साक्षात् अर्थात् सब सात व्यसन सर्वथा छोड़ देना चाहिए। **'सप्तकम्'** उनके नाम।

गाथा १०

द्युतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना:।
महापापनि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुध:।।१०।।

अर्थ : जुआ, माँस, मद्य, वैश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री — ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप है, इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे इनका सर्वथा त्याग कर देवें ॥१० ॥

गाथा - १० पर प्रवचन

द्युतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना:।
महापापनि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुध:।।१०।।

देखो! **'त्यजेद् बुध:'** **'बुध:'** शब्द पड़ा है न? ज्ञानी को-आत्मा के स्वभाव के साधक को, जिसे आत्मा का शान्त अविकारी धर्म साधना है, ऐसे धर्मी को जुआ छोड़ देना चाहिए। कहो, समझ में आया? अभी तो बड़ा जुआ चलता है, बड़ा काला बाजार और... कितनी चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... लाख-दो लाख जायेंगे, पाँच लाख जायेंगे। क्या होगा? समझ में आया?

एक बार तो वहाँ मुम्बई हम बड़ा माल लेने गये थे। वहाँ एक जगह उतरे थे। कल कहे इसे तीन हजार मिले और आज स्त्री का घाघरा और अच्छी साड़ियाँ लेकर बेचने ले गये हैं। नुकसान हुआ था। जिसके घर में उतरे थे, वहाँ ही बात थी। यह तो ६६-६७ की बात है। संवत् १९६६-६७। कल बहुत पैसे पैदा किये थे। आज नुकसान हुआ। अच्छी साड़ियाँ और लाये होंगे दो-चार दिन पहले लाये होंगे, तो आज सब अच्छी साड़ियाँ (बेचने निकले)। साडला समझते हो? साड़ी-साड़ी। यहाँ तो गुजराती भाषा है न? साड़ी और अच्छे घाघरा बढ़िया-बढ़िया लाये होंगे, हजार-हजार, दो-दो हजार के। सब बेचने गया है। स्त्री से लेकर (बेचने गया) नुकसान हुआ था। यह चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... सट्टा, बड़ा सट्टा करे न? सट्टा करते हैं न? अभी तो बहुत

काला बाजार अभी चलता है। जुगता, जुगटूं, जुगटूं, जुआ। यहाँ हमारे जुगटूं कहते हैं। तुम्हारे जुआ (कहते हैं)। जुआ छोड़ देना। यह जुआ बड़ा व्यसन है। व्यसन का अर्थ ही पीड़ा होती है। समझ में आया? श्रावक को ऐसा व्यसन नहीं हो सकता।

माँस... व्यसन का अर्थ ही पीड़ा होता है। व्यसन का अर्थ ही पीड़ा होता है। जुआ का व्यसन अर्थात् पीड़ा। छोड़ दे। वह श्रावक को नहीं हो सकता। श्रावक को माँस नहीं होता। कहो, यह प्रश्न एक बार ७७ में उठा था, संवत् १९७७। समकिती को माँस होता है। समझ में आता है न? यह श्रेणिक राजा को ऐसा अमुक-अमुक था। अरे! माँस नहीं होता है। श्रावक हुआ हो, उसे माँस का खुराक नहीं होती। जिसमें माँस का अतिचार लगता हो, वह चीज़ भी छोड़ दे। समझ में आया? जिसमें जीवांत पड़ी हो, यह लट पड़े, बहुत दिनों का आटा, अचार, सब सड़ा हुआ हो न बहुत, उसमें लटें होती हैं। ऐसा आहार श्रावक को नहीं हो सकता। सम्यक् भानसहित के आचरण में... माँस का त्याग होता है।

उसे **मद्य...** मद्य—शराब। शराब का त्याग होता है। बोतल-बोतल पीते हैं न? अभी तो कितने ही बनिये पीते हैं आजकल। अच्छी महँगी शराब पीते हैं। ७५-७५ रुपये की पाव सेर होती है। ७५ रुपये का नो टांक आता है। बड़ा महँगा शराब। अधिक नशा रहे। आता है या नहीं? हीराभाई! ऐसा सुना है। अपने कहाँ देखा है।

मुमुक्षु : .... बहुत ऊँचे विचार आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में विचार आते नहीं। वह एक बार रामजीभाई कहते थे। मूर्ख है। ऐसा कहे कि शराब पीवे तो ऊँचे-ऊँचे विचार आवे। मूढ़ जैसा हो जाए। कुछ (भान) रहे नहीं, ऐसा। ....

मद्य... शराब नहीं होती। समझ में आया? शराब का त्याग होता है। वास्तव में तो मधु का भी त्याग होता है। मधु का महान पाप है। एक मधु की बिन्दु में सात गाँव मारे, इतना पाप शास्त्र में गिना है। समझ में आया? मधु (शहद) भी नहीं हो सकता। महापाप है। गिनती नहीं होती। मधु को क्या कहा जाता है यह? इत्र-इत्र। इत्र—सड़ा अकेला सड़ा। लटें पड़ गयी हों। करते हैं न एक वस्त्र में डालकर। ताराचन्दजी! ऐसा

भोग उसका श्रावक को हो नहीं सकता। यह तो बापू! उसे धर्म के मार्ग में बैठना है। धर्म की कोई... नहीं हो सकते। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। इत्र का महापाप है। एक बिन्दु में सात गाँव मारे उतना पाप है। इत्र में।

मुमुक्षु : मधु कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मधु में और इत्र में। मैं तो कहता हूँ। मधु में भी सही और इत्र में भी इतना पाप है। भले यह लिखा नहीं है, परन्तु इत्र में महापाप है। बहुत सड़ा। सड़ा वह सड़ा अकेला। सडो समझते हो? सड़ा हुआ। सड़े हुए को तुम्हारी भाषा में क्या कहते हैं? बहुत सड़ा हुआ। लटें, जीवांत ही हों अन्दर। ऐसा तो श्रावक को हो नहीं सकता। समझ में आया?

वैश्या... वैश्या नहीं होती। धर्मी जीव को... अमुक बहुत तक रखे, उसकी दिक्कत नहीं, ऐसा सब अर्थ में आता है। अरे! चल। ऐसा वह... हमारे बहुत था। उसमें भी आता है। ऐसा नहीं होता। श्रावक को पर वैश्या, उसका आचरण, संग नहीं हो सकता। **शिकार...** समकिती शिकार करते थे पहले, ऐसी उल्टी-सीधी गप्प मारते हैं। राजा थे, शिकार करते और ऐसा करते और वैसा करते। अरे! धर्मी को शिकार नहीं होता। वह हिरण आदि के प्राण ले, ऐसा शिकार समकिती को नहीं होता।

बड़ी **चोरी...** डाका डालना और यह सब करना, देखो न! अन्दर में उथल-पुथल कर डालना। धन्धा कुछ किया और सवाया बताते हैं कुछ। समझ में आया? ऐसा धन्धा श्रावक को होता नहीं। बखार बदल डाले। शाम को बढ़िया गेहूँ बतावे, रात्रि में बदल डाले। सवेरे देखो तो आहाहा! अरे... परन्तु यह! यह बताये थे। अरे! परन्तु क्या यह सब चीज़! क्या बोले? उस बनिये को, श्रावक को ऐसा नहीं हो सकता। उसके आचरण में सुधार न हो तो श्रद्धा-ज्ञान भी सच्चे नहीं हैं। समझ में आया? उसकी भूमिका प्रमाण का आचरण न हो और उल्टे परिणाम हो जाएँ तो उसकी श्रद्धा भी पलट जाएगी। चोरी नहीं होती। **परस्त्री...** नहीं होती। श्रावक को परस्त्री का त्याग होता है। समझ में आया?

ये सात व्यसन संसार में महान पाप हैं। है न पाठ में ? महापाप, प्रबल पाप है। महापाप। ऐसे पाप के परिणाम श्रावक को नहीं होते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, वहाँ भूमिका में पंचम गुणस्थान के योग्य ऐसे पाप के परिणाम उसे नहीं हो सकते। समझ में आया ? उसका नीति का जीवन भी बहुत अलग प्रकार का होता है।

मुमुक्षु : पंचम गुणस्थान की बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम गुणस्थान की बात चलती है।

मुमुक्षु : चौथे की नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे में नहीं। अभी पंचम चलता है। चौथे (वाले) को भी माँस-शराब नहीं होता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सब ऐसा ही होता है। चौथे में क्या है ? यह तो पंचम गुणस्थान की बात चलती है। परन्तु ठीक पूछा। चौथे में तो दिक्कत नहीं है न ! उसे नहीं होता, शिकार-बिकार नहीं होता, माँस नहीं होता, शराब नहीं होती, मद्य नहीं होता। ऐसा उसे नहीं हो सकता। अब देखो ! आचरण अपने तीन वर्ष पहले लिया था। (संवत्) २०१७ के वर्ष। समझ में आया ? श्रावक को, सच्चे श्रावक को इस प्रकार से सात व्यसन का त्याग ही होता है। समझ में आया ?

इसलिए विद्वानों को... है न ? **'बुधः'** शब्द। ज्ञानी को-धर्मात्मा को सच्ची समझ (जिसे हुई है ऐसे) विवेकीजन को ऐसे सात व्यसन नहीं होते। देखो ! **'बुधः'** है। **इनका सर्वथा त्याग कर दे।** लो, समझ में आया ? सर्वथा त्याग करना। दस गाथा हुई। ११वीं।

गाथा ११

धर्मार्थिनो ऽपि लोकस्य चेस्ति व्यसनाश्रय:।
जायते न तत: सापि धर्मान्वेषणयोग्यता।।११।।

अर्थ : जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है, यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए॥११॥

गाथा - ११ पर प्रवचन

धर्मार्थिनो ऽपि लोकस्य चेस्ति व्यसनाश्रय:।
जायते न तत: सापि धर्मान्वेषणयोग्यता।।११।।

जो कोई पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है। **यदि उसको यह व्यसन होवे तो इस पुरुष को धर्म-ध्यान करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती। 'धर्मान्वेषणयोग्यता'** धर्म को शोधने की कि यह धर्म है। वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान क्या है, उसे शोधने की योग्यता उसके नहीं हो सकती। सात व्यसन के महापाप में उसकी बुद्धि वहाँ रुकी हो, सत् को शोधने के लिये उसका मस्तिष्क काम करता ही नहीं। देखा! **'धर्मान्वेषणयोग्यता'** धर्म की अन्वेषणता—शोधना—परीक्षा करना। समझ में आया? धर्म के पैसे माँस खाये, शराब पीवे, शिकार करे, परस्त्री (भोगे) और फिर धर्म की परीक्षा करने बैठे। यह धर्म उसे नहीं हो सकता। तीव्र अनन्तानुबन्धी के राग की अन्दर में जिसे ऐसी परिणति हो, वह धर्म की शोध और विचारना और यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया? यह नहीं कहते? लो, यह भगवान के शास्त्र नहीं हैं। अमुक ऐसे हों, अमुक ऐसा हो। और एक व्यक्ति आया था, यह क्या है कहा? परीक्षा किसने की यह? तुम भव्य हो या अभव्य? ऐसा मैंने पूछा। वह ऐसा कहे, यह वाणी ऐसी नहीं। कौन हो तुम? भव्य हो या अभव्य हो?

मुमुक्षु : गुरुवाणी है। भगवान की वाणी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा बोला था। समझे न? तीन साधु नाम धराकर आये फिर (कहे), यह वाणी ऐसी नहीं होती। यह समयसार के सामने देखकर। यह वाणी वीतराग की नहीं है। गुरु की वाणी, ऐसा (नहीं होता)। तुम कौन हो? कहा, भव्य हो या अभव्य? यह खबर नहीं पड़ती। भव्य और अभव्य की खबर नहीं पड़ती और वीतराग की परीक्षा करने निकला? ताराचन्दजी!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, फिर शर्मा गया, हों! पकड़ा... फिर बदलने लगा। यह तो आ गयी कहा अब। अभी भव्य-अभव्य के निर्णय का ठिकाना नहीं। अभव्य को कभी सम्यग्दर्शन नहीं होगा, भव का अभाव नहीं होगा। ऐसी तो शंका। उसे भव के अभाववाले वीतराग और उनकी वाणी की परीक्षा करना, (यह नहीं हो सकता)। धन्नालालजी! जिसकी वाणी में भव का अभाव, जिसके भाव में भव का अभाव-ऐसी वीतरागी वाणी कैसी होती है, वह भव्य का-अभव्य का अभी निर्णय का ठिकाना नहीं, शंका (रहती हो कि) अभव्य हैं या भव्य, यह अपने को खबर नहीं पड़ती। अभव्य तो अनन्त पुद्गल परावर्तन चलते हैं, उसमें अनन्त काल में भटकता है। अनन्त काल में भटकता है, ऐसी अभी तो तुमको शंका है। यह होगा या नहीं? यह भवरहित की वीतराग वाणी जिसमें भव नहीं, उस वाणी की परीक्षा अभव्य की शंका हो, वह कर सकेगा? समझ में आया? फिर शर्मा गया।

पश्चात् दूसरी जगह वापस मिले थे दूसरे गाँव में। अपने चर्चा की थी उनके साथ में। दूसरे जाकर कहे। उनके साथ रहने दो। उन्होंने तो मुझे पकड़ा था न! उनके साथ चर्चा करनेयोग्य नहीं है। ऐसा कहे। अभी तुमको भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं होता और इस निर्णय के बिना वीतरागी वाणी, किस सन्त की और किन भगवान की कहाँ वाणी है, इसकी परीक्षा करने निकले, वह परीक्षा नहीं हो सकती।

यहाँ कहते हैं कि धर्म की अन्वेषण की योग्यता सात व्यसन के सेवन करनेवाले को नहीं हो सकती। समझ में आया? तीव्र क्रोध और माँस, लोभ की तीव्रता में जहाँ

गति है, उसे अत्यन्त वीतराग वाणी या वीतरागी धर्म... आहाहा! एक विकल्प का राग भी जहाँ आदरणीय नहीं। होता है, ऐसा होने पर भी आदरणीय नहीं। ऐसी दृष्टि और ऐसी वाणी की परीक्षा सात व्यसन के सेवन करनेवाले को नहीं हो सकती। समझ में आया? कितने ही यह कहते हैं कि क्रमबद्ध में आनेवाला हो, वह आता है। भोग का होवे तो आवे। अरे! मर जाएगा, सुन न! ऐसा तुझे किसने कहा? उसके क्रम में शरीर में ऐसा कि परस्त्री का भोग आनेवाला हो तो आवे, अमुक होवे तो आवे, माँस खाने का हो तो आवे। उसमें अपने को कहाँ व्यवधान है? एक व्यक्ति ऐसा कहता था। लो! साधु नाम धरानेवाला। यहाँ आया? निश्चयवाले को फिर क्या है? माँस हो, शराब हो, इसे उसमें पाप लगता ही कहाँ है? आहाहा! पढ़ा हुआ यहाँ का मोक्षमार्गप्रकाशक। पश्चात् अभिमान चढ़ा। जिसे निश्चय हो गया, उसे माँस हो, परस्त्री हो, शराब हो, उसे क्या है? मर जाएगा, कहा। ऐसे शराब और माँस के भाव नहीं होते।

जिसे धर्म का निर्णय और सच्चा निश्चय हुआ है, उसे ऐसे माँस और शराब, परस्त्री का लम्पटपना और शिकार आदि, वैश्या के ऐसे भाव नहीं हो सकते। लो, निश्चय-निश्चय। क्या निश्चय? निश्चय में फिर क्या बाधक है? ऐसा कहे। परद्रव्य तो कुछ बाधक नहीं है। अरे! सुन न! कौन कहता है परद्रव्य बाधक है, परन्तु ऐसे भाव करता है परस्त्री के, वैश्या के, लम्पटपने के पूरे और वह धर्म की परीक्षा तथा योग्यता प्रगट नहीं कर सकता। आचार्य इनकार करते हैं। ताराचन्दजी!

जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है, अगर उसके भी यह व्यसन होवे... आश्रय है न? **'चेस्ति व्यसनाश्रयः'** ऐसा। वह व्यसन का आश्रय करता है अर्थात् व्यसन सेवन करता है। **तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती। वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता।** कहो, समझ में आया? जिसकी आँख में-ज्ञान में तीव्रता ऐसे पाप पड़े हैं, वह धर्म की परीक्षा करने के योग्य नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए। देखो! इस भूमिका प्रमाण उसका ऐसा भाव होता ही नहीं। बहुत से आक्षेप करते हैं, लो। तुम्हारे लोग ऐसा बोलते हैं निश्चय और क्रमबद्धवाले। हमारे पाप-बाप पश्चात्

क्या है। क्रम में ऐसा होनेवाला था। अरे! यह माननेवाला क्रम को समझता नहीं। मूढ़। जो क्रमबद्ध मानता है, उसे तो आत्मा का अकर्तापना प्रसिद्ध होता है। समझ में आया? क्रमबद्ध जाने, उसे तो अकर्तापना प्रसिद्ध होता है। अकर्तापना प्रसिद्ध हो, उसे सम्यग्दर्शन होता है। उसे ऐसे तीव्र परिणाम नहीं हो सकते। वह तो शरीर की क्रिया है, अमुक है। शरीर की क्रिया कौन इनकार करता है? परन्तु तेरे भाव किसके हैं यह? समझ में आया? परस्त्री का सेवन, वैश्या का सेवन, माँस के खाने के भाव, भाव किसके हैं? भाव तेरे हैं या नहीं? ऐसे भाव जहाँ हों, वहाँ धर्म की परीक्षा करनेयोग्य वह है नहीं। यह क्रमबद्ध और अकर्तापना उसे बिल्कुल समझ में नहीं आता। समझ में आया?

एक लड़का एक व्यक्ति को ऐसे मारता था। वह कहे, मारने की क्रिया जड़ की है। मैं कहाँ करता हूँ? यह दुरुपयोग। ठीक! अरे! भाई! यह तू क्या करता है? तेरी दृष्टि दूसरे को मारने का भाव है, क्रिया तो जड़ की है। वह तो जड़ मारता है तुझे। मैं कहाँ मारता हूँ? आत्मा (नहीं मारता), महाराज इनकार करते थे। भाई! जड़ की क्रिया जड़ में और चैतन्य की चैतन्य में, (ऐसा निर्णय होता है), उसकी तो अनन्तानुबन्धी की कषाय नाश हो जाती है। दोनों की क्रिया भिन्न है, मेरे कारण से नहीं। अनन्त परमाणु उनके कारण से परिणमते हैं, मेरे कारण से नहीं। आहाहा! वहाँ पर का अभिमान कर्तापने का उड़कर अनन्तानुबन्धी का नाश होता है, वहाँ ऐसे परिणाम नहीं हो सकते। कहो, समझ में आया इसमें? **व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए।** लो, ११ हुई। १२वीं।

गाथा १२

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम्।
आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसनं स्वसमृद्धये।।१२।।

अर्थ : आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं; उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये मनुष्यों को खींचकर नरक में ले जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियत किया है॥१२॥

गाथा - १२ पर प्रवचन

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम्।
आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसनं स्वसमृद्धये।।१२।।

आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं। सात व्यसन। **वैसे नरक भी सात हैं।** नीचे सात नरक हैं। नीचे सात नरक, पाताल में नीचे सात नरक हैं। **इसलिए ऐसा मालूम होता है...** देखो! ऐसा अनुमान हमें होता है—ऐसा आचार्य कहते हैं। **कि उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये... 'स्वसमृद्धये।'** सात नरक की समृद्धि (के लिये) लोग इकट्ठे हों, मरकर यहाँ आवे। व्यसन के सेवन करनेवाले यहाँ आवे, इसलिए सात नरक यहाँ किये हैं। भीखाभाई! सात नरक हैं अनादि के, हों! कल्पना नहीं है।

नीचे नरक है। पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ। जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति में यह राजा, महाराजा साधारण पाप करे तो वहाँ जानेवाले हैं। बड़े पाप करे तो एक सागर की स्थिति पहले नरक में है। एक सागरोपम। असंख्यात अरब वर्ष का एक पल्योपम, उसके दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसी एक सागर की स्थिति पहले नरक में। वस्तु है, हों! उग्र परिणाम तीव्र पाप के किये हों, उसे फल भोगने का स्थान यहाँ नहीं है। उसका फल भोगने का स्थान वहाँ नरक योनि में है। समझ में आया?

इसीलिए कहते हैं, मैं तो ऐसा जानता हूँ **कि नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये मनुष्यों का स्थितकर...** आकर्षण है न? **'न्नृणामेतद्व' नरक में ले जाने के लिये एक-एक व्यसन को नियत किया है।** सात नरक सात व्यसन के लिये हैं। सात के सात मिलान खाता है न सात का? समझ में आया? महान पाप करे, वह तो नरक मे ही जाता है। महाआरम्भ, महापरिग्रह। मछलियाँ खाये, शराब पीवे... आहाहा! मुम्बई में तो देखो न, समुद्र में दिशा को जाते हुए... क्या कहलाता है उसे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...सामने तो बड़ी मछलियाँ इतनी-इतनी मारकर। मैंने कहा, लौकी जैसा लगता है, अन्धकार था। तब कहे, मछलियाँ गन्ध मारती हैं। कितने ढ़ेर सामने। आहाहा! बेचारा साधारण मनुष्य मरकर नरक जाएगा। उसे कोई बँगला नहीं होता उसके घर में। दो-चार-पाँच कमाते हों और इतना तो खर्च हो। पाँच-पाँच तो ड़ेढ़ सौ दौ सौ रुपये कमातें और घर में आठ मनुष्य हों। अभी की महँगाई। वह वस्त्र भी अच्छा नहीं हो। मरकर ऐसे व्यर्थ के थोड़े काल के लिये मरकर नरक पायेगा।

ऐसा कहते हैं कि कोई भी मनुष्य सात व्यसन सेवन करे तो कुदरत ने जो सात नरक किये हैं तो इन सात व्यसन के फल सात नरक में जाने के लिये रखे हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा! देखो! इसलिए श्रावक को सात व्यसन नहीं होते, ऐसा सिद्ध करना है। उसका जीवन गृहस्थाश्रम भले हो, अरबोंपति हो, परन्तु उसे ऐसे व्यसन नहीं हो सकते। पुण्य के प्रमाण में संयोग हो, सम्पत्ति हो परन्तु उसके भाव श्रावक को ऐसे तीव्र नहीं हो सकते। कहो, समझ में आया?

गाथा १३

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह।
सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम्।।१३।।

अर्थ : और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग जिसके, ऐसा बलवान राज्य है॥१३॥

गाथा - १३ पर प्रवचन

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह।
सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम्।।१३।।

और भी आचार्य कहते हैं, धर्मरूपी वैरी के नाश के लिये...

मुमुक्षु : पाप का वैरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह पाप का वैरी है। **धर्मरूपी शत्रु को जीतता है।** समझ में आया?

जैसे राजा सप्तांग सेना से शत्रु को जीतता है, वैसे धर्मरूपी शत्रु को जीतता है। कौन? पाप। पाप है, वह धर्म का शत्रु है न? **जैसे धर्मरूपी वैरी के नाश के लिये पाप नामक दुष्ट राजा...** यह पाप नाम का दुष्ट राजा। यह पाप धर्म का शत्रु है। उस धर्म को जीतने के लिये पाप है। **दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात अंग है जिसके।** है न **'सप्ताङ्गं'।** राजा के पास सात अंग होते हैं। दूसरे शत्रु को जीतने के लिये राजा के पास सात अंग होते हैं। इसके बिना दूसरे वैरी को, शत्रु को नहीं जीत सकता। राजा स्वयं है, दूसरा मन्त्री साथ में होता है। उसमें है, भाई! उस शब्द में है। उसमें है, उसमें होगा। सात नाम हैं। तेरहवीं गाथा में नाम हैं।

एक राजा स्वयं हो। शत्रु को जीतने के लिये जाता स्वयं भी साथ हो, मन्त्री हो— दीवान। विचारना करने के लिये कि क्या करना इस शत्रु का। मन्त्री होता है। तीसरा मित्र होता है। उसके अच्छे मित्र की क्या करने अपने को शत्रु को जीतने के लिये। खजाना होता है। लश्कर को निभाने के लिये पैसा न हो तो किस प्रकार से शत्रु को जीते। समझ में आया? राजा के पास सात अंग शत्रु को जीतने के होते हैं। इसी प्रकार पाप के पास सात व्यसन, वे धर्म के शत्रु हैं। सात व्यसन धर्म को जीतते हैं। ताराचन्दजी! आहाहा! समझ में आया?

खजाना। खजाना न हो तो क्या करे? नहीं आता था उसमें? चित्तौड़ का आता है न कहीं? कौन भामाशाह। खजाना नहीं होता। भामाशाह (पास) जाकर (कहते हैं), अन्नदाता! इतने पैसे, इतने रुपये हैं। जाते हैं घोड़े से, ऐसे देखते हैं। ऐ! भामाशाह आता है। खड़े रहे... खड़े रहे... राजा। स्वयं चल निकला देश में से कि इस देश में हम नहीं रह सकेंगे। पैसा नहीं है। शत्रुओं का जोर बढ़ गया है। हमारे साधन-लश्कर का क्या? उसमें वह भामाशाह आता है। अन्नदाता पैसे आपके... बारह वर्ष तक सेना को निभाओ तो कम पड़े ऐसा नहीं है। राजा नीचे उतर गया, हों! एकदम। भामाशाह। अन्नदाता पैसे

देता हूँ। खजाना बारह वर्ष सेना को रखे तो कम पड़े ऐसा नहीं है। खजाने के बिना क्या करे ? बड़ा शूरवीर हो। लो, समझ में आया ?

इसी प्रकार **देश**... अपना देश चाहिए न कुछ रहने के लिये। रहने का स्थान अपने को देश न हो तो शत्रु को जीते किस प्रकार ? और **दुर्ग**... किला... किला होता है। किला के बिना शत्रु को जीतना किस प्रकार ? और सेना होती है। सप्त अंग हुए। **'सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं'** राजा को सात अंग होवे तो अपने शत्रु को जीतकर स्वयं अपना रक्षण कर सके। इसी प्रकार पाप शत्रुओं के पास सात अंग व्यसन के हैं। पापरूपी राजा, उसके पास सात (व्यसन हैं)। उसके साथ, इस राजा के अंग, इसके पास सात व्यसन। पापरूपी राजा के पास सात व्यसन हैं कि धर्म को जीतकर धर्म की हार करा दे। जमुभाई ! एक ओर सात व्यसन, एक ओर सात नरक, एक ओर राजा के सात अंग। राजा के सात अंग। इसलिए पाप के भाव के पास इन सात व्यसनों के अंग हैं। ये सच्चे आत्मधर्म को घात कर डालते हैं। कहो, समझ में आया ?

धर्मरूपी वैरी के नाश के लिये पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह पाप है। उस पापी ने सात व्यसन रखे हैं, कहते हैं। ऐसा बलवान राजा पाप का है। ऐसे भाव श्रावक को, धर्मी को नहीं हो सकते। समझ में आया ? देखो ! ऐसा आचरण ऐसा-ऐसा श्रावक को नहीं होता। यह कहते हैं न बहुत ? यह युवक ऐसा खाते हैं, अमुक खाते हैं, अमुक खाते हैं। भाई ! इसकी सच्ची श्रद्धा यदि धर्म की करे तो उस धर्म की सच्ची श्रद्धावाले को ऐसे भाव नहीं होते। उसे विश्वास नहीं है। आत्मा का, परलोक का, देव का, गुरु का, शास्त्र क्या है, इसका अन्तर में विश्वास नहीं है। जहाँ-तहाँ बेचारे युवक भटका करते हैं और फिर माँस खाये, शराब पीवे... कुछ नहीं। इसलिए उन्हें पहले धर्म की कीमत कराओ। समझ में आया ? ऐसा चाहिए। धर्म की कीमत होने पर सहज में वे पाप के परिणाम घट जायेंगे। ऐसे सीधे व्यसन छोड़ो... छोड़ो तो उन्हें समझ में नहीं आयेगा (कि) यह क्या कहते हैं ? वहाँ जाकर ऐसा कहेंगे, लो, छोड़ो। ....नहीं जाना। परन्तु उन्हें धर्म की समझ कराना चाहिए।

बापू ! आत्मा में आनन्द है, भाई ! अनन्त-अनन्त आनन्द भरा है। सर्वज्ञ का व्यापार महापूर्ण हो गया। उन्होंने कहा कि तुझे शान्ति चाहिए हो तो आत्मा में है। उस आत्मा

की शान्ति की जिसे महत्ता, श्रद्धा होती है, उसे ऐसे पाप के परिणाम सहज घट जाते हैं। ऐसे परिणाम उसे नहीं हो सकते। कहो, समझ में आया इसमें?

इस प्रकार राजा सप्तांग सेना से शत्रु का विजय करता है, उसी प्रकार पापरूपी राजा सप्त व्यसनों की सप्तांग सेना से धर्मरूपी शत्रु को जीतता है। इसलिए (जो) पुरुष धर्म की रक्षा करना चाहते हैं, उनको इन सात व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। अब छह आवश्यक के वर्णन का विस्तार कहते हैं। छह है न आवश्यक? आवश्यक क्या? अवश्य करनेयोग्य देव की पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान, इन छह का विस्तार अब करते हैं।

आचार्य छह आवश्यकों की महिमा का वर्णन करते हैं। ओहोहो! निश्चय आवश्यक का जहाँ वर्णन आवे, वहाँ तो शुभभाव भी आवश्यक नहीं है। वह तो पराधीन दशा है, परन्तु आये बिना (रहते नहीं)। भूमिका प्रमाण पाँचवें और छठवें गुणस्थानवाले को आये बिना रहते ही नहीं। नियमसार में कहते हैं? अशुभभाव तो आवश्यक है नहीं, परवशता है; परन्तु शुभभाव भी आवश्यक नहीं है। निश्चय आवश्यक नहीं है। आहाहा! सामायिक और चौबीसंथो, वन्दना और प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, आते हैं न छह? सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग—यह छह आवश्यक शुभभाव के, नियमसार में कहते हैं, मोक्षमार्ग में इतना भी परवशपना है, हों! उसे वास्तविक आवश्यक नहीं हो सकते। निश्चय आवश्यक तो अवश्य अपने स्वभाव में आधीन हो जाए। पर के आधीन न हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव। वह श्रद्धा, ज्ञान और लीनता, वह वास्तव में तो आत्मा का आवश्यक है। उसका भान होने पर भी समकिती, श्रावक को ऐसे छह आवश्यक शुभभाव आये बिना नहीं रहते। समझ में आया?

निश्चय की पद्धति की जो वस्तु हो, वह तो अकेले स्व आश्रय को आवश्यक कहती है। व्यवहार की पद्धति का कथन हो, वहाँ पर के आश्रय को भी व्यवहार से आवश्यक कहने में आता है। अवश्य इसे करना चाहिए। श्रावक को देव पूजा अवश्य करना चाहिए। यह उसका आवश्यक कर्म है। समझ में आया।

गाथा १४

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।१४।।

अर्थ : जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् सर्व लोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है॥१४॥

गाथा – १४ पर प्रवचन

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।१४।।

लो! **जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं...** भक्तिपूर्वक देखते हैं। ऐसे बेगारीपूर्वक नहीं। चलो, माँ–बाप ने कहा है, जाओ वहाँ, देवदर्शन कर आओ। जय महाराज! कर आये? कहे, हाँ। समझ में आया? अपनी दृष्टि निर्मल है इसलिए वीतराग के प्रति प्रतिमा, मूर्ति, मन्दिर का भक्ति का भाव हुए बिना रहता नहीं। उसे समझता है कि यह शुभभाव है, पुण्यभाव है, परन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता; इसलिए ऐसा भाव प्रतिदिन आवश्यकरूप से आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

उनकी पूजा, स्तुति करते हैं... भगवान की। **वह भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय...** भगवान के दर्शन करनेवाला आत्मा के दर्शन की दृष्टि की भूमिकासहित, वह भविष्य में दुनिया उसके दर्शन करेगी, ऐसा होगा। ऐसा कहते हैं न? देखो न! **तीनों लोक में दर्शनीय...** वह परमात्मा होगा। व्यवहार से भी बात है न? विकल्प को व्यवहार गिनकर। निश्चय से होता है, उसमें निमित्त का आरोप करके उससे भी—भगवान के दर्शन से, दूसरों को दर्शन करनेयोग्य स्वयं हो जाएगा। विशेष बात करेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १४, शनिवार, दिनांक - ०५-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - १४ से २२, प्रवचन-१३

पद्मनन्दि पंचविंशति नाम का शास्त्र है। जो लगभग ९०० वर्ष पहले भावलिंगी मुनि-सन्त पद्मनन्दि आचार्य जंगल में बसते थे, उन्होंने जगत के हित के लिये करुणाबुद्धि से छब्बीस अधिकार किये हैं। उसमें यह एक छठवाँ अधिकार श्रावक का संस्कार का है। श्रावक जो है, उसे उपासक कहा जाता है। धर्म का सेवन करनेवाला अथवा साधु का सेवन करनेवाला, उसके संस्कार की बात इसमें आयी है न? श्रमणोपासक नहीं आता? श्रमण अर्थात् साधु, उसका उपासक अर्थात् सेवा करनेवाला। उसके नाम से पहिचाना जाए, ऐसे श्रावक के संस्कार कैसे होते हैं और उसे क्या करना चाहिए और उसका कर्तव्य क्या है, इसका वर्णन आचार्य महाराज ने किया है।

अपने १३ गाथा हो गयी है। १४वीं चलती है थोड़ी। छह आवश्यक—कर्तव्य श्रावक को होते हैं। पहले तो आत्मा का सम्यग्दर्शन पहले प्रगट करना, यह पहला उपाय है। पंचम गुणस्थान की बात है या नहीं? आत्मा पुण्य-पाप और पर से अत्यन्त भिन्न अकेला ज्ञायक चैतन्य पूर्ण आनन्दघन निधान, ऐसा आत्मा ज्ञातादृष्टा का अन्तरभान करना, पश्चात् विकल्प आदि, रागादि आवे और निमित्त की क्रिया हो, उसका भी वह ज्ञाता और दृष्टा है। ऐसे भान की भूमिका में आगे बढ़ा हुआ, सम्यग्दर्शन उपरान्त जिसे श्रावकपना अर्थात् अन्तर में शान्ति का विशेष वेदन हुआ है, चौथे गुणस्थान से अधिक। उसे ऐसे छह आवश्यक दिन-प्रतिदिन होते हैं, ऐसा यहाँ आचार्य महाराज वर्णन करते हैं। देखो! **छह आवश्यकों की महिमा का वर्णन करते हैं।**

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।१४।।

जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं... भगवान न हों, तो भगवान की प्रतिमा के दर्शन दिन-प्रतिदिन करते हैं। यह श्रावक का दिन-प्रतिदिन का कर्तव्य है। जैसे स्मरण करे भगवान का, सामायिक करे-शुभभावरूप, स्वरूप की स्थिरता सहित, वैसे यह भी एक शुभभाव हमेशा भगवान की प्रतिमा के देवदर्शन सदा करे।

दिन-प्रतिदिन आ गया है पहले। सातवीं गाथा में, **'षट्कर्माणि दिने दिने'** नरभेरामभाई! यह कल उसमें आया था। खोपकाडन है न उसमें? कहो, समझ में आया उसमें?

कोई कहता है कि भाई! यह तो पंचम गुणस्थान की बात है। परन्तु पहले श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को भी भगवान के दर्शन और भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता। संसार में कैसे आता है? स्त्री-पुत्र का मुँह देखे जल्दी सवेरे, तब इसे सन्तोष होता है। ठीक-ठाक उठे हैं। सो रहे थे, वे ठीक-ठाक उठे थे। ऐसा होता है या नहीं? भाई! हमारे यहाँ रिवाज (था), वे लोटियावोरा रहते हैं, वहाँ हमारे पालेज में। भाई! बाबूभाई! वहाँ वे नहीं? मजमूदीन नरूदीन और... वे सामने? वे सब लड़के सवेरे उठकर एक-दूसरे के सम्बन्धी हों, वहाँ काका-भाई के यहाँ जाए। ऐसा कि हम ठीक-ठाक उठे हैं तो पैर छुए। दर्शन करे, हों! माता-पिता के इसका अर्थ कि हम निरोग से सोये थे और निरोगी उठे हैं। शोभालालभाई!

मुमुक्षु : आप फिक्र नहीं करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिक्र नहीं। वहाँ हमारे नजदीक ही, दुकान के नजदीक ही वहाँ चलता था। वे लोग आवें, पैर छुएँ, हाथ चुम्बन करें। उनका पिता हो, उनका काका हो वह...

इसी प्रकार जिसे दुनिया के कुटुम्ब के दर्शन और कुशलता है या नहीं, ऐसा भाव होता है—इसी प्रकार भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने का श्रावक को-समकिती को यह दिन-प्रतिदिन दर्शन, पूजा का भाव हुए बिना नहीं रहता। यह अनादि का मार्ग है। नरभेरामभाई! कहाँ गये जगजीवनभाई? जगजीवनभाई हैं या नहीं?

जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं और उनकी पूजा-स्तुति करते हैं। है न? **'पूजयन्ति स्तुवन्ति'** महामुनि जंगल में रहनेवाले थे ९०० वर्ष पहले। उन्होंने धर्मात्मा गृहस्थ में स्त्री हो, पुरुष हो, छोटे-छोटे बालक भी पहले तो धर्म प्राप्त करते थे। आठ-आठ वर्ष के बालक भी आत्मा का ज्ञान करके हमेशा देवदर्शन सदा करते थे। समझ में आया? यह तो स्वयं ठिकाना न हो, उसमें लड़के को कहाँ से कहे कि तू प्रतिदिन दर्शन करने जाना। मित्रसेनजी! अत: जो कोई **भक्तिपूर्वक देखते हैं और उनकी**

पूजा–स्तुति करते हैं, वे भव्य जीव तीनों लोक में दर्शनीय होते हैं। वह भविष्य में परमात्मा होनेवाला है। क्योंकि आत्मा के भानसहित भगवान की भक्ति की भूमिका में वह आया है। वह भविष्य में क्रम–क्रम से राग टालकर वीतराग होकर परमात्मा होगा। और वह परमात्मा जगत को दर्शन करनेयोग्य होगा। समझ में आया? यह शुभभाव है। यह है शुभभाव, हों! वापस इसमें कोई धर्म मान ले... (तो सही नहीं है)।

मुमुक्षु : मर्यादित शुभभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मर्यादित है। शुभभाव की हद है। तीव्र कषाय का नाश, मन्दकषायरूप भाव, ऐसा होता है। तीव्र कषाय संसार में स्त्री–पुत्र–परिवार–कमाने के लिये कैसे होता है? इसलिए ऐसा भाव उसे होता है।

कहते हैं, वह दुनिया को पूजनेयोग्य होगा तथा स्तुति के योग्य होगा। भविष्य में उसकी पूजा करेंगे, उसकी स्तुति करेंगे। **सर्व लोक उनको भक्ति से देखते हैं और उनकी पूजा स्तुति करते हैं।** यह चौथी गाथा में जरा भाई उसमें है, श्रावक का है न अधिकार? २१७, है न? चौथी गाथा है २१७ पृष्ठ। बाद के अधिकार में चौथा अधिकार।

आचार्य उपदेश देते हैं। देखो!

सम्प्राप्ते ऽत्र भवे कथं कथमपि द्राधीयसानेहसा
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम्।
नो चेल्लोकनिषेधतो ऽथा महतो मोहादशक्तेरथो
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम्।।४।।

क्या कहते हैं? बाद के अधिकार में है, भाई! दूसरा अधिकार, भाई! शोभालालजी! यह चौथी गाथा है। चौथी है न? इसका नीचे अर्थ है। क्या कहते हैं? **अनन्त काल के बीत जाने पर इस संसार में बड़ी कठिनता से मनुष्य जन्म मिलता है।** अनन्त–अनन्त काल व्यतीत होने से मनुष्य का जन्म एकेन्द्रिय में से निकलकर, नित्य निगोद में से निकलकर एकेन्द्रियपना, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति में से निकलकर कोई प्रत्येकपना, कोई दोइन्द्रियपना, त्रीन्द्रियपना, चौइन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना महा अनन्त काल में मिलता है। उसमें भी अनन्त काल में मनुष्य जन्म मिलना जीव को महा कठिन

है। यह पाठ में अन्दर है, हों! पहला शब्द है न यह? **'द्राधीयसानेहसा'** भाई ने पूछा था। शब्द कुछ मिलता नहीं। **'द्राधीय'** अर्थात् दीर्घ काल इसका अर्थ। **'द्राधीयसा'** है न शब्द? अनन्त काल में मनुष्य का भव प्राप्त होना मुश्किल है।

उसमें **सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर...** भगवान ने कहा हुआ आत्मा, देखा हुआ आत्मा, जाना हुआ आत्मा। ऐसे आत्मा की अन्दर में श्रद्धा और ज्ञान प्रगट करके **उत्तम पुरुषों को मोक्ष को देनेवाला तप जरूर करना चाहिए।** उसे तो मुनिपना लेना चाहिए। तप अर्थात् मुनिपना। ओहो! चारित्र जहाँ... 'कल्पवृक्ष सम संयम केरि शीतल अति शीतल ज्यां छाया, कल्पवृक्ष सम शीतल केरि अति शीतल ज्यां छाया।' संयम शान्तस्वरूप में स्थिर होकर, वीतरागी मुनि होकर चारित्र ग्रहण करना और उस प्रकार का मुनिपना अंगीकार करना, वही मनुष्यपने का सार्थक है। अनन्त काल में ऐसी देह मिली और उस समय उसे यह आवश्यक है।

यदि वह यह मुनिपना ले न सके तो लोकनिंदा से... क्या कहते हैं? पुस्तक है? नहीं। पाठ में है न उसमें भाई? **'ल्लोकनिषेधतो'** उसे ऐसा हो जाए कि यह लोग आते हैं। मैं इतना सब नग्न मुनिपना और ऐसा नहीं पाल सकता हूँ, ऐसा हूँ और **'मोहादशक्ते'** अपने में मोह की अभी इतनी असावधानी रागादि की हों, जिससे अशक्तिरूप से मुनिपना न ले सके, तो भी उसे **गृहस्थों के देव-पूजा-गुरु सेवा स्वाध्याय...** षट्कर्म शब्द पड़ा है न अन्त में? **'षट्कर्मयोग्यं'** अपने आ गया है। आठवीं गाथा में।

गृहस्थों के देव-पूजा... हमेशा भगवान परमात्मा की पूजा, उसे गुरु की सेवा, हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय, अध्ययन और किंचित् इन्द्रियगमन आदि संयम, इच्छानिरोध आदि तप और दिन-प्रतिदिन दान, यह छह बोल हैं उसमें। उसे हमेशा करना कि जिससे **व्रत को अवश्य ही करना चाहिए।** षट्कर्म का कार्य तो अवश्य करना चाहिए। कहो, समझ में आया इसमें? सवेरे की बात की अपेक्षा यह दूसरे प्रकार की बात है। पहले एक बार नहीं कहा था? सवेरे की बात ठीक, दोपहर की यह पैसे निकालना और दान की कठिन पड़ती। तुम्हें याद किया था लोगों ने। समझ में आया इसमें?

ऐसा यह कहते हैं कि यह सवेरे की बात तो वह कि आत्मा ज्ञान, दर्शन है,

पश्चात् करने का (क्या)? परन्तु उसमें तो राग और पुण्य-पाप के भाव भी मेरे नहीं, ऐसी दृष्टि करके उसमें एकाग्र होना, यह सम्यग्दर्शन का स्वभाव है। परन्तु इसकी भूमिका में वीतरागता आगे विशेष न हो, इससे उसे—सम्यग्दृष्टि को भी ऐसे भाव हमेशा देवदर्शन के आये बिना नहीं रहते। जानता है कि यह शुभभाव है। पाप से बचने के लिये है परन्तु ऐसे भाव पुण्य के नामस्मरण, भक्ति, स्तुति, यह सब शुभभाव है। भगवान... भगवान... अन्दर (करे), वह भी शुभभाव है। वह आये बिना नहीं रहता। पुण्य है; धर्म नहीं, हों! परन्तु ऐसा भाव धर्मी को पंचम गुणस्थान के योग्य आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया? देव पूजा अवश्य करनी चाहिए। फिर लम्बा कथन है, वह तो ठीक। चलो। यह १४वीं गाथा।

अब अपनी यह १५वीं गाथा चलती है।

गाथा १५

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्।।१५।।

अर्थ : किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है॥१५॥

गाथा - १५ पर प्रवचन

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्।।१५।।

देखो! आचार्य ने जंगल में रहकर करुणाबुद्धि से कहते हैं, अरे! आत्मा! **जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से नहीं देखते।** भक्ति से, हों! बेगार से नहीं। जाओ, चलो भगवान के... जाओ। नेमिदासभाई! भक्ति। ओहो! तीन लोक के नाथ परमात्मा

वर्तमान में विराजते नहीं, तो उनकी प्रतिकृति ऐसी प्रतिमा भगवान की विराजती है तो स्थापनानिक्षेपरूप से वहाँ भगवानरूप से उसे देखे। जिनप्रतिमा जिनसारखी। समझ में आया ? ऐसा अनादि का विचार। सिद्धान्त में सर्वज्ञ परमात्मा से यह भाव चला आता है।

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की भक्ति नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा-स्तुति करते हैं। भक्तिपूर्वक! बेगार से सबके साथ चले बैठ जाएँ थोड़ी देर। उसमें बदाई जाए अर्थात् क्या कि हम भी हमेशा पूजन करते हैं। वस्त्र-फस्त्र... बदलकर बैठ जाए पूजा करने। ऐसा नहीं। भक्तिपूर्वक जो उनकी पूजा या स्तुति नहीं करता, उस मनुष्य का जीवन संसार में निष्फल है। समझ में आया ?

एक व्यक्ति ने मानो पूरी मूर्ति उत्थापित कर डाली। भगवान की अनादि से चलती आयी (ऐसी परम्परा)। इस दूसरे में उसे उसमें पुण्य के बदले धर्म बता दिया। उसमें धर्म है। ऐसा नहीं। भक्ति में शुभभाव पाप से बचने के लिये भाव (आता है)। जैसे नामस्मरण शास्त्र स्वाध्याय में शुभभाव आता है, वैसा भाव आये बिना नहीं रहता। देवीलालजी! यह मानो कि ऐसे भगवान के दर्शन किये, अब अपने को हो गया धर्म। धर्म तो रागरहित आत्मा की चीज़ है, उसकी दृष्टि और अनुभव में स्थिरता करना, उसका नाम धर्म है। ऐसे धर्मी जीव के ऐसी भक्ति आदि के भाव को व्यवहारधर्म कहने में आता है। व्यवहारधर्म। अर्थात् परमार्थ से धर्म नहीं परन्तु पुण्य है। ऐसे भाव नहीं करता, भक्ति से पूजता नहीं, यह **'निष्फलं जीवितं तेषां'** उसका जीवत्व इस जगत में निष्फल है।

यह तो ठीक परन्तु **'तेषां धिक् च गृहाश्रमम्'** उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। उसे पानी में डुबो दे। आता है कहीं। कहाँ आता है ? ऐ! किस जगह आता है ? यहाँ सब कहीं याद है, कहीं आता है। ऐसा गृहस्थाश्रम जिसमें भक्ति, पूजा और दानादि न वर्तते हों, ऐसे गृहस्थाश्रम को पानी में डालकर अंजुली देना। स्वाहा। डुबो देना। ऐसे गृहस्थाश्रम का काम क्या, ऐसा कहते हैं। उसमें अंजुली दे देना। यह मरते हुए अंजुली नहीं देते ? लो, यह ... यह दिया। ऐसा वहाँ है। कहीं दान के अधिकार में है। अब कहीं सब अभी ख्याल में होता है ? कहो, समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं कि ऐसे गृहस्थाश्रम को धिक्कार... धिक्कार है। आहाहा! यह

लड़के का मुँह देखे, स्त्री का मुँह देखे तो इसे अच्छा लगे। समझ में आया? अभी तो विवाह-विवाह करना हो तो लड़की को देखने जाते हैं अभी तो। सब कैसा है। बुलावे-हिलावे, साथ में घूमे, दो घण्टे, उसके साथ बराबर ठीक है या नहीं। तुमको मैं पसन्द हूँ या नहीं, उसे कहे मैं पसन्द हूँ या नहीं? तब तो यह विवाह करे। ऐसे तो अभी के ढोंग चले हैं।

यहाँ भगवान पसन्द है या नहीं उनके दर्शन? आहाहा! समझ में आया? परमात्मा वीतराग मुद्रा शान्त, जिन्हें देखने से मानो तीन काल, तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा हैं। राग की क्रियामात्र जिन्हें नहीं है। स्थिर हो गये। उनका प्रतिबिम्ब देखता है। आहाहा! लोकालोक तीन काल, तीन लोक के जाननेवाले-देखनेवाले। चाहे जो दुनिया में हों, जिन्हें विकल्प नहीं, कम्पन और अस्थिरता नहीं। ऐसा बिम्ब देखकर जिसे ज्ञान में भास हो, उसे भक्ति और उल्लास से शुभभाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

उसके गृहस्थाश्रम के लिये भी धिक्कार है। एक तो निष्फल कहा। निष्फल इतना नहीं रखा...

मुमुक्षु : दान अधिकार की २४वीं गाथा में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : २४, हाँ। यह २४ में है। देखो, २४वीं गाथा है। दान के अधिकार में पृष्ठ १२२। उसमें दान का अधिकार होगा पहले।

पूजा न चेज्जिनपतेः पदपङ्कजेषु
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम्।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थितायाः
शीघ्रं जलाञ्जलिरगाधजले प्रविश्य।।२४।।

क्या कहते हैं? **जो गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान की चरणकमलों की पूजा नहीं है...** संसार में भी अच्छा करोड़पति घर में आवे तो कहे, अहो! आज मेरे सोने का सूरज उगा, आज मेरा आँगन उज्ज्वल हुआ। ऐसा नहीं बोलता? वह तो राग है। वहाँ तो पाप है। यह तो शुभभाव, जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल की पूजा नहीं, **भक्तिभाव से संयमीजनों के लिये दान नहीं...** जिसके घर में धर्मात्मा आवे, उन्हें भक्ति से दान

नहीं देता, **नहीं दिया जाता आचार्य कहते हैं। अत्यन्त गहरे जल में...** गहरे पानी में जाकर **प्रवेश करके गृहस्थाश्रम के लिये जल की अंजुली दे देनी चाहिए।** शोभालालजी! कहते हैं, डुबो दे तेरे घर को, तू डूबा पड़ा है। ऐई! देवीलालजी!

दान-पूजा बिना गृहस्थाश्रम किसी काम का नहीं। दान-पूजारहित। **इसलिए गृहस्थाश्रम में रहकर भव्य जीवों को दान देना चाहिए।** अंजुली में प्रवेश... यह तो आचार्य ने एक उल्हाना (दिया है)। ठपका को क्या कहते हैं? ओलम्बो कहते हैं न? ओणम्बो दिया है। अरे! तेरे घर में भगवान के दर्शन नहीं और वहाँ मुनियों को, धर्मात्मा आदि को दान नहीं, उस तेरे घर के गहरे पानी में लेकर अंजुली दे। अर्थात् डुबो दे, तेरा गृहस्थाश्रम डुबोने के योग्य है। ताराचन्दजी! आहाहा!

मुमुक्षु : ... तेरा घर श्मशान समान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्मशान समान है। जहाँ महाधर्मात्मा जीव के चरण नहीं, देवदर्शन की जहाँ महिमा नहीं, भक्ति नहीं, पूजा नहीं, उस गृहस्थाश्रम को क्या करना? आचार्य मुनि जंगल में रहकर जगत की करुणा करते हैं। नरभेरामभाई!

एक तो मानो सम्प्रदाय में मूर्ति नहीं थी। मूर्ति की पूजा नहीं। यहाँ आये, इसलिए उस मूर्ति की पूजा का भक्तिभाव नहीं होता उन्हें, उत्साह नहीं आता। एक व्यक्ति कहता है, उत्साह नहीं आता। परन्तु संसार के भाव देखकर, कुटुम्ब को, स्त्री को देखकर क्यों उसका आनन्द होता है? उसी प्रकार ऐसा भाव गृहस्थाश्रम में हमेशा परमात्मा त्रिलोकनाथ कहीं भावनिक्षेप से विराजते हैं, उनकी स्थापनानिक्षेप के भी ज्ञानी विरह से... स्त्री का फोटो नहीं करता?

एक बार पोरबन्दर में कहा था, याद है? देवीदास या क्या नाम? जमुनादास। उपाश्रय के साथ में मकान था। पश्चात् उन्हें ... भाव था। कहा, देखते हैं एकान्त होवे तो। वहाँ एक बड़ा फोटो और वस्त्र ढाँका हुआ। मैंने कहा यह किसका फोटो है? कहे, पुरानी स्त्री मर गयी, उसका फोटो है। ....भाई! पुरानी स्त्री मर गयी, उसका बड़ा फोटो था। जमुनादास खुशाल। उपाश्रय के साथ में। (संवत्) १९८७ के वर्ष की बात है, ८७। ३३ वर्ष (हुए)। कहा, यह? कहे, यह फोटो जरा नजर पड़े, तब पुरानी स्त्री याद आवे

तो मजा आवे। फोटो देखे तब। समझ में आया? ऐ! भगवान का फोटो और भगवान का दर्शन कुछ है?

यहाँ आचार्य कहते हैं कि अनादि का रिवाज (है कि) श्रावक के घर में मन्दिर के दर्शन और दानादि का भाव हमेशा उसे होना चाहिए। समझ में आया? कहते हैं, ऐसे गृहस्थाश्रम को क्या करना है? ऐसा कहते हैं। धिक्कार है, कहते हैं।

१६वीं गाथा।

गाथा १६-१७

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः।।१६।।
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्धकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः।।१७।।

अर्थ : भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए, इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है॥१७॥

गाथा - १६-१७ पर प्रवचन

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः।।१६।।
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्धकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः।।१७।।

यह पाप के परिणाम और संसार की अपेक्षा यह धर्म अर्थात् पुण्य, व्यवहारधर्म की बात यहाँ चलती है।

भव्य जीवों को प्रात:काल उठकर जिनेन्द्रदेव और गुरु का दर्शन करना चाहिए। धर्मात्मा के दर्शन करना चाहिए। **और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए।** प्रेम से, आदर से। ओहो! धन्य धर्म के धारक धर्मात्मा! उनके बहुमान से बहुप्रीति से उनकी वन्दना और स्तुति करना चाहिए। **और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए।** धर्मात्मा के हमेशा दर्शन करके फिर धर्म का श्रवण करना चाहिए। यह पहले करना चाहिए और पश्चात् दुकान के काम करना, ऐसा यहाँ कहने में आता है। समझ में आया? बाद में करेंगे। लो, समय मिलेगा तो करूँगा। क्यों लड़के! सब्जी-बब्जी ले आया। अब कुछ काम नहीं है न? तो अब निवृत्त होऊँ तो जाऊँ। कामकाज होवे तो अभी नहीं। नम्बर रखना अन्तिम। तेरा अन्तिम नम्बर होगा या उसका? देवीलालजी! कहते हैं कि भगवान के दर्शन और गुरु के दर्शन, साधर्मी का संग और उनका श्रवण-मनन हमेशा उसे करना चाहिए।

धर्म का श्रवण भी करना चाहिए। इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है। पाठ है। **'पश्चादन्यानि कार्याणि'** समझ में आया? पहला यह समागम धर्मात्मा का। देखो न, यह मूलजीभाई को रोग आया। मूलजीभाई को, राजकोट। अन्तिम मरने का। मूलजीभाई थे न? राजकोट। नहीं? लाखाणी थे। अपने यहाँ आते थे। अपने यहाँ सेक्रेटरी थे। अन्तिम रोग आया मरने का। कल तो अटेक आया था। आज देह छूट जाएगी। वैसे तो गृहस्थ व्यक्ति थे। गृहस्थ, पैसा बहुत है। बुलाओ डॉक्टर को। वह कहे, नहीं। बुलाओ लालचन्दभाई को। शोभालालभाई! लालचन्दभाई हैं न अपने। गृहस्थ व्यक्ति है। लड़के पैसेवाले और सब गृहस्थ। स्वयं ने कहा, आज नहीं निभ सकूँगा। आज स्थिति ऐसी है। अटेक आया। वह क्या कहलाता है? हार्ट में। हार्ट में अटेक। तीस हजार पहले दिये थे। मरने के बाद चालीस हजार दे गये। इस समवसरण में चालीस हजार रुपये (दिये)। परन्तु वह देह आज छूट जाएगी। निश्चित हो गया। सवेरे। वहाँ लोग एकदम आये। बुलाओ डॉक्टर को। बुलाओ लालचन्दभाई को। डॉक्टर नहीं, पहले लालचन्दभाई को बुलाओ। लालचन्दभाई मुझे धर्म सुनावें। ऐसी वेदना में

भी... नहीं, पहले यह सुनाओ। ख्याल है कि यह वेदना उठी है। फिर वापस ठीक होऊँगा। वापस शाम को उठा, दोपहर को तब समाप्त।

लालचन्दभाई ने यहाँ तक कहा कि यह देह की वेदना आत्मा में ज्ञात होती है। देह का धर्म आत्मा में ज्ञात होता है। देह में रोग हो, वह आत्मा में नहीं है। यह आत्मा देह के रोग को जानता है। तब कहते हैं कि क्या देह के रोग को आत्मा जानता है? आत्मा, आत्मा को जानता है। समझ में आया? एक ऐसा गृहस्थ व्यक्ति धनाढ्य। (संवत्) १९७६ के वर्ष से पैसावाला कहलाये। यह सब पैसेवाले बाद में हुए, हों! यह लोग पन्द्रह-सोलह लाख रुपये, ७६ के वर्ष में दोनों भाई मुम्बई से ले आये थे। परन्तु उस समय के पैसेवाले, परन्तु बहुत लम्बा किया नहीं। तो ऐसा का ऐसा रहा... क्योंकि हम तो ७६ से जानते हैं न। परन्तु अन्त में ऐसा बोले तो इतना। नरभेरामभाई! यह कहीं रटने से नहीं होता, वहाँ तैयारी चाहिए। उन्होंने ऐसा कहा। इतनी तो उनकी पुरुषार्थ की... देवीलालभाई! उन्होंने-लाचन्दजीभाई ने कहा कि भाई! यह रोग है, उसे आत्मा जानता है, हों! यह रोग हो, यह होता है। क्या आत्मा रोग को जानता है या अपने को जानता है? ज्ञान, ज्ञान को जानता है, रोग को नहीं। ऐई! धन्नालाल! ऐसी अन्तिम स्थिति। इस ओर का होता है न, हार्ट यहाँ का होता है न। यहाँ से पीड़ा उठी। इतनी इस पुरुषार्थ की जागृति इस मरने के समय। पहले लाओ, दूसरा नहीं। धर्म श्रवण करानेवाले को लाओ। रोग-वोग होना होगा, वह होगा।

यहाँ कहते हैं, भव्य जीवों को... ऐ... नरभेरामभाई! ऐसे समय वापस वह याद आवे, हों! उसका क्या किया? उसका क्या हुआ? तब उसकी सम्हाल करता जाए, उसे देता जाए। पूरे दिन यह संकल्प-विकल्प होवे तो मरते हुए वह याद आयेगा। जिसे अन्दर के धर्म... देखो! सवेरे उठकर भगवान की वन्दना-स्तुति करना चाहिए। धर्म का श्रवण करना चाहिए। बेगारी नहीं कि यह सब जाते हैं, इसलिए अपने चलो, नहीं तो अच्छा नहीं लगेगा। यह पर्यूषण में नहीं सुनेंगे तो अच्छा नहीं लगेगा। वह तो बेगार है। समझ में आया? चलो गृहस्थ आते हैं बड़े-बड़े, चलो भाई, अपन सुनने। अन्दर सुनने का कुछ ठिकाना नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, धर्म का श्रवण भी प्रेम से करना चाहिए। **पश्चात् अन्य गृह**

आदि सम्बन्धी कार्य करने चाहिए। है न ? कहो, समझ में आया ? गृह आदि अर्थात् ? गृहस्थाश्रम के अथवा दुकान के, व्यापार के बाद याद करना। यह तो उससे पहले याद भी करना नहीं, पहले यह याद करना। **क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने...** गणधर आदि महापुरुषों ने **धर्म...** अर्थात् पुण्य, **अर्थ...** अर्थात् लक्ष्मी और **काम...** अर्थात् भोग **मोक्ष...** अर्थात् निर्मलता। **इन चार पुरुषार्थों में गृहस्थ के लिये पाप की अपेक्षा से धर्म का सबसे प्रथम निरूपण किया है।** मोक्ष तो उत्कृष्ट बात है, परन्तु पाप से बचने को धर्म का अर्थात् पुण्य का, व्यवहारधर्म की उसे मुख्यता होती है। **उसी का मुख्यपना है।** लो ! यह देव पूजा की व्याख्या की।

छह आवश्यक में दिन-प्रतिदिन एक देव पूजा इसे करना चाहिए, यह श्रावक का दिन-प्रतिदिन का उसका कर्तव्य है। समझ में आया ? बहुत वर्ष पहले (संवत्) १९८२ में यह बात हुई थी। एक व्यक्ति कहे, महाराज ! यह क्या है इसमें मूर्ति का ? देख भाई ! कहा, शास्त्र में मूर्ति और पूजा सब है। ८२ के वर्ष की बात है। वे नहीं थे ? भाई ! वे।.... वढवा रहते थे। मणिलाल। मणिलाल सुन्दरजी। मणिलाल सुन्दरजी। मणिलाल आये थे ८२ में। वढवाण में। सुन्दरवाला के उपाश्रय में रात्रि में आये और बात की। मैंने कहा, देख भाई ! शास्त्र में प्रतिमा और पूजा है। वीतराग में कहे हुए शास्त्र में है परन्तु ऐसा हुआ कि जो पूजा अन्दर में लिखी है। उसने डाला कि वे सौ के एक पिता ने दूसरे के पिता को सौ रुपये दिये। सौ दिये थे। सौ ऊपर-ऊपर लिखे थे। फिर वे पिता मर गये। मेरे पिता ने तेरे पिता को दस हजार दिये हैं। दिये थे सौ, परन्तु दो शून्य चढ़ाकर माँगे। वह कहे, भाई बहियों में देखूँगा। नवनीतभाई ! बहियों में देखा, सौ तो सच्चे लगते हैं। सौ स्वीकार करने जाऊँगा तो वह दस हजार माँगता है। देखा बहियों में, नहीं है। समझ में आया ?

उसी प्रकार एक व्यक्ति ने जब भगवान की मूर्ति को... चाँदी और सिर पर ऐसे चढ़ा दिये कि राजा का वर्णन जैसा लगता है। भोग और सब ऐसा। ऐसा कहे कि भाई ! शास्त्र में मूर्ति है परन्तु यदि हाँ करने जाएगा तो... माँगेगा। देखा सही शास्त्र में कि मूर्ति पूजा है। उसने सौ दिये थे, सौ भी नहीं है, ऐसा कह दिया। उसमें चढ़ाई दो शून्य अधिक।

दस हजार। उसने बढ़ा दिया। उसने मिटा दिया। समझ में आया? यह ८२ के वर्ष में (बात हुई थी) ३८ वर्ष हुए।

एक व्यक्ति ने अधिक माँगा कि ऐसे भगवान ऐसे होते हैं और उनके सिर पर मुकुट होता है और उनके सिर पर यह होता है। फल और फूल और पूजा बहुत अमुक। इतना बढ़ा दिया कि मूर्ति मानी। मास्टर! तुमने ऐसे चढ़ा दिया। तुमने अर्थात् पूर्व की अपेक्षा में। तब उसने निकाल दिया मूल में से कि है नहीं मूर्ति और पूजा शास्त्र में। अरे! अनादि की है। देखा सही। है अवश्य। परन्तु यदि इतना स्वीकार करने जाऊँगा तो गले पड़ेंगे। मनसुखभाई! इसलिए मूल में से निकाल डाला। अनादि की पूजा और मूर्ति है। सन्त मुनि तो भावपूजा करते हैं, गृहस्थ भी महा चक्रवर्ती जैसे भरत चक्रवर्ती विशाल पूजा इतनी करते हैं कि लाखों-करोड़ों का खर्चा हो वहाँ। उस पूजा के नाम चले हैं। क्या कहलाता है? कल्पद्रुम और ऐसा। कल्पद्रुम पूजा बड़ी पूजा है। बड़ी। पुत्र का विवाह हो, तब कैसे पचास हजार और लाख खर्च कर डालता है। मारवाड़ में बहुत तूफान होता है। ताराचन्दजी! लड़के या लड़की का विवाह हो, तब साधारण मनुष्य है, तब उसे पाँच-दस लाख, बीस लाख, पच्चीस लाख का आसामी हो, उसे लाख खर्च करने पड़ते हैं। ढोंग-ढोंग का पार नहीं होता। वहाँ बहुमान कैसे करता है? यहाँ भगवान के दर्शन और भक्ति में (जाना हो तो कहे), मुझे समझ नहीं मिलता। हमें मरने का समय नहीं है। अभी मर जाएगा, तब तो पड़ा रहेगा एक ओर। सुन न!

यहाँ कहते हैं, सब संसार के पाप के (समय में भी) अन्दर में भगवान के दर्शन आदि को मूल धर्म, मुख्य व्यवहार के धर्म की यहाँ बात चलती है, पुण्य तो पाप की अपेक्षा मूर्ति गिनने में आया है।

अब गुरु की सेवा। दूसरा बोल। हमेशा गुरु की भक्ति।

गाथा १८

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्।।१८।।

अर्थ : जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान प्रगट रीति से देखने में आते हैं ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्तिपूर्वक गुरुओं की सेवा, वंदना आदि करनी चाहिए॥१८॥

गाथा – १८ पर प्रवचन

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्।।१८।।

देखो ! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है न ? यहाँ व्यवहार का बतलाना है। उसमें कहे, भाई ! तू तेरा है और तुझसे तुझे ज्ञान होता है। यह निश्चय भी बाद में वापस यह (ही होता है)। समझ में आया ?

जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान... यह हाथ में रेखा है। वह ऐसे मानो कि तीन काल, तीन लोक (एक समय में जाने), ऐसा जो केवलज्ञान, **प्रगट रीति से देखने में आता है। ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रंथ गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। 'प्रसादेन'** शब्द पड़ा है न ? निर्ग्रन्थ गुरु, सन्त, मुनि। मुख्यता तो उनकी है न, चारित्रवन्त, रागरहित, नग्न-दिगम्बर, भावलिंगी सन्त जंगल में (बसनेवाले)। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु की कृपा से प्राप्त होते हैं।

आता है न ? भाई ! यह नहीं ? आत्मावलोकन में। आत्मावलोकन में आता है कि वीतराग... वीतराग... गुरु वीतराग होने का आराधन करते हैं। गुरु उन्हें कहते हैं कि पुण्य और पाप के विकल्प हों, तथापि आराधन वीतरागपने के स्वभाव का करते हैं। और जगत में निर्ग्रन्थ मुनि उपदेश देते वीतराग... वीतराग... (होने का उपदेश देते)। मुहु

मुहु ऐसा पाठ वहाँ आत्मावलोकन में है। उसके मुख में तो वीतरागता का ही झरना झरता है। रागरहित भगवान आत्मा की दृष्टि करो, उसका ज्ञान करो, उसमें रमणता करो। वीतरागपने के भाव की ही बात करते हैं। गौणरूप से राग आवे, उसकी बात करते हैं परन्तु मूल बात यह करते हैं। श्रावकों को यह समझाते हैं।...चन्दजी! आत्मावलोकन है, दीपचन्दजी का बनाया हुआ। दीपचन्दजी ने यह अनुभवप्रकाश, चिद्विलास बनाया है या नहीं? उनका आत्मावलोकन है। उसमें यह दोहा है। समझे न? उसमें तो वीतराग मुहु मुहु।

मुमुक्षु : वह कहीं आधारभूत कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! आधार प्रमाणभूत है। आधारभूत क्या, वीतरागभाव, वह वीतराग कहते हैं या दूसरा कहता है? सर्वज्ञ परमात्मा ने तो वीतरागभाव की भी व्याख्या की है। उसमें यह रागादि चरणानुयोग की पद्धति में बतलाया, किया,—ऐसा कहने में आता है परन्तु तात्पर्य क्या है? राग, यह हो, वह पाप से बचने को आता है। उसका अभाव करके भी वीतरागचारित्ररूप से जा तो तेरा कल्याण होगा। समझ में आया? इसी प्रकार सन्तों की गुरु की वाणी में वीतरागता का ही घोलन होता है। घोलन और वीतरागता का ही उपदेश वे देते हैं।

मुमुक्षु : यह तो 'गुरुदेव' आपकी वाणी में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? यह पाठ लिया है, हों! वहाँ। श्लोक बनाये हैं। किसने बनाये हैं, यह खबर नहीं।

'गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्' कैसा ज्ञान? **'समस्त दृश्यते'** लोकालोक जाने, ऐसा केवलज्ञान, जिसमें पूर्णानन्द पड़ा है, वह गुरु के प्रताप से मिलता है। **कृपा से प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान के आकांक्षी...** इस सम्यक् केवलज्ञान की आकांक्षा है, वीतरागभाव के साथ में परमानन्द और केवलज्ञान की अभिलाषा **ऐसे मनुष्यों को भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा वन्दना आदि करनी चाहिए।** भक्तिपूर्वक उसे श्रवण करना चाहिए। समझ में आया? है न? **'गुरोरेव प्रसादेन' 'हस्तरेखेव निस्तुषम्'** अखण्ड पूर्ण वस्तु केवलज्ञान में दिखती है। ऐसे केवलज्ञान की जिसे भावना, आकांक्षा है, उसे धर्मात्मा की भक्तिपूर्वक सेवा आदि करना। कहो, यह समझ में आया? वह भी दिन-प्रतिदिन

का कर्तव्य है। घर के बुजुर्गों को ऐसे प्रतिदिन चरणवन्दन करता है और उनका बहुमान करता है? समझ में आया? देखो! सेठिया का घर देखो। सरदारशहर। जा आये हैं न! जा आये हैं। भाई साथ में नहीं थे? यह शोभालालजी!

घर में सवेरे उठे। तीस व्यक्ति घर में। सवेरे उठें। पहले भगवान के दर्शन करे, एक-दूसरे के दर्शन करे और बड़े के दर्शन करे। सुख से... उसके घर की बात भी कहीं अलग है। अभी हिन्दुस्तान में नहीं है। समझ में आया? सवेरे से शाम तक। देखा या नहीं? राजमलजी! सवेरे उठे (तब) बोले वह। अपने को तो आता नहीं। हिन्दुस्तान का गायन बोले। सबके दर्शन करके फिर, सेवा करके वाँचन करे और सुने। फिर आहार करने का अवसर हो, तब वह गायन भी उस प्रकार का, हों! ऐसा गायन गवावे। आनन्द के अमृत के भोजन करने को... ऐसी कुछ उसकी भाषा है। ऐसा बोले, तब सब आहार करने एकत्रित हो। आहार करके वापस ऐसा भजन बोले। यह तो पूरे दिन भजन की मण्डली देखना। सवेरे से शाम तक। रात्रि में सोते समय भी वापस सब आकर कैसे है? किसी को बोलचाल हुई नहीं घर में? सेठिया पूछे। घर में छह तो बहुएँ हैं, पाँच लड़के और लड़के के लड़के की बहू बड़ी गृहस्थ। तेरापंथी की बड़ी गृहस्थ और छह बहुएँ, छह लड़के, उनके लड़के, बड़ा परिवार। किसी की बोलचाल हुई है? अरे! पिताजी! किसी को कुछ हुआ नहीं। हम शान्ति में (हैं)। किसी ने किसी को कडवा वचन नहीं कहा, आपके प्रताप से आपके घर में रहे हैं। हमें किसी के साथ हुआ नहीं। धन्नालालभाई! आहाहा! कोई दूसरी महिलाओं में, बहुरू में। बहुरू समझ में आता है न? कड़क भाषा बोली गयी हो, किसी को ठीक न लगता हो। मेरे पास ला। पिताजी! आपके घर में हम आये, हम महाभाग्यशाली हैं। वह यहाँ बहिन कहती थी। वे बहिनें आयीं थी बड़े गृहस्थ की लड़कियाँ, उनके लड़के की बहुएँ वे कहती थी। अहो! हम यह पिताजी... पिताजी... कहलाये न ससुर से इसलिए। और वे तेरापन्थी की लड़कियाँ। वे जो दया-दान में, पर को बचाने का भाव पाप है, (ऐसा माननेवाले) परन्तु यह सुनकर अहो! हम पिताजी के घर में आये, महाभाग्य! हमें यह धर्म सुनने को मिला। नवनीतभाई! ऐसा बोले।

उनके घर में ऐसी प्रथा। एक लड़का ढाई वर्ष का था। फिर कहे कि मुझे महाराज के दर्शन करने जाना है। वहाँ नहीं जाया जाता सोनगढ़। सोनगढ़ नहीं जाया जाता। वहाँ

बहुमान, भक्ति विनय बिना नहीं जाया जा सकता। आहाहा! एक बार लड़का बोला। समझ में आया? 'हम महावीर भक्त आये, तुम क्या करेगा हमको।' चलो भाई अब वहाँ। नरभेरामभाई! यह लड़के के संस्कार। वह कमाता न हो तो कहे बैठना कमाने। यह धर्म में व्यर्थ का समय जाता है। अमुक के लिये थोड़ा कमा, सब बहियाँ फिरा। अब वह तो होना होगा, वह होगा। वहाँ चिन्ता कराने का कहे बारम्बार। यह नहीं।

यहाँ कहते हैं, गुरु की सेवा करके उन्हें बारम्बार भक्ति से वापस श्रवण करे। बड़े क्या कहते हैं? धर्मात्मा जीव क्या कहते हैं, उन्हें बारम्बार भक्ति से करे। लो, १८वीं गाथा। अभी गुरु सेवा की बात है, हों!

१९वीं।

गाथा १९

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदिते ऽपि दिवाकरे।।१९।।

अर्थ : जो मनुष्य, गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं, उन मनुष्यों के लिए सूर्य के उदय होने पर भी अंधकार ही है॥१९॥

गाथा – १९ पर प्रवचन

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदिते ऽपि दिवाकरे।।१९।।

जो मनुष्य गुरुओं को नहीं मानते हैं... वापस कितने ही ... मुनि न हों और मुनिपना मनावे। लो, हमको तो मानते नहीं। भाई! यहाँ तो मुनि और सच्चे सन्त की बात है। अथवा सच्चे धर्मात्मा की बात है। **जो मनुष्य गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा–वन्दना नहीं करते हैं, उन मनुष्यों के लिए इस सूर्य के उदय होने पर भी अन्धकार ही है।** अन्धकार, उनके घर में तो अन्धकार ही अन्धकार है। अन्धा का अन्धा

है। अन्धा है, कहते हैं। जिसके घर में गुरु की सेवा नहीं, गुरु का श्रवण नहीं... समझ में आया? है न **'अन्धकारो भवेत्तेषामुदिते ऽपि दिवाकरे'** दिवाकर—सूर्य उगा है (परन्तु) तेरे घर में तो अन्धकार है। धर्मात्मा आये और उनका आदर, सत्कार, बहुमान नहीं करता। धर्मात्मा के दर्शन नहीं करता और इस प्रमाण अन्धकार तेरे घर में वर्तता है, ऐसा कहते हैं।

जो मनुष्य परिग्रह रहित और ज्ञान-ध्यान-तप में लीन गुरुओं को नहीं मानते... मूल तो मुनि की बात है। चारित्रवन्त मुनि, धर्म जिनका लिंग है। बाह्य जिसका नग्न लिंग है। अन्तर में भावलिंग है, जिनके अनुभव की दृष्टिपूर्वक शान्ति और आनन्द में झूलते हैं। वन में बसते हैं, वे किसी समय गाँव में आ चढ़ें। तो कहते हैं, ऐसे परिग्रहरहित **ज्ञान-ध्यान-तप में...** तप अर्थात् मुनिपना, हों! **लीन गुरुओं को नहीं मानते, उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं, उन पुरुषों के अन्तर में अज्ञान रूपी अन्धकार सदा विद्यमान रहता है।** कहो, समझ में आया? **इसलिए सूर्य के उदय होने पर भी वह अन्धे ही बने रहते हैं।** लो!

भव्य जीवों को चाहिए कि अज्ञानरूपी अन्धकार के नाश करने के लिये गुरुओं की धर्मात्मा की सेवा करे। दिन-प्रतिदिन की बात है, हों! पहले आ गयी थी न गाथा? कौन सी, छठवीं? सातवीं-सातवीं। सातवीं गाथा। दिन-प्रतिदिन। **'देवपूजा गुरुपास्ति'** सातवीं गाथा है। **'स्वाध्याय: संयमस्तप:। दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।'** हमेशा। एक दिन गया और फिर कुछ नहीं, ऐसा नहीं। समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु : किसी दिन न जाए तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब एक दिन की कहाँ लगायी है। यहाँ तो दिन-प्रतिदिन की बात है। एक दिन किसी को हुण्डी बतानी है? लो, यह मैं आया था। अब उस दिन नहीं आया था? तुम कहते थे और मैं नहीं आया था? तो क्या हुण्डी बतानी है? अपने भक्तिभाव से भगवान के संग का दर्शन और गुरु का दर्शन हमेशा दिन-प्रतिदिन करे, उसका नाम गृहस्थाश्रम का श्रावकपना कहा जाता है। नहीं तो कहते हैं कि इस गृहस्थाश्रम को पानी में डुबो दे। गहरे जल में। तेरे आत्मा को कुछ लाभ नहीं है, वह गृहस्थाश्रम किस काम का?

अब स्वाध्याय। प्रतिदिन की स्वाध्याय, हों! बहियाँ कैसे प्रतिदिन फिराता है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील भी पन्ने फिराता है। यह कायदा... और यह कायदा... इस कायदा की बात है न। परन्तु उन कायदा के फिराता है या नहीं? इसी प्रकार ये धर्मात्मा के शास्त्र जो हैं, उन्हें बारम्बार इसे वाँचन और मनन करना चाहिए। प्रतिदिन करना चाहिए। ऐसा नहीं कि एक दिन पढ़ा था। हाँ, उस दिन मैंने एक बार पढ़ा था। एक व्यक्ति को पूछा, समयसार पढ़ा? बहुत वर्ष पहले एक बार पढ़ा था। ओहो! बाद में? कहा, समय नहीं मिलता।

यहाँ कहते हैं, तीसरा स्वाध्याय कर्तव्य प्रतिदिन का है। गृहस्थाश्रम में समकिती को, श्रावक को धर्मात्मा का स्वाध्याय वह प्रतिदिन का दिन-प्रतिदिन का कर्तव्य है।

गाथा २०

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः।।२०।।

अर्थ : जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं ॥२०॥

गाथा - २० पर प्रवचन

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः।।२०।।

ओहोहो! आचार्य करुणा करके कितनी मीठी भाषा से बात करते हैं! **जो मनुष्य उत्तम निष्कलंक गुरुओं से... 'सद्गुरु'** शब्द है न? **'सद्गुरु'** सच्चे ज्ञानी के कहे हुए। यद्वा-तद्वा शास्त्र नहीं। यद्वा-तद्वा पढ़े अभी तो जो ... लेखन का पार नहीं होता, पुस्तकों

का पार नहीं होता। चाहे जो पढ़ने बैठ जाता है। नहीं। **'सच्छास्त्रं सद्‌गुरुप्रकटीकृतम्'** दो शब्द प्रयोग किये हैं। एक तो सच्चे शास्त्र। जिसमें से आत्मा की बात वीतराग की दृष्टि-ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति हो, और जिसमें व्यवहार धर्म की सच्ची पहिचान हो, ऐसे सत्शास्त्रों का हमेशा स्वाध्याय करना चाहिए। समझ में आया? घण्टे, दो घण्टे। तुम्हारे क्या कहते हैं? एक घण्टा, दो घण्टा ऐसा कहते हैं न? हमेशा स्वाध्याय चाहिए। बहियाँ हमेशा कैसे घुमाता है?

एक बार भगवानजीभाई के पास गये तो कितनी ही पुस्तकें पड़ी हुई। यह भगवानजी वकील। ऊपर कुर्सी पर बैठे थे। यहाँ पड़ी हुई और यहाँ पड़ी हुई। आहा! कितनी ही पुस्तकें फिराते थे। वह पुस्तकें फिरावे और इस शास्त्र को फिराया किसी दिन? भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा के कहे हुए सत्‌शास्त्र, हों! वापस व्याख्या यह की। अज्ञान ने अपनी कल्पना से बनाये हुए जगत को अपने स्वार्थ पोसने के, वे शास्त्र नहीं हैं। उसमें इसे विवेक होना चाहिए। जिसमें वीतरागता और निर्दोषता प्रगट (हो ऐसे) कथन हों। जिसमें सदोषता के उत्थापन के भाव हों। ऐसे वीतरागी कथनों के शास्त्र हमेशा उत्तम और **निष्कलंक गुरुओं से प्रसिद्ध किये शास्त्र को पढ़ना चाहिए।** यहाँ तो नकार से लिया है न? वह कोई पढ़ता नहीं, वाँचता नहीं, विचारता नहीं, समय मिलता नहीं। कहो, समझ में आया?

यह मनुष्यों को विद्वान पुरुष... उसे वह **'तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह' 'मनीषिभिः' 'मनीषिभिः'** है न? **'मनीषिभिः'** अर्थात् विचारक। विचारक अर्थात् ज्ञानी। उसे ज्ञानी अन्ध कहते हैं। **नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं।** क्या कहा, समझ में आया इसमें? जो कोई सत्‌शास्त्र को नहीं पढ़ते, पढ़ता नहीं, वाँचते नहीं, विचारते नहीं। सद्‌गुरु प्रगट, भगवान त्रिलोकनाथ और सन्तों-महा आचार्यों कुन्दकुन्दादि महा मुनियों द्वारा कहे हुए शास्त्र पढ़ते नहीं, अभ्यास करते नहीं, पूछते नहीं कि यह क्या? वे अन्ध-अन्धे हैं, विद्यमान आँखें (होने पर भी) अन्धे हैं। यह महिलाओं को लागू पड़ता होगा या नहीं? या इन्हें पूरे दिन पकाना? पकाना और यह करना और धूल करना। निवृत्त हो तो वस्त्र सिलना, वह होवे तो यह खांडणिया करना। यह कहते हैं वह बाद में, पहले यह कर। कहो, सेठी! कभी पन्ना फिराया नहीं। सुनूँगा। घर में पन्ना फिराता नहीं। क्या कहा और क्या इसमें कहा। कहो, समझ में आया?

ऐसा मनुष्यभव मिला और अनन्त काल में श्रेय के साधन क्या हैं, इसे समझने में आया, तथापि उन शास्त्र आदि का कथन-मनन करे नहीं और **उन मनुष्यों को विद्वान**... अर्थात् **'मनीषिभिः'** विचार विद्वान **नेत्रधारी होने पर भी अन्धा कहते हैं।** घर की बहियाँ कैसे खोजता है? कितना हुआ भाई? नौकरों ने तो नामा लिखा परन्तु प्रतिदिन दो-चार दिन में वापस खोज जाए। दो-चार महीने हो जाए तो अन्दर से कहीं पोल निकले। अभी का काल। इसलिए हमेशा घर की बहियाँ खोजता है। इसी प्रकार भगवान के कहे हुए घर की पुस्तकें। समझ में आया? उसे देखो न, 'मोक्षमार्गप्रकाशक', यह तो सुगम शास्त्र है। इसे पढ़ने में कोई व्याकरण या कोई ऐसी की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका जो अभ्यास न करे, उसके अभाग्य का क्या कहना, ऐसा कहा है। उसका तो महाभाग्य है उल्टा। प्रमाण शास्त्र है। टोडरमलजी का। जिसे खबर नहीं होती। अरे! भगवान! यह तो आचार्य और मुनि जो कहते हैं, उसको सरल शैली से कहा है। वस्तु के स्वरूप का वर्णन निश्चय-व्यवहार ....

कहते हैं, **वस्तु का स्वरूप यथार्थ रीति से शास्त्र से जाना जाता है।** शास्त्र बिना ज्ञात नहीं होता। घर में है यह बात? **किन्तु मनुष्य शास्त्र न तो देखते हैं**... यह नजर में पड़े तो भी उठाता नहीं कि यह क्या है भाई? इसमें लाओ तो सही, पढ़ें कुछ। यह शास्त्र है, शास्त्र। जाओ। घर की बहियाँ खोजनी हो तो बनिया कहे, पन्ना फिरे और सोना झरे। भाई! नवनीतभाई कहते हैं न ऐसा? क्या कहे? उसमें से कितने से लेना और कितनों को देना, कितना अमुक, इस प्रकार पन्ना फिरे ऐसे सोना झरे। यहाँ कहते हैं, शास्त्र का पन्ना फिरा तो उसमें से ज्ञान झरेगा। तुझे सच्चा ज्ञान प्रगट होगा। नहीं पढ़ना शास्त्र, नहीं पढ़ना शास्त्र।

तब और वह कहता है कि शास्त्र... अरे! परन्तु भगवान! तू यह क्या कहता है? चार अनुयोग में कुछ दूसरा कहा होगा। इस चरणानुयोग का तो यह शास्त्र है। यह अधिकार। अधिकार, हों! चलता हुआ अधिकार चरणानुयोग का है। मुनि, गृहस्थाश्रम में चरणानुयोग, उसके पुण्य परिणाम कैसे होते हैं, पाप का छेद होकर, उसका तो यह वर्णन है। चरणानुयोग में पुण्य-पाप का अधिकार। कहो, समझ में आया?

न देखते हैं, न पढ़ते हैं, यह मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं जानते

हैं। किस प्रकार जाने ? कुछ खबर नहीं होती। **इसलिए नेत्रसहित होने पर भी अन्धे ही हैं। अतः भव्यजीवों को शास्त्र का स्वाध्याय...** और अकेला पढ़ना-पढ़ना नहीं वापस उसका **मनन अवश्य करना चाहिए।** आचार्य एक श्लोक कहकर वापस तुरन्त उससे उल्टा कहते हैं। ऐसा करे, उसे ऐसा होगा और न करे, उसे ऐसा होगा।

गाथा २१

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारिताम्।।२१।।

अर्थ : आचार्य कहते हैं जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है तथा हृदय में धारण भी नहीं किया है उनके कान तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायःकर हम मानते हैं॥२१॥

गाथा - २१ पर प्रवचन

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारिताम्।।२१।।

ओहो! आचार्य महाराज जंगल में रहकर करुणा करके जगत को कहते हैं। **जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है...** समझ में आया? **'न श्रुतं'** है न? देखो! **'न श्रुतं नावधारिताम्'** गुरु के पास रहकर जो शास्त्र सुनता नहीं, शास्त्र सुना नहीं **और हृदय में धारण भी नहीं किया है। 'नावधारितम्'** हृदय में ग्रहण किया नहीं। यह शास्त्र क्या कहता है? गुरु क्या कहते हैं? निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त। समझ में आया? वे क्या कहते हैं, यह **सुना नहीं, हृदय में धारण भी नहीं किया उनके कान व मन नहीं है, ऐसा प्रायः कर हम मानते हैं। 'प्राय'** शब्द पड़ा है न? **'प्रायशस्तेषां'** उसे मन और कान होने पर भी मन और कान रहित कहते हैं। समझ में आया? सेठी! उसे मन नहीं है, कहते हैं। मन होवे तो मनन चाहिए, कान होवे तो श्रवण चाहिए, ऐसा कहते हैं। मनन और श्रवण दोनों लिये हैं न? समझ में आया?

मन होवे, तब तो उसमें क्या कहते हैं, इसका मनन होना चाहिए। कान मिले अन्तिम में अन्तिम इन्द्रिय यह है। चार इन्द्रियाँ अन्तिम और फिर यह अन्तिम। यह मिलती है न अन्तिम? पहली एकेन्द्रय स्पर्शेन्द्रिय, पश्चात् यह जीभ, नाक, आँख और अन्तिम यह। अन्तिम यह होती है। उसे मिली और यदि गुरु के पास कुछ शास्त्र का श्रवण करके... **'न श्रुतं'** लिया है न? पढ़ता नहीं, उसके कान और हृदय अर्थात् मन, हृदय आदि नहीं है। तुझे कान और मन मिले, वह कान और मन नहीं है। **ऐसा प्राय:कर हम मानते हैं।** आचार्य कहते हैं कि ऐसा हम मानते हैं।

कान और मन की प्राप्ति का सफलपना शास्त्र के सुनने से है। दो इन्द्रिय हो गया, ऐसा कहते हैं। तुझे पाँच इन्द्रिय मिली तो भी दो इन्द्रिय जैसा है। मन से मनन करता नहीं, शास्त्र को श्रवण करता नहीं। शास्त्र को सुनता नहीं। विकथा करने बैठे और उसके घर बारोट आया हो बारोट। बारोट को क्या कहते हैं? समझते हो? उसके कुटुम्ब की बात करे तो कहाँ तक बैठे, रात्रि के दस बजे तक बैठे, ग्यारह बजे तक। तुम्हारे पिता ऐसे थे और तुम्हारे पिता ऐसे थे, तुम्हारे पिता पाटण में रहते थे, वहाँ पचास हजार खर्च करके बावड़ी बनायी थी, उस दिन का उनका नाम वहाँ है। धूल में भी नहीं। सुन न अब। उसके पिता की बात सुनने बैठे, पाँच-पच्चीस... यह इसका पिता तीर्थंकर त्रिलोकनाथ धर्मपिता ने कहे हुए शास्त्र, उन्हें गुरु के निकट सुनता नहीं, तो कहते हैं कि हम मानते हैं कि तेरे कान और मन नहीं है।

कान और मन का सफलपना शास्त्र के सुनने से है और उनके अभिप्राय को मन में धारण करने से... देखा! सुनना और वह अवधारण किया है न? शास्त्र क्या कहते हैं, उनका अभिप्राय धारण करना चाहिए। **किन्तु जिन मनुष्यों ने कान पाकर...** कान मिलने पर भी **शास्त्र का श्रवण नहीं करते और मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझता...** अभिप्राय समझता नहीं। हार्द क्या है। शास्त्र को कहने का आशय क्या है, उसे अभिप्राय में नहीं लेता **उस मनुष्यों के कान और हृदय का पाना, न पाना सरीखा ही है।** मिले, नहीं मिलने जैसे हैं। **इसलिए विद्वानों को शास्त्र का श्रवण और उसका मनन जरूर करना चाहिए। जिससे उनके कान और हृदय सफल समझे जावें।** लो! यह तीन बोल हुए। देव पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय।

चौथा बोल संयम। श्रावक को हमेशा थोड़ा संयम इन्द्रियदमन आदि हमेशा (होना चाहिए)। पूरे दिन भोग, भोग और भोग, ऐसा नहीं होता। श्रावक को हमेशा थोड़ा संयम होता है। यह चौथा बोल कहते हैं। **आचार्य संयम नामक आवश्यक का कथन करते हैं।**

गाथा २२

देशाव्रतानुसारेण संयमो ऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तनैव जायते फलवद्व्रतम्।।२२।।

अर्थ : धर्मात्मा श्रावकों को एकदेशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे॥२२॥

गाथा - २२ पर प्रवचन

देशाव्रतानुसारेण संयमो ऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तनैव जायते फलवद्व्रतम्।।२२।।

धर्मात्मा श्रावकों को एकदेश व्रत के अनुसार... अपने गुणस्थान के अनुसार **संयम भी अवश्य पालना चाहिए।** समझ में आया? भोग की भी उसे मर्यादा होना चाहिए। खाने-पीने की अन्दर में तीव्र गृद्धि की भी मर्यादा होना चाहिए। ऐसे का ऐसा साँड जैसे खाये न। रास्ते में चलते हुए आलू खावे और आलू की भुजिया खावे। समझ में आया? बटाटा समझते हो? आलू, आलू।

मुमुक्षु : आलू की पकौड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आलू की पकौड़ी खाये। यह कहीं सज्जन के लक्षण हैं?

श्रावक को कहते हैं, **अवश्य पालना, जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत हो जाए।** (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण अमावस्या, रविवार, दिनांक - ०६-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - २२ से २९, प्रवचन-१४

.... श्रावक व्रत अथवा उपासक संस्कार। श्रावकों को दिन-प्रतिदिन छह / षट्कर्म करना इसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? हमेशा देवपूजा है। है वह शुभभाव, परन्तु ज्ञानी को आत्मा के भानसहित होने पर भी, वास्तव में वह शुभभाव मोक्ष का कारण न होने पर भी... अमरचन्दजी! वह शुभभाव आता है। समझ में आया? श्रावक को पंचम गुणस्थान के योग्य षट्कर्म—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान, हैं यह विकल्प शुभराग। वास्तव में उसे संवर और निर्जरा का कारण ज्ञानी मानता नहीं, तथापि वह भाव आये बिना रहता नहीं। उस गुणस्थान के योग्य उसकी वह दशा है, ऐसा यहाँ वर्णन किया जाता है। कहो, समझ में आया? २२

मुमुक्षु : ... मोक्ष कारण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष का कारण नहीं।

मुमुक्षु : तो फिर परम्परा?

पूज्य गुरुदेवश्री : परम्परा भी नहीं। परन्तु आये बिना रहता नहीं। परम्परा का आरोप दिया जाता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त है न, निमित्त। निमित्त को आरोप दिया जाता है। जरा सूक्ष्म बात है।

भगवान आत्मा अपना ज्ञान चैतन्य आनन्दस्वरूप, उसे अन्तर अवलम्बन कर जितना ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरता हो, उतना ही संवर, निर्जरा और मोक्ष का मार्ग जानता है। समझ में आया? धर्मी जीव अपनी चैतन्य सत्ता ज्ञायकभाव और पूर्णानन्दस्वरूप के अवलम्बन से जितना ज्ञान हो, उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन और उसके अवलम्बन से जितनी स्थिरता हो, उसे वास्तव में संवर, निर्जरा अर्थात् मोक्ष का मार्ग ज्ञानी मानता है। अमरचन्दजी! आहाहा! जो ज्ञान शास्त्र के अवलम्बन से परावलम्बी हो, उस ज्ञान को भी धर्मी मोक्ष का कारण नहीं मानता।

मुमुक्षु : परसत्तावलम्बी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का अवलम्बी है न। यहाँ तो इसमें से अभी यह निकालना है, यह राग है न वह। समझ में आया इसमें?

भगवान आत्मा चैतन्य का सूर्य अकेला, ऐसे स्वभाव को अवलम्ब कर जो सम्यग्दर्शन हो और उसका अन्तर अवलम्ब कर जितना ज्ञान प्रगट हो, उसे अवलम्ब कर जितनी स्थिरता, शान्ति, अविकारीदशा हो, उसे ही धर्मी मोक्ष का मार्ग जानता और मानता है। बीच में जितना यह ज्ञान परालम्बी अन्दर हो, उसे जानता अवश्य है परन्तु उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मानता। आहाहा! अमरचन्दजी! बारह अंग का ज्ञान परावलम्बी, वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। भाई! भगवान अकेला चैतन्यस्वरूप सहजानन्द की मूर्ति, उसके अवलम्बन से जो ज्ञान अन्तर में से प्रगट हुआ, उतना ही ज्ञान का भाव मोक्ष और संवर तथा निर्जरा का कारण है। जितना परावलम्बी-परसत्तावलम्बी शास्त्र आदि का ज्ञान हो, वह हो निमित्तरूप से, परन्तु उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मानता। इसी प्रकार जितना परावलम्बी श्रद्धा का विकल्प उठे—देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, नव तत्त्व के भेद का विकल्प—उसे होता अवश्य है, परन्तु वह श्रद्धा परावलम्बी है, इसलिए धर्मी उसे मोक्ष का कारण नहीं मानता। आहाहा! तथापि वह उसकी भूमिका में निश्चयसहित में ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता। और जितना स्वरूप में ज्ञान चैतन्य ज्योति को अवलम्ब कर शान्ति—अकषाय की परिणति / पर्याय हो, वह वास्तविक संवर, निर्जरा और मोक्ष का मार्ग है। जितना यह छह प्रकार के षट्कर्म का राग आता है, उसे वास्तव में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता। शोभालालभाई! यह बहुत सूक्ष्म बातें हैं। सेठ!

मुमुक्षु : अभी तक तो उल्टा ही मानते रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा ही मानते रहे। परन्तु आये बिना रहता नहीं, इसलिए यहाँ कहते हैं, देखो! २२वीं गाथा। है न २२वीं? यह चौथा बोल चलता है। तीन बोल हो गये। श्रावक को हमेशा देवपूजा का भाव, परावलम्बी होने पर भी, स्वावलम्बी के अभाव में पूर्ण वीतरागता नहीं; इसलिए वह भाव आये बिना नहीं रहता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ....में बैठे आवे। भगवान की पूजा करे। व्यवहार चरणानुयोग की पद्धति का कथन है न अभी? चरणानुयोग की पद्धति का कथन राग करे, जाए, ऐसा कहने में आता है। वास्तव में तो ऐसा भाव आवे, तब देवपूजा के स्थान में वह वर्तता है, ऐसा है। पद्धति, चरणानुयोग में कथनपद्धति भिन्न है। समझ में आया? घर बैठे-बैठे भगवान की पूजा का भाव नहीं होता, ऐसा कहते हैं। ऐई! सीधे डालो, कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

यह भाव आये बिना नहीं रहता। इसलिए आचार्य महाराज ने सातवीं गाथा में कहा, दिन-प्रतिदिन। सातवीं गाथा में आया था। दिन-प्रतिदिन षट्कर्म होते हैं। है न? **'देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।'** महामुनि थे, जंगल में बसनेवाले भावलिंगी सन्त थे। छठे गुणस्थान में विकल्प उठा और यह शास्त्र वाणी द्वारा शास्त्र रच गया। उसके कर्ता भी ज्ञानी नहीं। शास्त्र के रचनेवाले ज्ञानी नहीं हैं। जो विकल्प आया है, उसमें व्यापक होकर यह संवर-निर्जरा है, ऐसा नहीं मानते।

वास्तव में ज्ञानी का व्याप्य-व्यापक तो स्वभाव के साथ व्याप्य-व्यापक है। समझ में आया? परन्तु राग आवे, उसे पर-व्यवहार व्यापकरूप से जानता हुआ उस आचरण को बन्ध का कारण जानते हैं। आहाहा! भारी बातें, भाई! क्या कहा? समझ में आया? देव पूजा। ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। उसे गाँव में मन्दिर हो, पूजा करने जाए, ऐसा भाव आता है। दिन-प्रतिदिन पंचम गुणस्थान के योग्य ऐसा भाव उसे होता है। यह विवाद है न। होता है, इसलिए उसे मोक्ष का कारण है – ऐसा नहीं है। अमरचन्दजी! परम्परा का आरोप किया जाता है। राग तो वास्तव में राग का ही कारण है। आहाहा!

यह तो अपने पंचास्तिकाय में आ नहीं गया? १६४ गाथा। दोष की परम्परा का कारण राग है। जब तक राग है, तब तक उसे संवर, निर्जरा इतने से होगी नहीं। इतना आस्रवभाव है, परन्तु वह आस्रवभाव गृहस्थ को देव सेवा में, देव की पूजा में आये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार गुरु सेवा। धर्मात्मा सन्त मुनि निर्ग्रन्थ महन्त, आत्मज्ञानी ध्यानी महन्त मुनि की भी सेवा करने का भाव श्रावक को (आये बिना नहीं रहता)। निश्चय से सेवा तो स्वयं की है। निश्चय से अपने स्वरूप की सेवा है परन्तु व्यवहार से गुरु की

सेवा का भाव हमेशा दिन-प्रतिदिन आये बिना नहीं रहता। उसके-श्रावक के आचरण में व्यवहार आचरण का ऐसा विकल्प उठता है। आहाहा! ऐसी बातें!

मुमुक्षु : ... तो क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : वडेरा कोई दूसरा होगा। कहो, समझ में आया? धर्मात्मा होवे, उनका भी बहुमान करके... वह भी अभी तो समझने जैसा है। समझ में आया?

यह तो त्रिकाल की बात है न। महामुनि धर्मात्म धर्म के अधिकरूप से भानवाले -स्थिरतावाले की सेवा का भाव श्रावक को आये बिना नहीं रहता। तीसरा स्वाध्याय। संसार की पुस्तकें हमेशा फिराता है तो यह शास्त्र की पुस्तकों का विकल्प पढ़ने का, वाँचन का (आता है)। है परावलम्बी शास्त्र का ज्ञान। आहाहा! गजब बातें, भाई! समझ में आया? देवीलालजी! कहाँ गये? धन्नालालजी! हैं। निश्चय के मार्ग में बीच में व्यवहार आये बिना नहीं रहता। व्यवहार टल जाए तो या तो केवल (ज्ञान) हो जाए और या व्यवहार न हो और अकेला निश्चय न हो, वह तो मिथ्यादृष्टि है। निश्चय नहीं और व्यवहार नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। भगवान को अकेला निश्चय हो जाता है और फिर व्यवहार नहीं होता।

मुमुक्षु : ... अकेला व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला व्यवहार होता ही नहीं। यह बात ही सब गप्प है। अभी करते हैं, चौथे, पाँचवें और छठे और व्यवहार मोक्षमार्ग (होता है)। बिल्कुल झूठ बात। पराश्रय से मार्ग, वह परावलम्बी अवलम्बन है, वह वास्तव में मोक्षमार्ग है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ...यह कब? यह तो व्रतादि के विकल्प को भी जहर कहा है। वह कर्तृत्वबुद्धि से ज्ञानी को व्रत का विकल्प आता नहीं। क्योंकि जिसमें कर्म के निमित्त का लक्ष्य और उपाधि आती है, उस भाव को ज्ञानी क्यों चाहे? परन्तु वह भाव आये बिना रहता नहीं है।

मुमुक्षु : आवश्यक...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आवश्यक व्यवहार से।

मुमुक्षु : आये बिना रहता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आये बिना रहता ही नहीं, इसलिए चरणानुयोग की पद्धति में अवश्य करनेयोग्य है, ऐसी कथनपद्धति व्यवहारनय से चलती है। निश्चय में तो यह भाव उस काल में उसे आता है परन्तु कर्तृत्वबुद्धि निश्चय से होती नहीं। आहाहा! गजब! यह स्वाध्याय। कहो, स्वाध्याय। श्रावक को पाप के भाव के (धन्धे के) शास्त्र / पुस्तकें फिराता है, उसके गृहस्थाश्रम के, इससे इसका भाव स्वाध्याय करने का दिन-प्रतिदिन आता है। घण्टे, दो घण्टे स्वाध्याय करे, ऐसा भाव उसे होता है, तथापि वह जानता है कि यह परालम्बी भाव है। उस ओर का ज्ञान हुआ, इतना भी अभी परालम्बी है। स्वावलम्बी में मैं स्थिर नहीं हो सकता; इसलिए ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान तो स्वयं से होता है, वह ज्ञान है। बात ऐसी है। समझ में आया?

अपना ज्ञान, स्वरूप प्रकाश की मूर्ति है, उसमें एकाकार होकर जितना ज्ञान प्रगट हुआ, उतना ही ज्ञान शुद्धता और मुक्ति का कारण है। समझ में आया? कहा था न एक बार? यह उसमें से नहीं? क्या कहलाता है? कलश-टीका। कलश-टीका है न यह? कलश-टीका। आत्मानुभूति का कहा था एक बार। कितना है वह? १३वाँ। १३वाँ है। देखो! १३वाँ श्लोक है। आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। आत्मा का ज्ञानानन्द, उसे अनुसरण कर व्यापकरूप से होकर आनन्द की शान्ति और अविकारी का व्याप्य हो, ऐसा भाव वह वास्तव में अनुभव मोक्ष का मार्ग है।

इस प्रसंग में दूसरा भी संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है। कोई ऐसा मानेगा कि बारह अंग का ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है। कोई ऐसा कहेगा। **उसका समाधान ऐसा है।** यह कलश-टीका है, भाई अमरचन्दजी! यह कलश है न अमृतचन्द्राचार्य के? उनकी राजमलजी की टीका है। राजमल। इस

टीका में से बनारसीदासजी ने समयसार नाटक बनाया है। यह राजमलजी की टीका ढुंढ़ारी भाषा में है। अभी अपनी ओर से ३३०० पुस्तकें प्रचलित भाषा में प्रकाशित होती है। हिन्दी प्रचलित भाषा में प्रकाशित होती है। अभी देरी लगेगी।

कोई ऐसा कहे कि, **द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है। उसका समाधान ऐसा है। द्वादशांग ज्ञान भी विकल्प है।** द्वादशांग ज्ञान 'फुनि' अर्थात् भी, बारह अंग का ज्ञान भी विकल्प है। **उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। इसलिए शुद्धात्मानुभूति होने पर शास्त्र पठन की कोई अटक (बन्धन) नहीं है।** निश्चय की बात करते हैं। यहाँ अभी व्यवहार की बात चलती है। समझ में आया?

स्वरूप का अनुभव होने के पश्चात् उसे शास्त्र पठन की अटक नहीं है, रोक नहीं। परन्तु जब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके, तब उसे शास्त्र स्वाध्याय का विकल्प परालम्बी होने पर भी, आये बिना नहीं रहता। आहाहा! गजब! समझ में आया? इस कलश की टीका बहुत सरस है। एक-एक कलश की टीका ऐसी सरस की है। बनारसीदास ने पूरा समयसार नाटक लगभग इसमें से बनाया है, नया भी थोड़ा-सा बाद में डाला है।

यहाँ कहते हैं, स्वाध्याय हमेशा दिन-प्रतिदिन होना चाहिए। ये तीन बोल आ गये। अब चौथा अपने संयम चलता है। संयम—चौथा बोल। षट्कर्म में संयम। श्रावक अनुसार। देखो! २२ वीं।

देशाव्रतानुसारेण संयमो ऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तनैव जायते फलवद्व्रतम्।।२२।।

धर्मात्मा श्रावकों को एकदेश व्रत के अनुसार संयम भी जरूर पालना चाहिए। भोग का थोड़ा-थोड़ा (भाव) प्रतिदिन घटाना चाहिए। प्रतिदिन घटाना चाहिए। इन्द्रियों के विषयों की ओर से झुकाव कम करना, छह काय के जीवों को मारने के भाव भी घटाना। ऐसा संयम देशव्रत के योग्य—पंचम गुणस्थान के योग्य ऐसे विकल्प / भाव ज्ञानी को आये बिना नहीं रहते। उसे चरणानुयोग में ऐसा कहा जाता है कि देशसंयम के भाव करे और पालता है। ऐसा व्यवहारनय के कथन में चरणानुयोग की पद्धति में ऐसा आता है। समझ में आया? **जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे।** क्यों? संयम

थोड़ा-थोड़ा हमेशा होवे तो उसके व्रत जो लिये हुए हैं, उनका सफलपना इसके कारण गिनने में आता है। ऐसा भाव पाँचवें गुणस्थान में आये बिना नहीं रहता।

२३वीं। देखो! यह सब संयम के भेद में है। संयम के भेद में श्रावक को ऐसा हमेशा होना चाहिए।

गाथा २३

त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः।।२३।।

अर्थ : श्रावकों को मद्य, मांस, मधु का तथा पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए और सम्यग्दर्शनपूर्व इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं॥२३॥

गाथा - २३ पर प्रवचन

त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः।।२३।।

देखो, भाषा डाली है। सम्यग्दर्शनपूर्वक। अमरचन्दजी! भगवान आत्मा निर्विकल्प पूर्णानन्द ज्ञान ज्ञायक। अन्तर ज्ञायकभाव ज्ञान की ऋद्धि अर्थात् प्रसारनेवाला, विकास करनेवाला ऐसा जिसका व्यापकपना और ज्ञायकभाव जिसका व्यापक, ऐसी ज्ञायकभाव की प्रथम दृष्टि धर्मी को करना चाहिए। समझ में आया? जिसमें स्थिर होना है, वह चीज़ कैसी है? चारित्र है, वह स्थिर होना है। तो किसमें स्थिर होना है? राग में? निमित्त में? स्थिर होने का स्थान चिदानन्द ज्ञायकभाव है। अकेला ज्ञायक परमानन्द प्रभु, वह स्थिर होने का स्थान है। ऐसी प्रथम अनुभव में दृष्टि सम्यक् की हुए बिना उसे सच्चा चारित्र और सच्चे व्रत व्यवहार से भी नहीं हो सकते। बराबर है?

कहते हैं, **'दृष्टिपूर्वकाः'** देखो! दृष्टिपूर्वक। अकेले आत्मा के सम्यग्दर्शन के

भान बिना अकेले बारह व्रतादि ले, उसे वास्तव में व्रत नहीं कहते। वह पुण्यबन्ध बाँधता है और मिथ्यादृष्टि रहता है, वह पुण्य में धर्म मानकर परालम्बी दृष्टि में अटका हुआ, निज स्वभाव में, व्यापक में नहीं आता। उसे बारह व्रत के परिणाम अकेले मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध के कारण होते हैं। उसे अबन्ध परिणाम प्रगट नहीं होते। समझ में आया?

'त्याज्यं मांसं च मद्यं' सम्यग्दर्शनपूर्वक इसे माँस का त्याग करना चाहिए। समझ में आया? मद्य / शराब का त्याग करना चाहिए, मधु का त्याग करना चाहिए। और पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग करना चाहिए। क्योंकि मूल है। व्रतों के अन्दर में यह मूल है। जिसकी जड़ सुरक्षित नहीं है। यहाँ दर्शन की व्याख्या अभी नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल तो ज्ञायकभाव एक है। सम्यग्दर्शन का मूल ज्ञायकभाव वह आश्रय है। परन्तु सम्यग्दर्शन का मूल आश्रय में लेकर प्रगट हुआ, उसको पंचम गुणस्थान के योग्य जो व्रत आदि होते हैं, उनमें यह आठ मूलगुण वे सब व्रत के मूल हैं। व्रत के मूल, हों! स्वभाव में मूल नहीं। समझ में आया? कहो, देवीलालजी!

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन। धर्म अर्थात् चारित्र। चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का मूल द्रव्यस्वभाव। ज्ञायकभाव त्रिकाल, वह दर्शन का आश्रय है। ऐसा दर्शन का आश्रय किया होने पर भी दृष्टि मुख्य में—दर्शन में तो दर्शन पर ही दृष्टि है—स्वभाव पर दृष्टि है। ज्ञानी को कभी विकल्प और पर्याय की मुख्यता दृष्टि में नहीं होती। निमित्त और राग और पर्याय की मुख्यता दृष्टि में हो जाए, तब तो दृष्टि मिथ्या हो जाए। दृष्टि में मुख्य तो मूल द्रव्यस्वभाव ही है। परन्तु श्रावक के योग्य जब अन्दर दो कषाय के अभाव की स्थिरता प्रगट हुई है, चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव की है तथा पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी के अभाव की स्थिरता-शान्ति है। स्वावलम्बी। उसकी भूमिका में यह भाव आये बिना नहीं रहता और यह भाव कहा, आठ मूलगुण इसे कहा। मूलगुण अर्थात् वास्तव में जो यह आठ मूलगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्थिरता, वह यह मूलगुण नहीं है। यह मूलगुण नहीं है।

यहाँ तो विकल्प की व्रत की मर्यादा जो श्रावक को बारह व्रतादि हैं, ऐसे व्रत के विकल्प में आठ मूलगुण के विकल्प वे मूल हैं, ऐसा कहने में आया। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया? चार दिन तो रतनलालजी! गुजराती चलेगी। बाद में हिन्दी।

यह मूलगुण जो कहे हैं न, वे मूलगुण कहीं संवर-निर्जरा नहीं है, शुभराग है। वह मूलगुण अर्थात् उनका आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है, परन्तु सम्यग्दर्शन में मुख्यता तो निश्चय द्रव्य की दृष्टि होने पर भी, जब श्रावक के योग्य शान्ति का अंश प्रगट हुआ, तब उसे मूलगुण, व्रत के विकल्पों के भाग में उसे आठ मूलगुण का—त्याग का विकल्प वह मुख्य और मूल है। समझ में आया?

इस व्रत के विकल्प के आस्रव के परिणाम में आठ मूलगुण का त्याग, वह मूल है। आठ मूलगुण कहे न? मुनि को अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं, वह तो विकल्प है। वह विकल्प है, राग है। अट्ठाईस मूलगुण, वह आस्रव है। परन्तु मूल क्यों कहा? समझ में आया? स्वयं अपने आत्मा के मूल स्वभाव की आश्रय दृष्टि होने पर भी, मुख्यपना तो निश्चय का, स्वभाव का है। वह मुख्यपना जाए और पर्याय तथा राग की मुख्यता दृष्टि में हो तो दृष्टि मिथ्या हो जाए। परन्तु दृष्टि में मुख्यता चैतन्य का अन्दर ज्ञायक का होने पर भी, उसकी भूमिका के योग्य जो बारह व्रत श्रावक को आते हैं, उन बारह व्रत के विकल्प के मूल में आठ मूलगुणरूप त्याग उसके विकल्प को मूल कहने में आता है। उस आस्रव की अपेक्षा से उसे मूल कहने में आता है। समझ में आया?

शास्त्र का हल कठिन है। शास्त्र में किस पद्धति से कथन चलता है और कहने की क्या पद्धति है, उसे न समझे (और) पकड़ ले कि यह मूलगुण है, परन्तु है वह आस्रव। मुनि के अट्ठाईस मूलगुण जो हैं, वे भी आस्रव हैं। संवर-निर्जरा नहीं। परन्तु मूलगुण क्यों कहा?—कि पंचम गुणस्थान के योग्य दशा जहाँ प्रगट हुई, उसे मद्य, माँस, मधु, पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग होता है। आते हैं न पाँच उदुम्बर के नाम? ऊमर, कठूमर, पाकर, वड और पीपल। इनके अन्दर त्रस जीव होते हैं। इसलिए तीव्र राग के अभाव में इनका त्याग होता है। ऐसा जो शुभराग, उसके व्रत के विकल्प में यह शुभराग आठ मूलगुणसम्बन्धी त्याग, वह शुभराग मूल कहने में आता है। है तो आस्रव। समझ में आया? मित्रसेनजी!

और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठों का त्याग गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक इसकी व्रत विधि के भाव में इन आठ का त्याग तो मूल में आये बिना

रहता नहीं। आठ का—माँस, शराब का त्याग न हो और व्रतादि हो जाए, ऐसा कभी नहीं होता। समझ में आया? यद्यपि यह तो पहले बात आ गयी है कि माँस और शराब का त्याग नहीं, उसे धर्म की शोध की दरकार की दृष्टि नहीं है। आ गया है न पहले? यह ११वीं गाथा में आया, सात व्यसन में। जिसे सात व्यसन का त्याग नहीं, वह धर्म की अन्वेषणता के योग्य नहीं है। यह ११वीं गाथा में आ गया है।

धर्मार्थिनो ऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता।।११।।

सात व्यसन—जुआ, माँस, मधु, वैश्या, शिकार, शराब, चौरी और परस्त्री। इनका जिसने त्याग नहीं, वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र नहीं हो सकता। समझ में आया? यह तो पहली बात। उसकी धर्म की परीक्षा की योग्यता में इनका त्याग होना चाहिए। पुरुषार्थसिद्धि में भी कहा है। ७४वीं गाथा में। पुरुषार्थसिद्धि उपाय। जिसे सात व्यसन का त्याग नहीं, माँस आदि का त्याग नहीं, वह श्रावक होने के योग्य नहीं है। धर्म की परीक्षा और जैन धर्म प्राप्त करने के योग्य नहीं है। माँस, शराब... समझ में आया? और परस्त्री, वैश्या, शिकार का त्याग। जिसमें तीव्रता, उनका पहले ही त्याग होना चाहिए।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह चोरी। यह माँस, मद्य, वैश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री। इन सात का त्याग न हो, यदि राग में तीव्रता हो तो उसे धर्मनिष्ठपने की परीक्षा करने की योग्यता नहीं होती। इतना तो भाग उसे पहले से होता है। परन्तु यहाँ विशेष पंचम गुणस्थान के योग्य निरतिचार पालने की वृत्ति में यह भाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? यह २३वीं हुई।

२४वीं। है न आठ मूलगुण, हों! वापस वे कहे, अकेले हम त्यागी। हमारे मूलगुण हैं, इसलिए हमारे समकित है, ऐसा नहीं है। अमरचन्दजी! लो, हम आठ मूलगुण पालन करते हैं और मूलगुण है, वहाँ तक व्रतधारी हैं और व्रतधारी हों, उसे समकित तो होता ही है। ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार सम्यग्दर्शन तो हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार सम्यग्दर्शन कहाँ से आया ? निश्चय सम्यग्दर्शन बिना व्यवहार सम्यग्दर्शन का आरोप नहीं आता। कहाँ से आया ?

निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा के भान बिना व्यवहार समकित का आरोप नहीं दिया जाता। निश्चय होवे तो व्यवहार का आरोप दिया जाता है। निश्चय बिना व्यवहार अकेला होता नहीं। समझ में आया ? मूलगुण पालते हैं। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (है), तो व्यवहार समकित हो गया, ऐसा। और व्यवहार समकित से आगे निश्चय समकित होगा। ऐसा अभी लिखते हैं सब जोरशोर से लिखते हैं। पत्रों में जोरशोर से आता है अभी। सातवें गुणस्थान तक व्यवहार मोक्षमार्ग है। एक व्यक्ति और तेरहवें में लिखता है। कहो, समझ में आया ? बहुत प्रकार है। और, एक व्यक्ति कहता है कि नहीं, एक शुद्ध पर्याय प्रगट हुई और थोड़ी अशुद्ध। दो को तुम कहकर एक शुद्धि वह निश्चयमार्ग और राग, वह व्यवहारमार्ग (कहते हो), (परन्तु) ऐसा है ही नहीं। उन दो पूरी पर्याय को व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में आता है। और एक व्यक्ति ऐसा जगा है। आहाहा! .... ऐसी। समझ में आया ? ऐसा नहीं है।

जितनी स्वचैतन्य के आश्रय से शुद्धता प्रगट हुई है, वही वास्तव में संवर, निर्जरा और मोक्ष का मार्ग है। एक ही पर्याय के दो भाग हैं। जितना स्वरूप के आश्रय से चारित्र हुआ, उतनी शुद्धता है। वह मोक्ष का मार्ग है। उसी पर्याय में जितनी अशुद्धता रह गयी है, एक पर्याय के दो भाग। आहाहा! कहो, दो भाग में एक मोक्षमार्ग और एक बन्धमार्ग। समझ में आया ? आहाहा! वह कहता है कि नहीं, ऐसा नहीं है। पूरी पर्याय हो, तब मोक्षमार्ग कहलाता है। अधूरी में पूरा व्यवहार मोक्षमार्ग कहो। ऐ! व्यवहार तो पराश्रित कहलाता है। और जितनी स्वाश्रित दशा हुई, उसे पराश्रित व्यवहार में डाल देना है ? समझ में आया ? धन्नालालजी! स्वाश्रय को व्यवहार को और पराश्रय को व्यवहार। तो स्वाश्रय निश्चय और पराश्रय व्यवहार, यह सिद्धान्त रहा नहीं। स्व-आश्रित निश्चय और पराश्रित व्यवहार। अत: जितना स्व-आश्रित प्रगट हुआ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसे व्यवहार कहना और पराश्रित राग को व्यवहार कहना, ऐसा नहीं हो सकता।

भगवान आत्मा अपना चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव, परमानन्द की नित्य ज्योति, उसके लक्ष्य से, दृष्टि से, ध्येय से, जितनी निर्मल परिणति प्रगट हुई, उतना तो संवर,

निर्जरा और मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? और उसी पर्याय में अभी यह षट्कर्मादि श्रावक को, मुनि को अट्ठाईस मूलगुण का भाव आदि जो आते हैं, वह पर्याय का भाग बन्ध का ही कारण है। आहाहा! हो। हो तो कहते हैं, उसकी भूमिका में होता है। होने पर भी वह बन्ध का कारण है। ज्ञानधारा और कर्मधारा एकसाथ चलती है। कहो, समझ में आया? ज्ञानधारा कहो या स्व-आश्रय दृष्टि, ज्ञान और लीनता कहो। तथा कर्मधारा कहो या रागधारा कहो। जितना राग उत्पन्न होता है, उतनी कर्मधारा है। जितना स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-निर्मलता प्रगट हुई है, वह ज्ञानधारा। ज्ञान अर्थात् रागधारा नहीं। ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और स्थिरता अर्थात् ज्ञानधारा। जितना पराश्रित राग आता है, उतनी कर्मधारा। यह एक समय में, दोनों एक क्षण में साथ में होते हैं। एक क्षण में दोनों। तथापि एक भाग शुद्धता मोक्ष का कारण और अशुद्धता, वह बन्ध का कारण है। ऐसा न होवे तो वस्तु किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया? २४वीं।

गाथा २४

अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते।।२४।।

अर्थ : पाँच प्रकार के अणुव्रत तथा तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थों के हैं।।२४।।

गाथा - २४ पर प्रवचन

अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते।।२४।।

बारह व्रत की व्याख्या की। पाँच प्रकार के अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह। इनकी मर्यादा। और **'पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्'** इन तीनों को गुणव्रत कहते हैं। देशावगाशिक, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड ये गुण करते हैं।

किसे ? उस व्रत को गुण करते हैं। आहाहा! भाषा, वह भी (समझना कठिन)। स्वभाव को गुण करते हैं, ऐसा नहीं। जो व्रत के विकल्प हैं, सत्य का, अहिंसा का, अचौर्य का, ब्रह्मचर्य आदि का जो शुभराग है, उसमें यह व्रत का भाग, वह शुभराग है। भले उतरे, उतरने के लिये तो करते हैं यहाँ। ऐसा कहते हैं, इसमें उतरते हैं तो बाहर जाएगी बात। यहाँ ढ़िंढ़ोरा पीटकर बात चलती है। कहो, समझ में आया ?

उसमें जैसे आठ मूलगुण आये थे, उसी प्रकार यहाँ तीन गुणव्रत आये। इसका अर्थ कि जितना राग मन्द करके पाँच अणुव्रत हुए हैं, उसे यह तीन गुणव्रत है, वह राग की मन्दता में वृद्धि करते हैं, परन्तु है तो राग। बारह ही व्रत है तो राग। आहाहा! एक कहे—मुख्य, वह निश्चय और गौण, वह व्यवहार। मुख्य त्रिकाली ज्ञायकभाव दृष्टि में आवे, उस मुख्य को निश्चय कहने में आता है। और बाकी सब रहा, उस पर्याय राग को व्यवहार कहा जाता है। और श्रावक हो तब कहे, व्रतों में उसे आठ मूलगुण होते हैं परन्तु उस मूलगुण की व्याख्या—राग की मन्दता के भाव को मूलगुण कहा जाता है। आत्मा को शान्ति का लाभ करे या संवर-निर्जरा (हो), उसकी यह व्याख्या है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ त्याग है ? भान बिना ? स्वद्रव्य के अवलम्बन बिना, उसे राग का यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसकी दृष्टि ही राग में पड़ी है। कहो, समझ में आया ? देखो! दृष्टि २३वें तो आ गयी है। दृष्टिपूर्वक। समझ में आया ?

चैतन्य के मूलस्वभाव के अवलम्बनपूर्वक जिसे यह आठ मूलगुण होते हैं, उन बारह व्रत को वे मूलगुण पुष्टि करते हैं। और अब बारह व्रत में भी जो पाँच अणुव्रत हैं, उसमें विस्तार बहुत किया है, शोभालालभाई! उसमें विस्तार बहुत सब किया है। बहुत लम्बा-लम्बा किया है।... व्याख्या की है। यह दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड, ये तीन गुणव्रत। गुण अर्थात् इतनी राग की मन्दता करता है कि अमुक दिशा के बाहर नहीं जाना इत्यादि, वह पाँच अणुव्रत को पुष्टि देकर राग की मन्दता को गुण करता है। आत्मा को शान्ति का गुण करता है, वह यह बात है नहीं। आहाहा! राग की मन्दता को पुष्टि करता है। अमरचन्दजी! आहाहा!

चार शिक्षाव्रत है न? **'शिक्षाव्रतानि चत्वारि'** देशावगाशिक, सामायिक, प्रौषधोपवास और वैयावृत्य। ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये हैं तो अभी विकल्प परन्तु वे जो पाँच अणुव्रत को गुण करनेवाले तीन कहे, उन्हें ही शिक्षा देनेवाले तीन कहे। अर्थात् राग की विशेष मन्दता में स्वभावसन्मुख का अभ्यास होता है, तब उसे राग की मन्दता में शिक्षा दे। घटाता है, घटाता है। राग घटता जाता है। समझ में आया? आहाहा! हो गया, लो! पाँच अणुव्रत और तीन व्रत लिये (इसलिए) हो गया गुण। और चार हो गये तो उसकी शिक्षा हो गयी आत्मा को। यहाँ तो आत्मा के सम्यग्दर्शन की शिक्षा और गुणसहित की बात है। ऐसा होता नहीं। अकेले विकल्प से आत्मा को गुण हो और अकेले विकल्प से आत्मा को शान्ति की शिक्षा मिले यह बात है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पहले के सीखने के पाठ हैं अभी। कहो, समझ में आया? ऐ... रतिभाई! यह अणुव्रत की बात चली। नेमिदासभाई! कहो, यह अणुव्रत और गुणव्रत और शिक्षाव्रत। अरे! भगवान बापू! जहाँ दृष्टि सम्यक् है, उसे ऐसी भूमिका के योग्य राग की मन्दता का भाव आये बिना रहता नहीं। उस राग के प्रकार किये कि जिसे बारह व्रत के विकल्प हैं, उसे आठ मूलगुण का मूल कहने में आता है और बारह व्रत में भी पोषण देता है और उसे भी वे चार शिक्षा देते हैं। अर्थात् अधिक एकाग्रता होती है। स्वभाव की एकाग्रता तो स्वयं के आश्रय से होती है परन्तु इस राग की मन्दता का भाग अधिक बढ़ता है, इसलिए उन्हें—तीन को गुणव्रत कहा। है तो बारह व्रत विकल्प। आहाहा! सेठी!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : राग में मन्दता। उसे यहाँ है तो पुण्यबन्ध का कारण। बारह व्रत का स्वरूप क्या है, उसकी स्थापना होती है और दृष्टि में उसका निषेध है, ऐसी उसकी स्थापना होती है। नवनीतभाई! दृष्टि में उसका आदर नहीं होता। निश्चय स्वभाव के आदर के अतिरिक्त राग आवे, वह निश्चय से उपादेय है—ऐसा है नहीं। व्यवहार से उपादेय अशुभ टालने के लिये कहने में आता है। निश्चय उपादेय स्वभाव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शनपूर्वक है और यह इच्छा और गुण राग की मन्दता को करता है, इतनी बात यहाँ सिद्ध करनी है। **'द्वादशेति गृहिव्रते'**

अब २५। अब तप आया, तप। पाँचवाँ बोल तप। श्रावक को हमेशा तप होता है। पाँचवाँ बोल, षटकर्म में पाँचवाँ। यह षट्कर्म की बात चलती है या नहीं? रतिभाई! यह सब पढ़ा है या नहीं यह?

गाथा २५

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्।।२५।।

अर्थ : अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप, तथा छने हुए जल का पान और रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिए।।२५।।

गाथा - २५ पर प्रवचन

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्।।२५।।

देखो! श्रावक का पाँचवाँ कर्तव्य। व्यवहार से कर्तव्य कहा जाता है न? निश्चय से तो **'जं कज्जं तं णियमं'**। नियम से करनेयोग्य वह तो आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, यह निश्चय से करनेयोग्य वह वास्तविक आवश्यक है। यह आवश्यक व्यवहार से आवश्यक कहा जाता है। जिसमें पराधीनता है, उसे व्यवहार से आवश्यक कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? नियमसार में शुभभाव को भी अनावश्यक कहा है। उससे पराधीनता होती है। व्यवहार से उसे आवश्यक कहकर, राग की मन्दता कहकर आवश्यक कहने में आया है। ओहोहो! तप—अब तप।

अष्टमी चतुर्दशी को शक्ति अनुसार... अष्टमी और चौदश को शक्ति अनुसार

उपवास आदि करना चाहिए। इतना राग इसे घटना चाहिए। और **छने हुए जल का पान...** समझ में आया? (छना हुआ) पानी पीना। गाणेलुं। गाणेलुं कहते हैं न? छना हुआ। हमारी भाषा में गाल्यु पानी, गाणेलुं पानी। कपड़े से छना हुआ पानी। यह श्रावक के पंचम गुणस्थान के योग्य (विकल्प आता है)। काठियावाड़ी भाषा में ऐसा है। गणेलुं पानी। छना हुआ। छना हुआ कहो। समझे न? **छना हुए जल का पान...** अर्थात् वस्त्र में छानकर उसका उपयोग (करना)। ऐसा शुभराग का भाव तप की भूमिका में यहाँ तप के कर्तव्य में यह लिया है। समझ में आया?

रात को भोजन का त्याग... पंचम गुणस्थान में षट्कर्म में रात्रिभोजन का त्याग। रात्रिभोजन (में) तो बहुत जीव-जन्तु मरते हैं। समझ में आया? लो! रात्रि में खाये नहीं और दूध और रबड़ी पीवे, ऐसा सुना है। ऐसा नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं, रात्रिभोजन का इतना राग मन्द पड़कर त्याग ही होता है। पंचम गुणस्थान के योग्य... मित्रसेनजी! दृष्टिपूर्क, भानपूर्वक उसे रात्रिभोजन का गृहस्थाश्रम के योग्य पंचम गुणस्थानवाले को रात्रिभोजन का त्याग (होता है)। बहुत जीव मरते हैं। कढ़ी-खिचड़ी खाता हो, दाल और सब्जी खाता हो, उसमें कितने जीव मरते हैं। उस प्रकार का बहुत... कोई कहे कि हम तो दीपक जलाकर (खाते हैं)। परन्तु जीवांत इतनी होती है, उसकी यत्ना हो नहीं सकते। समझ में आया? धर्मी जीव को रात्रिभोजन का त्याग होता है। उसकी भूमिका प्रमाण राग की ऐसी मन्दता आये बिना नहीं रहती। रात्रि में खाने की गृद्धि नहीं होती। समझ में आया?

अवश्य करना चाहिए। लो! **भोजन का त्याग भी...** देखो! भोजन में फिर चारों ही, हों! ... आहार, पानी ले, रबड़ी, सबका त्याग। समझ में आया? रात्रि में भुजिया उड़ावे और कन्दमूल के... कन्दमूल को क्या कहते हैं? कन्दमूल। आदु के, उस आलू के, आलू के। नहीं-नहीं, यह श्रावक के योग्य नहीं हो सकता। समझ में आया? आहाहा! ऐसे कन्दमूल, आलू, शकरकन्द की सब्जी ऐसा उसे नहीं हो सकता। रात्रिभोजन का त्याग होता है। समझ में आया? छोटे जीव कैसे आते हैं, मुँह में छोटी जीवांत (आ जाए)। उसमें चातुर्मास में तो मच्छर इतने बारीक कि ग्रास लेने जाए तो मच्छर ग्रास में चिपककर गिर जाए। खा जाए ग्रास में साथ में। समझ में आया? और यह बीड़ी।

मुमुक्षु : ऊपर पंखा रखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंखा रखे तो जीवांत गिरे, एकदम गिरे अन्दर उसमें। और यह तम्बाकू, बीड़ी में कितनी बारीक त्रस जीवांत होती है, यह बीड़ी पीवे तो त्रस की बीड़ी। धुआँ। समझ में आया? ... त्रस का त्याग चाहिए। जिसमें त्रस मरते हैं वह ... त्याग चाहिए। कहो, समझ में आया? यह तप के अन्दर कहा, देखा? यह तप की व्याख्या में लिया।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार की बात जैसी हो, वैसी तो कही जाए या नहीं? उसका व्यवहार श्रावक का ऐसा होना चाहिए। निश्चय का होवे, तब निश्चय का और व्यवहार का होवे, तब व्यवहार का, दोनों वस्तु उसके स्थान में होना चाहिए। समझ में आया? इसलिए तो यह अधिकार लिया है। एक बार वाँचन हुआ है तो फिर से इस बार लिया है। यह सब बहुत चला है न! वस्तु समझनेयोग्य है। ऐसे का ऐसा रात्रि में पिये और खाये... समझ में आया? रास्ते में कन्दमूल के और आलू के भुजिया खाये और अपन कहीं कुछ कर्ता-हर्ता नहीं। वह तो जड़ की क्रिया है। मर जाएगा। यह तुझे किसने कहा?

मुमुक्षु : अपने बचाव के लिये ऐसा बोलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; बचाव के लिये। यह तो क्रमबद्ध आनेवाला था तो आया। मर जाएगा। क्रमबद्ध (का बहाना निकालेगा तो)। क्रमबद्धवाले की दृष्टि कहाँ होती है? जिसे द्रव्य की क्रमबद्धपर्याय कहे, उसे जिसने माना है, उसकी दृष्टि ज्ञायकभाव पर स्थिर हुई होती है। उसकी दृष्टि राग और निमित्त पर नहीं होती। अमरचन्दजी! यह क्रमबद्ध... क्रमबद्ध करते हैं न? अब क्रमबद्ध में तो अकर्तापने की दृष्टि होती है। समझ में आया? हमारे कुछ नहीं। एक व्यक्ति कहे, माँस खाये तो क्या इस निश्चयवाले को। अरे! मर जाएगा। माँस और शराब का त्याग न हो, वहाँ मिथ्यादृष्टिपना है। समझ में आया? दृष्टि में विपर्यास और अनन्तानुबन्धी का लोभ जिसका हो तो ऐसे माँस और शराब को खाने (पीने) के भाव नहीं हो सकते। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे प्रतिदिन काम करना है या कोई कहे तो काम करना है ? उसे स्वयं को काम करना है या किसी के कारण से करना है ? ऐसा कि प्रतिदिन ऐसा कहनेवाले होंवे न तो हम समझ सकें, पालन कर सकें। कहनेवाला कब तक खड़ा होगा ? अन्दर में गर्मी न जगे और सिगड़ी के ताप में कब तक अन्दर गर्मी रहेगी। सिगड़ी कहते हैं न अग्नि की ? वह कहीं कोठे से बँधती है सिगड़ी ? गर्मी अन्दर में तेज के और मावा न खाकर गर्मी प्रगट करना चाहिए। ऐसी यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ की उग्रता करनी चाहिए। किसी का क्या काम है ? दुनिया उसे घर में। भगवान उपदेश भगवान में रहा। तू न करे तो भगवान का उपदेश क्या करेगा ? समझ में आया ?

अब २६वीं।

गाथा २६

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्।।२६।।

अर्थ : सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देश को तथा ऐसे पुरुष को और ऐसे धन को तथा ऐसी क्रिया को कदापि आश्रय नहीं करते जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खंडन होवे ॥२६ ॥

गाथा – २६ पर प्रवचन

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्।।२६।।

देखो ! यह तप में डाला है, हों ! ओहो ! सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्मात्मा को उस **देश को छोड़ देना चाहिए।** जिस देश में सम्यग्दर्शन को दिक्कत आवे, बाधा और व्रत को दिक्कत आवे, वह देश छोड़ देना चाहिए। देश-देश। देश का त्याग। यह परदेश, देखो

न! जहाँ परदेश माँस और शराब के खानेवाले, उनके साथ रहना और उन सब देश में श्रद्धा का ठिकाना नहीं रहता। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : करोड़ों रुपये पड़े रहे वहाँ उसके घर में। गोवा में। मुकुलभाई आये है न। यह तुम्हारे भाई की बात चलती है। क्या करना इसमें? वहाँ वह देश ही खराब है। वहाँ बात नहीं कहता था एक व्यक्ति? कि कन्दमूल में क्या जीव घुस गया? कन्दमूल में आलू (आवे) तो खाओ-खाओ आलू, कहे। अरे! उसमें अनन्त जीव हैं। उसमें जीव कहाँ गिर गये? अरे! जीव तो वह स्वयं अनन्त जीव है। त्रस की कहाँ बात चलती है। परदेश-देश जिसमें माँस और शराब और जिसमें अधर्म के स्थान (हों), धर्मी जीवों को उस देश को छोड़ देना चाहिए। समझ में आया?

जिसमें सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण हो और व्रत के भंग के कारण दिखते हों, ऐसे देश में रहना नहीं चाहिए। **'तं देशं'** कहो, समझ में आया? उस पुरुष को। ऐसे पुरुष को छोड़ देना चाहिए। कुगुरु, कुशास्त्र की ऐसी बातें करे कि जिसमें श्रद्धा को भंग कर डाले और व्रत के आचरण में नुकसान करे, ऐसे पुरुष को भी छोड़ देना चाहिए। छोड़ना अर्थात् उनके प्रति राग छूटे तो छोड़ा, ऐसा चरणानुयोग की पद्धति में कहने में आता है। समझ में आया? ऐसे पुरुष का संग छोड़ देना, जिसमें से श्रद्धा और राग व्रत में अन्दर में मलिनता दिखाई दे, वह संग नहीं करना। समझ में आया? शास्त्र के नाम को लेकर ऐसे कुतर्क घुसा डालेगा कि श्रद्धा भ्रष्ट हो जाएगा।

ऐसे धन को... ओहो! **'तत्स्वं'** है न? **'स्वं'** अर्थात् धन। सेठ! धन-धन। **'स्वं'** है न? भाई! **'स्वं'**। **'स्वं'** अर्थात् धन। उस धन को छोड़ देना कि इसमें तुमको पचास लाख मिलेंगे, इसमें इतने का व्यापार होगा। अरे! चल... चल...। धर्मात्मा श्रावक ऐसे धन को छोड़ देता है। हम भूखे पेट रहेंगे परन्तु ऐसे धन को हम संग्रह नहीं करेंगे। समझ में आया? देखो! एक स्त्री ऐसी है। वह पाँच करोड़ लेकर आती है। उसके साथ विवाह कर, भोग ले। हमको यह नहीं होगा। हमको—सज्जन को यह नहीं होगा। वह पाँच करोड़ हो या दस करोड़ हो, वह परस्त्री नहीं (होगी)। उसका संग छोड़ दे। लक्ष्मी मिलती हो, ऐसे अनाचरण सेवन करके, उस लक्ष्मी को भी छोड़ दे।

उस लक्ष्मी की दरकार नहीं करता। बापू! यह तो श्रावक के व्रत हैं। समझ में आया? धर्मी होकर वीतराग के मार्ग में चलना है, उसे कहते हैं कि ऐसे पुरुष को और ऐसे धन को छोड़ दे। भाग रखकर... नहीं रखते सब? माँस का व्यापार और यह डिब्बे बेचते हैं न? नहीं बेचते? क्या कहलाता है? बहुत ग्राहक होवे न अच्छे? लेने आवे तो माँस लेने आवे। वे डिब्बे माँसवाले होते हैं न, माँस भरे हुए? पैकबन्ध आते हैं। उस पैकबन्ध का धन्धा, उस धन को छोड़ दे। श्रावक को ऐसा धन्धा नहीं होता। मछली पैकबन्ध आती है। ग्राहक आवे न? दो चीज़ लिखी हो..

मुमुक्षु : गन्ध मारे...

पूज्य गुरुदेवश्री : गन्ध नहीं मारे परन्तु अन्दर... कितनी जीवांत पड़ी है, माँस है। श्रावक का वह व्यापार नहीं हो सकता। उसमें से करोड़ों की आमदनी होती हो, तो भी उस धन को छोड़ दे। कहो, समझ में आया? मलूकचन्दभाई! है इसमें?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि सब लहर करते हों, उसमें यह चिन्ता उत्पन्न करे। यह नहीं... यह नहीं... आहाहा!

'तत्कर्माणि' ऐसी क्रिया का कदापि आश्रय नहीं करे। समझ में आया? जिसे माँस के-शराब के व्यापार में से ऐसी क्रिया और उसमें से कुछ लाभ (होवे तो भी) वह क्रिया नहीं। भाई! अपन कहाँ काटते हैं? वह तो दूसरे लोग काटते हैं। अपने को तो सीधे बेचना है। अपने कहाँ? अपने को तो हुकम कर देना है कि इसे पाँच हजार का देना, दो हजार का माँस देना। अरे! मर जाएगा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम नहीं दे। नाम नहीं दे क्या? उसका दूसरा नाम दे। भाव में क्या है? परस्त्री का वह करे - दासापणा करे, वैश्यापना करे। और वैश्या करता हो, उसका पैसा लेकर स्वयं उसे मदद करे। ऐसी क्रिया श्रावक को नहीं हो सकती। समझ में आया? यह सवेरे सम्यग्दर्शन की बात चलती है और दोपहर में यह आचरण की बात चलती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ , ऐसा होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छोड़ देना परन्तु पहला... अभी तीव्र राग न छोड़े तो वह मन्द राग किस प्रकार छोड़ेगा? तीव्र राग छोड़कर उसे ऐसे मन्द राग आये बिना नहीं रहता। यह मधु का व्यापार... क्या कहलाता है? इत्र का व्यापार श्रावक को नहीं होता। एक बिन्दु में कितना पाप! ऐसे आचरण के कर्तव्य श्रावक नहीं करता। समझ में आया?

एक पत्र में आता है कि भूखे रहेंगे परन्तु हम ऐसे अनाचरण नहीं करेंगे। एक पत्र में आता है, श्रीमद् में आता है। ओहो! तुम्हें अच्छे वाक्य लिखे। पेट में भूखे रहेंगे परन्तु हम अनाचरण का सेवन नहीं करेंगे। ऐसे आचरण हमको न हो। समझ में आया? कहते हैं कि ऐसी क्रिया और सम्यग्दर्शन मलिन और व्रत में खण्डन हो, ऐसा आचरण न हो।

गाथा २७

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधैः।।२७।।

अर्थ : आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकों को भोगोपभोग परिमाणव्रत सदा करना चाहिए और विद्वानों को एकक्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना चाहिए।।२७।।

गाथा - २७ पर प्रवचन

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधैः।।२७।।

'बुधैः' देखो, शब्द आया। **ज्ञानियों को श्रावकों को भोगोपभोग प्रमाण व्रत सदा करना चाहिए।** कुछ भी एक बार खानेयोग्य चीज़ हो, भोगने योग्य, स्त्री, गहने,

वस्त्र का प्रमाण करके हमेशा उसका व्रत थोड़ा भी होना चाहिए। **और विद्वान...** बुद्धि। **विद्वानों को एक क्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना।** ऐसा त्याग तो उसे होना चाहिए। २८ (गाथा)।

गाथा २८

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः।
जन्मान्तरे ऽपि तच्छ्रद्धा तथा संवर्धते तराम्।।२८।।

अर्थ : आलस्यरहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए जिससे दूसरे-दूसरे जन्मों में भी उसकी श्रद्धा बढ़ती ही चली जाये॥२८॥

गाथा - २८ पर प्रवचन

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः।
जन्मान्तरे ऽपि तच्छ्रद्धा तथा संवर्धते तराम्।।२८।।

धर्मी को **आलस रहित होकर भव्य जीवों को उस तरीके से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए।** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। अपने स्वभाव का आश्रय करके और इस व्यवहार में भी ऐसे राग का भाव आये बिना नहीं रहता। **जिससे दूसरे -दूसरे जन्मों में...** ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान के संस्कार डाले (कि) भविष्य में भी वह सम्यग्दर्शन चला न जाए। समझ में आया? लम्बावे। वहाँ स्वर्ग में जाए, वहाँ भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के संस्कार रहे। **दूसरे-दूसरे जन्म में भी उसकी श्रद्धा बढ़ती चली जाए।** ऐसे रत्नत्रय का इसे जरूर आश्रय करना चाहिए।

मुमुक्षु : परम्परा...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह परम्परा। श्रद्धा और ज्ञान परम्परा रहे। ऐसी दृढ़ता और ज्ञान और चारित्र के संस्कार डालना चाहिए कि भविष्य में भी वे संस्कार खड़े रहें। क्या कहलाये भाई?

गाथा २९

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्य: परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितै:।।२९।।

अर्थ : जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार, जो उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले हैं, ऐसे परमेष्ठियों में विनय अवश्य करनी चाहिए तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र में और इनके धारण करनेवाले महात्माओं में भी अवश्य विनय करना चाहिए॥२९॥

गाथा - २९ पर प्रवचन

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्य: परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितै:।।२९।।

लो! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक धर्मात्मा को ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारकों के प्रति यथायोग्य विनय करना चाहिए। यह तप में डाला, देखा! अपने से धर्म में बढ़े हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में हों, उनका विनय **'यथायोग्यं कर्तव्य: परमेष्ठिषु' 'समयाश्रितै:'** वे धर्म को अवलम्बन कर रहे हुए हैं, उनकी इस प्रकार विनय करना, बहुमान करना। उनका अनादर करना नहीं। धर्म, धर्मी के बिना नहीं होता। ऐसे धर्मी के प्रति आदर और विनय तथा बहुमान उनका होना चाहिए। यह श्रावक का खास उसका कर्तव्य है। विशेष आयेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल एक, सोमवार, दिनांक - ०७-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - २९ से ३६, प्रवचन-१५

(पद्मनन्दि पंचविंशति का) छठवाँ अधिकार है। श्रावकाचार का वर्णन है। श्रावक का कैसा आचार होना चाहिए और उस श्रावक के संस्कार ऐसे आचार से बारम्बार उसके कषाय की मन्दता के होते हैं, इसलिए इसका नाम उपासक संस्कार भी दिया गया है। षट्कर्म की व्याख्या चलते हुए तप की व्याख्या है। षट्कर्म हमेशा (होते) हैं न।

बात तो यह है कि आत्मा... पहली बात यह ली थी, दूसरी गाथा से। बिल्कुल जहाँ विकल्प का करना ही नहीं है, ऐसा जो स्वभाव अन्तर में दृष्टि में आने से आत्मा का ज्ञाता-दृष्टापना प्रगट हो, तब से उसे सम्यग्दर्शन की भूमिका शुरु होती है। यह बाद की बात है। करना ही नहीं। मैं मुझे देखूँ, ऐसा विकल्प भी जहाँ नहीं है। मैं राग को देखूँ या पर को देखूँ, यह बात तो है ही नहीं। परन्तु मैं मुझे देखूँ, ऐसा जहाँ नहीं। देखनेवाला-जाननेवाला जाने और देखे, ऐसी कर्तृत्वबुद्धिरहित दशा हो, उसे प्रथम सम्यग्दर्शन की भूमिका कहने में आता है। समझ में आया? क्योंकि आत्मा तो अकेला चैतन्यसूर्य है। इससे उसके मूलस्वभाव में पर का करना या राग का करना, वह इसके स्वरूप में ही नहीं है। उसके द्रव्य में और उसके गुणस्वभाव में वह कभी गन्ध नहीं है। समझ में आया? ऐसा आत्मा अकेला चैतन्यसूर्य कि जो जानने-देखने का, देखे और जाने—ऐसा जहाँ स्थिर हो जाए... समझ में आया? मैं देखूँ और जानूँ—ऐसा भी नहीं। शोभालालभाई! यह भी नहीं। अमरचन्दजी!

देखने और जानने का स्वभाव, ऐसी चैतन्यमूर्ति, जिसमें विकल्प का उत्पन्न-उत्पन्न होना जहाँ नहीं, ऐसा चैतन्यसूर्य स्वभाव दृष्टि में आने पर ऐसा कहना, वह भी भेद है। परन्तु वह दृष्टि जहाँ ज्ञाता-दृष्टारूप से स्थिर हो जाए, ऐसी दृष्टि का नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसमें प्रगट हुआ ज्ञान, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान की भूमिकासहित पंचम गुणस्थान के योग्य श्रावक की दशा, स्वभाव में सावधानरूप से जरा विशेषरूप से स्व के प्रयत्न के झुकाव में जाने से जो कुछ शान्ति और स्थिरता के अंश विशेष सम्यग्दर्शन उपरान्त जो प्रगट हुआ, उसे पंचम गुणस्थान

की दशा कहा जाता है। समझ में आया? उसे षट्कर्म का सहज विकल्प अन्दर आता है। उसे चरणानुयोग की पद्धति में वह करता है, ऐसा व्यवहारनय से कथन की पद्धति आती है। आहाहा! सेठ! यह सब समझना पड़ेगा, हों!

कहते हैं, ऐसे आत्मा के रास्ते-पंथ में चढ़ा हुआ पंथी गृहस्थाश्रम में हो, राजपाट में हो, तो भी वस्तु के स्वभाव को जिस प्रकार से वस्तु, वस्तु के स्वरूप से है, उस प्रकार से दृष्टि और ज्ञान होने के उपरान्त स्वरूप में स्थिरता विशेष न हो, थोड़ी हुई, विशेष न हो, इससे ऐसे षट्कर्मों के शुभभाव सम्यग्दृष्टि श्रावक को आये बिना, हुए बिना नहीं रहते। उसमें पाँचवाँ बोल तप का चलता है।

पहला बोल—देव की सेवा। भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा, पूर्ण स्वयं को होना है न, इसलिए पूर्ण अपने विषय में है, पूर्ण स्वभाव जिसकी दृष्टि के विषय में है और पर्याय में जिसे पूर्ण होना है। ऐसे जीव को पूर्ण परमेश्वरता जिनकी प्रगट हुई, उनकी सेवा का भाव दिन-प्रतिदिन शुभराग वास्तव में तो उसके क्रम में उसकी भूमिका में आता है। उसे यहाँ ऐसा कहने में आता है कि उसे भगवान की पूजा हमेशा करना चाहिए। समझ में आया?

गुरु की सेवा। उसका भाव भी स्वयं से बढ़े हुए, गुण में अग्रसर, वे (देव) पूर्ण प्राप्त और यह गुण में अग्रसर, इनकी भी सेवा का भाव उसे दिन-प्रतिदिन आता है। सज्झाय। हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय करे। एक-दो लाईन (पढ़कर) कुछ कर गये, (ऐसा माननेवाले) बहुत आते हैं। हमारे षट्कर्म की प्रतिज्ञा है। पुस्तक पड़ी हो, एक पृष्ठ ले लेवे, दो लाईन फिरावे (माने कि) स्वाध्याय हो गयी।

मुमुक्षु : एक समय का भी धर्म हुआ न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु धर्म... एक समय का भी देखे, ऐसा होता है या नहीं? समझ में आया?

यह स्वभाव जो श्रद्धा-ज्ञान में प्रगट हुआ, उसे पूर्ण प्रगट नहीं हुई और पूर्णता स्वयं को प्रगट नहीं हुई, जिन्हें पूर्णता प्रगट हुई और पूर्णता प्रगट होने के पन्थ में स्थित गुरुओं की सेवा का भाव, साथ में शास्त्र क्या कहना चाहते है, उसकी विशेष निर्मलता

के लिये परालम्बी–परसत्तावलम्बी इस सज्झाय का बोध है। ऐसा भाव... अष्टपाहुड़ में तो ऐसा भी कहते हैं, ज्ञानी को इन सबको—व्यवहार को भी प्रयत्न द्वारा पुरुषार्थ से जानना चाहिए। ऐसा वह श्लोक आता है। मूल में श्लोक आता है। अष्टपाहुड़। समझ में आया? किस जगह आता है, यह कहीं सब याद है? कहीं है अवश्य। और एक बार बात भी हो गयी है। देखो! यह। इस वस्तु की मर्यादा में षट् द्रव्य, नव तत्त्व के भेद, देव–गुरु–शास्त्र का क्या कहना है, ऐसे शास्त्र का पठन का, स्वाध्याय का शुभराग उसे आये बिना नहीं रहता। इसलिए उसे स्वाध्याय करना चाहिए, ऐसा चरणानुयोग की पद्धति में आता है। समझ में आया?

संयम। प्रतिदिन जब उसे संसार के भोग के अन्दर पड़ा है, अशुभभाव है न, दृष्टि स्वभाव पर पड़ी है परन्तु अशुभभाव की बारम्बार लहरियाँ–तरंगें उठती है, इससे उसे संयम अर्थात् उसमें से इन्द्रिय दमन और छह काय की हिंसा से विमुख होना, ऐसा संयमभाव, शुभभाव उसके योग्य प्रतिदिन आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? ये चार (हुए)।

पाँचवें तप की बात अभी चलती है। तप की व्याख्या करते हुए यहाँ तक आया कि यथाशक्ति पर्व के दिन में उसे उपवास आदि शुभभाव करने का भाव करना। करना चाहिए।

मुमुक्षु : उपवास करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपवास की व्याख्या ही यह है कि आज मुझे आहार नहीं करना। यह कथनपद्धति ऐसी है। करना नहीं, अर्थात् उस ओर के झुकाव की वृत्ति आज मुझे नहीं है। नहीं क्यों? कि स्वभाव सन्मुख का जितना प्रयत्न में उत्साह है, उतना आहार को लेने का परसन्मुख का उत्साह मन्द पड़ गया है। ऐसा भाव विकल्प वाला, हों! अपवास करूँ, ऊनोदर करूँ, आहार थोड़ा लूँ—ऐसा भाव उसे आये बिना नहीं रहता। यह तो धर्म के मार्ग में चढ़े हुए पंथियों के पन्थ हैं। समझ में आया?

पश्चात् तो कहा कि जो अपने स्वरूप को सम्यग्दर्शन को मलिन अर्थात् विरोध करनेवाले हों अथवा व्रत की मलिनता में निमित्त हो, ऐसे देश को छोड़ देना, मनुष्य को

छोड़ना, यह लक्ष्मी ऐसी मिलती हो तो उस लक्ष्मी को छोड़ना। पाप के रास्ते से लक्ष्मी मिलती हो तो श्रावक को वह रास्ता छोड़ देना चाहिए। कहो, समझ में आया? आता है न एक? रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक श्लोक ऐसा आता है। श्रावक विचार करता है कि यदि मुझे मेरे स्वरूप की सम्पदा है तो फिर दूसरी सम्पदा हो या न हो, उसका क्या काम है? और स्वरूप की सम्पदा न हो तो दूसरी सम्पदा हो तो मुझे उसका क्या काम है? समझ में आया? सेठ! समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। दृष्टि में ऐसा विकल्प उसे शुभराग का आये बिना नहीं रहता। भगवान! मेरी सम्पदा मेरे पास है। अब यह सम्पदा कम हो या अधिक हो, उसके साथ मुझे क्या काम है? अर्थात् तीव्र पाप के रास्ते से लक्ष्मी आती हो तो उसे श्रावक छोड़ दे, त्याग करे। उस रास्ते पाप करके लक्ष्मी ले नहीं। समझ में आया? न आश्रित, ऐसा आया न?

पश्चात् भोगोपभोग में थोड़ा काल कम करे। पश्चात् रत्नत्रय का आश्रय करनेवाले दूसरे जन्म में उसकी श्रद्धा बढ़ती जाए। देखो! यह तप की व्याख्या। अपने आत्मा को शुद्ध श्रद्धा से संस्कार किया है, शुद्ध ज्ञान के संस्कार इतने डाले हैं कि जो संस्कार परभव में भी स्वर्ग में साथ में आते हैं। समझ में आया? स्वयं जहाँ रहनेवालाा है, वहाँ वह रहे, ऐसा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के संस्कार अन्दर करे, डाले, दृढ़ करे कि जन्मान्तर में भी वह स्मरण उसे आवे। सम्यग्दृष्टि जहाँ स्वर्ग में उत्पन्न हो, जहाँ जन्म हो... जन्म अर्थात्? उसे सिर पर वस्त्र आदि होते हैं, उसकी शय्या में बत्तीस वर्ष का युवक जैसे हो, वैसे दो घड़ी में देव उत्पन्न हो जाता है और एकदम स्मरण आता है कि ओहो! कहाँ था मैं, यह कहाँ आया? अरे! मेरी पुरुषार्थ में मन्दता रह गयी, इससे इस स्वर्ग के योग में-संयोग में आना पड़ा। मेरे आत्मा के संस्कार तो, मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी स्मृति उसे उत्पन्न होने पर शय्या में देव उत्पन्न हो। सम्यग्दृष्टि श्रावक तो स्वर्ग में वैमानिक में देवरूप से ही उपजता है। दूसरी गति उसे नहीं हो सकती। जहाँ उपजे वहाँ ऐसा... ओहो! हम तो आत्मा के आनन्द और ज्ञान के स्वामी। सहजात्मस्वरूप चैतन्य के स्वामी। हमारी अस्थिरता पूर्ण नहीं टली; इसलिए राग बाकी रहा, उसका पुण्य बँधा।

उसके फल में संयोग रहा, स्वभाव की अधूराई रह गयी। समझ में आया? ऐसी स्मृति स्वर्ग में भी उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान के संस्कार खड़े होते हैं। समझ में आया? ऐसे पक्के संस्कार डालना चाहिए।

एक गाली दी हो तो इसे कैसी याद रहती है? इसी प्रकार गुण याद रहना चाहिए, ऐसा कहते हैं। कोई गाली-गाली देते हैं न? विवाह प्रसंग में या (दूसरे प्रसंग में) पचास वर्ष में याद करे कि उस दिन लड़की के विवाह में तूने गाली दी थी, सब ५०० लोग बैठे थे, मुझे याद है। भान में... अरे! परन्तु यह याद (रह गया)? गाली को गाँठ बाँधी। गाँठ बाँधी कहा न?

(यहाँ तो) गुण को गाँठ बाँधा। अहो! मैं तो आनन्द, ज्ञानस्वरूप निर्विकल्प पदार्थ अकेला अनादि चैतन्य ज्ञायकसूर्य। ऐसे वहाँ जन्मते हुए इसे स्मरण में आ जाए। एकदम..! ओहो! भान लेकर गया है। ऐसे संस्कारसहित जाए, उसे यहाँ तप कहने में आता है। तप के अधिकार में यह वर्णन किया गया है। आहाहा! अब २९।

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः।।२९।।

जिनेन्द्र भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर के सिद्धान्त का अनुयायी है। अनुयायी। सर्वज्ञ परमेश्वर के कहे हुए सिद्धान्त, उनका अनुयायी। अन्तर में अविकारी वीतराग शुद्ध स्वभाव समय अर्थात् आत्मा, उसका अनुयायी हुआ है। '**समयाश्रितैः**' समझ में आया? भगवान ज्ञानस्वरूप चैतन्य, अकेला देखना-जानना, ऐसा जिसमें भेद भी नहीं। ऐसी मेरी चीज़ अनादि ऐसी ही है। थी, वैसी दृष्टि में आयी है। ऐसा जिसे भान हुआ है, वह कहता है, उसे वीतराग ने कहे हुए जैन सिद्धान्त का अनुयायी कहा जाता है।

आत्मा का अनुयायी हुआ है। सर्वज्ञ ने देखा, वह आत्मा। भगवान ने देखा आत्मा, विकल्प, कर्म और रागरहित देखा है। तुझे आत्मा कहा, वह उन्होंने कहा था। समझ में आया? भगवान की वाणी में ऐसा आया था कि तू अर्थात् कौन? तू अर्थात् ज्ञायक अनन्त आनन्द का कन्द-धाम, वह आत्मा। रागादि आत्मा या शरीरादि आत्मा या कर्म आदि (आत्मा) भगवान ने देखा नहीं, भगवान ने कहा नहीं, वस्तु में दूसरा है नहीं। समझ

में आया? ऐसे इस आत्मा के आश्रय से, समय के आश्रय से रहे हुए बाहर में जैन सिद्धान्त के भक्त होते हैं। वीतराग के सिद्धान्तों के भक्त होते हैं।

जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं, उन भव्य जीवों को योग्यता अनुसार... देखो! **'परमेष्ठिषु'** (शब्द है)। **'परमेष्ठिषु'। उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले...** पाँच परमेश्वर। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, उनका हमेशा विनय करे। इसके हृदय में उनका बहुमान रहा ही करे। ऐसा नहीं, यह दासानुदास रहे। ऐसा नहीं कि भगवान कौन? परमेश्वर कौन? ओहो! पूर्ण नहीं हुआ और पूर्ण हुए का, पंच परमेष्ठी का इसे हमेशा विनय होता है। समझ में आया? और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भी विनय करे। **'दृष्टिबोधचरित्रेषु'** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। पंच परमेष्ठी के अतिरिक्त। अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का बहुमान करे और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त दूसरे जीव हों, उनका भी बहुमान करे। पाँच परमेष्ठी का, अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त का बहुमान करे। उसमें भी अन्दर में ऐसे विकल्प तो है। यह बहुत ऊँचा, यह एक विकल्प है। समझ में आया?

अपना सम्यक् शुद्ध चैतन्य श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, यह उत्तम है, यह ऊँचा है, ऐसा विनय का विकल्प सम्यक् श्रावक को आये बिना नहीं रहता। पंच परमेष्ठी का विनय करे। भगवान कौन? बापू! ऐसा नहीं होता। भगवान का तो दासानुदास है। साधु का दासानुदास है। साधु हों उनका, हों! साधु किसे कहना, यह समझना। शोभालालभाई! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के... ...कहते हैं न? ओहो! इन सन्त के दर्शन! आहाहा! ऐसे पूर्ण आनन्द के अमरधाम में झूलते होते हैं। क्षण में विकल्प, क्षण में आनन्द, क्षण में विकल्प, क्षण में आनन्द। आहाहा! ऐसी आनन्द की भूमिका सन्तों को चारित्र की रमणतापूर्वक जिन्हें प्रगट हुई है, ऐसे सन्तों का ज्ञानी को विनय, श्रावक को बहुत विनय होता है, बहुमान होता है। समझ में आया? परन्तु ऐसा स्वरूप न हो और बाहर से माने, उनका विनय न करे, इसलिए गुरुओं का और ज्ञानी का अविनय करता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अमरचन्दजी!

इनके धारण करनेवाले महात्माओं के प्रति विनय अवश्य करना चाहिए। इसका

विशेष स्पष्टीकरण भावार्थ में अधिक लिखा है। बाकी अन्तिम गाथा में आता है, देखो! आयेगा। ३६वीं है न? अन्तिम... पूरा होता है उसमें।

समयस्थेषु वात्सल्यं, स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मान:, ते धर्मस्य परान्मुखा:।।३६।।

यह दान में व्याख्या की है। अब जो दान की व्याख्या आयेगी न? उसका यह अन्तिम श्लोक लिया है। समझ में आया? **'समयस्थेषु'** सच्ची श्रद्धा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो रहे हुए हैं। शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। स्वमत-स्थेषु। उसमें रहे हुए हैं। **'वात्सल्यं'**। जैसे गाय को बछड़े के प्रति प्रेम है, उसी प्रकार धर्मात्मा को साधर्मी के प्रति प्रेम होता है, वात्सल्य होता है। समझ में आया?

'स्वशक्त्या ये न कुर्वते' वापस ऐसा शब्द पड़ा है, हों! **साधर्मी सज्जनों में शक्ति के अनुसार... 'न कुर्वते' 'बहुपापावृता'**। देखो! दान की व्याख्या में यह कहा है। **परान्मुख है अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं है;...** प्रबल पाप से ढँका हुआ उसका आत्मा है। **इसलिए भव्य जीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए।** समझ में आया? देवीलालजी! व्यवहार की रीति भी उसके योग्य भूमिका प्रमाण होती है। समझ में आया? वह स्वच्छन्दी नहीं हो जाता। उसे अपनी अपेक्षा गुण में अधिक देखे तो उनका बहुमान (आता है)। **'समयस्थेषु वात्सल्यं'** जैसे गाय को अपने बच्चे में प्रेम आता है; उसी प्रकार। गाय प्रेम में ऐसा नहीं देखती, यदि बाघ बच्चे को खाने आया हो तो सामने आ पड़ती है। भाई! उसके बच्चे को कोई बाघ या सिंह खाने आया हो तो सामने सिर मारती है। विचार नहीं करती कि यह मेरी ताकत है या नहीं? उसके प्रेम में या उसके प्रेम की आड़ में वह देख नहीं सकती।

इसी प्रकार धर्मात्मा को सच्चे धर्मी—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त, उनका बहुमान और विनय, वात्सल्य, प्रेम अन्दर आये बिना नहीं रहता। दुनिया की दरकार छोड़कर (वात्सल्य आता है), हों! ऐसा। बाघ सामने पड़ता है न? मरण की दरकार छोड़ देती है। उसी प्रकार दुनिया क्या कहेगी? दुनिया कैसा मानेगी? दरकार छोड़कर दान के अधिकार में भगवान पद्मनन्दि आचार्य ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान,

चारित्र को प्राप्त, उनका वात्सल्य और प्रेम करे। स्वशक्ति अनुसार। **'ते धर्मस्य परान्मुखाः'** नहीं तो वह धर्म से पराङ्गमुख है। यह दान के अधिकार में वर्णन किया है। कहो, समझ में आया?

अब, अपने तीसवाँ श्लोक।

गाथा ३०

दर्शनज्ञानचारित्र, –तपः प्रभृति सिद्धयति।
विनयेनेति तं तेन, मोक्षद्वारं प्रचक्षते।।३०।।

अर्थ : विनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है; इसलिए उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं। अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिए॥३०॥

गाथा - ३० पर प्रवचन

दर्शनज्ञानचारित्र, –तपः प्रभृति सिद्धयति।
विनयेनेति तं तेन, मोक्षद्वारं प्रचक्षते।।३०।।

यह तप के भेद में विनय को तप में डाला है। है विकल्पात्मक विनय। निश्चयविनय। विशेष—नय। आत्मा के पूर्ण स्वभाव का ज्ञान, ध्यान, आनन्द और अपने बहुमान में रहना, वह अन्दर का निश्चय स्वभाव का विनय है। परन्तु ऐसा विकल्प रागी प्राणी है; इसलिए उसे धर्मात्मा के प्रति बहुमान—विनय का भाव, जिसे यहाँ तप में गिनने में आया है, (वह आये बिना नहीं रहता)। क्यों? उसमें निर्मानपना आता है। इतनी दुनिया की दरकार छोड़नी पड़ती है। इतना बड़ा व्यक्ति होकर ऐसा? अमुक होकर ऐसा? एक हरिजन हो और सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्त हो, तो भी धर्मी को उसके प्रति बहुमान और आदर आये बिना नहीं रहता। नरभेरामभाई! समझ में आया? लो, हम बड़े बुद्धिवाले, हम बड़े रूपवान, हमारे पास पाँच-पचास की पूँजी। पाँच-पचास लाख, हों!

पाँच-पचास रुपये अभी चलते हैं, ऐसा नहीं। पाँच-पचास लाख की पूँजी तथा यह और एक साधारण। ओहो! आत्मा कहाँ साधारण है। शरीर भले हरिजन का हो , शरीर भले स्त्री का हो। शरीर भले नपुंसक भी कोई सम्यग्दर्शन पाता है। नारकी नपुंसक है। नारकी पाता है या नहीं? श्रेणिक राजा अभी नपुंसक है। क्षायिक समकिती हैं। आहाहा! भाई! शोभालालभाई! पहले नरक में वह श्रेणिक राजा। अमरचन्दभाई! गये हैं न वहाँ? क्षायिक समकित। तीर्थंकर होनेवाले हैं। एक ही देह बाकी है। तीर्थंकर की अन्तिम। आहाहा! तथापि वहाँ अभी नपुंसक है। उन्हें स्त्री, पुरुष वेद नहीं है। क्षायिक समकिती धर्मात्मा है, धर्मी है। समझ में आया? उनका ज्ञानी को बहुमान आये बिना नहीं रहता। आहाहा!

नारकी। यह शरीर ऐसा है, शरीर में टुकड़े हुए। वह जड़ का है, सुन न! वह अखण्ड हुआ है यह? जिसमें दृष्टि से चैतन्यबिम्ब अखण्डपने की (श्रद्धा हुई है) । अखण्ड एकरूप अभंग अभेद, ऐसा अनुभव हुआ। जाओ! मोक्ष के पन्थ में। समझ में आया? नारकी का शरीर हो, हरिजन का शरीर हो, चाण्डाल का शरीर हो, स्त्री का शरीर हो। अरे! ढोर-गधा हो। बाहर में गधा अन्दर में भगवान। आहाहा! भाई! नवनीतभाई! शरीर ऐसा मिल गया। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक पड़े हैं। सुना है? किसमें आता है? यह बात किसमें आती है? यह भूल गये। खामणा में नहीं आता? उसे भूल गये? खामणा में आता था, ढाई द्वीप के बाहर, ढाई द्वीप में।

मुमुक्षु : वह तो स्थानकवासी के खामणा में न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह याद नहीं आया, इसलिए इसने बहाना निकाला। याद नहीं आया, इसलिए बहाना निकाला इसमें। बाद में याद आया। हसुभाई कहाँ गये? कहो, समझ में आया? आहाहा!

द्वाई द्वीप के बाहर असंख्य सिंह, असंख्य हाथी, असंख्य चिड़िया, असंख्य तोता, असंख्य मगरमच्छ समकिती है। पाँचवें गुणस्थानवाले हैं। ढाई द्वीप के बाहर। ढाई द्वीप में तो श्रावक थोड़े संख्यात हैं। बाहर असंख्यात हैं। ओहो! वहाँ से स्वर्ग में जाकर, अन्त में मनुष्य होकर, केवल (ज्ञान) लेकर कितने ही मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! अमरचन्दभाई! है या नहीं? ढाई द्वीप के बाहर। असंख्यात श्रावक ढोर। शरीर, चमड़ी

ढोर की। अन्दर भगवान का भान हुआ। उसे भगवान का भान हुआ है। उसे परमेश्वर प्रगट हो गया है। समझ में आया? पाँचवें गुणस्थानवाले, हों! पंचम गुणस्थानवाले। वे असंख्य, चौथेवाले ढाई द्वीप के बाहर असंख्य हैं। भगवान के शास्त्र में (आता है)। खामणा में आता है, खामणा में। और इसमें भी—धवल में जगह-जगह आता है। असंख्य द्वीप-समुद्र। एक स्वयंभूरमण असंख्य योजन का लम्बा-चौड़ा है। असंख्य योजन में पानी। उसमें असंख्यात समकिती पड़े हैं। पानी में पड़े हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हवा में है। उसमें क्या? पत्थर में है। वहाँ बाहर में क्या है? यहाँ तो बँगला और खाने-पीने के साधन और मोटरें और कितने ही इसे ... होता हो। आहाहा!

इस प्रकार चैतन्य का आश्रय किया है, चैतन्यरत्न को झंझोरकर जगाया है। समझ में आया? विष्टा के टोकरे में भी यदि रत्न पड़ा हो, तो भी वह रत्न ही है। अमरचन्दभाई! आहाहा! विष्टा के टोकरे में करोड़ का हीरा पड़ा हो तो, हीरा, हीरा ही है। उसी प्रकार चमड़ी पशु की हो परन्तु जहाँ आत्म हीरा का भान हुआ तो वह हीरा ही है। पशुगति में हो, नरक में हो, देव में हो, अरे! व्यन्तरी देवी भी समकित पाती है। समझ में आया? वहाँ जन्मती है, तब भले मिथ्यात्व लेकर जाए, परन्तु पश्चात् कोई भगवान के दर्शन आदि में आकर (समकित पाती है)।

मुमुक्षु : देव में तो समकित पाने का...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... भगवान के दर्शन में आवे। उसमें कोई प्राणी अन्दर उल्लास... उल्लास... उल्लास... उल्लास... ओहोहो! ऐसा प्रभु मेरे पास डोलता है और मैं कहाँ खोजने जाता था। ऐसा प्रभु मेरे पास पड़ा है, मैं कहाँ खोजने जाता था। इस प्रकार उल्लास में आकर अन्दर डूब जाता है, एकदम! समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसे **'दर्शनज्ञानचारित्र,-तपः प्रभृति सिद्धयति, विनयेनेति' तप आदि की प्राप्ति होती है...** ऐसे विनय से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होता है, चारित्र प्राप्त होता है, इच्छानिरोध होता है। **'विनयेनेति तं**

तेन, मोक्षद्वारं प्रचक्षते' इसलिए भगवान उसे मोक्ष का द्वार कहते हैं। विनय को मोक्ष का द्वार (कहते हैं)। आता है न? क्षमा, वह उत्तम दरवाजा... नहीं कहीं कहा? कहाँ? वडवा। क्षमा। खबर है यह क्षमा की बात। क्षमा, वह मोक्ष का भव्य द्वार है। यहाँ विनय को '**मोक्षद्वारं प्रचक्षते**' (कहा है)। भगवान पद्मनन्दि आचार्य मुनि सन्त छठवें-सातवें में झूलनेवाले आनन्दकन्द में झूलनेवाले मुनि हैं। वे कहते हैं कि विनय मोक्ष का द्वार है। उस द्वार से मोक्ष में जाया जा सकता है। बहुमान... बहुमान... ओहोहो! समझ में आया?

यह तप का अधिकार कहा। अब षट्कर्म में छठवाँ रहा। दान... दान। अब दान भी दिन-प्रतिदिन (होता है), हों! एक दिन दो ग्रास दिये और दान (किया), ऐसा नहीं। अब यह दान का जरा कठिन आयेगा। वहाँ से ईशारा हो गया अन्दर में।

गाथा ३१

सत्पात्रेषु यथाशक्ति, -दान देय गृहस्थितैः।
दानहीनाभवेत्तेषां, निष्फलैव गृहस्थता।।३१।।

अर्थ : धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तमपात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों को गृहस्थपना निष्फल ही है॥३१॥

गाथा - ३१ पर प्रवचन

सत्पात्रेषु यथाशक्ति, -दान देय गृहस्थितैः।
दानहीनाभवेत्तेषां, निष्फलैव गृहस्थता।।३१।।

धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को शक्ति के अनुसार दान भी अवश्य देना चाहिए... है शुभभाव। भानसहित, कर्तृत्वबुद्धि रहित। भानसहित कर्तृत्वबुद्धि रहित। परन्तु व्यवहारनय से उसका परिणमन है, इसलिए दान देने का भाव करता है,

ऐसा दिन-प्रतिदिन उसका कर्तव्य है, ऐसा आवश्यक के कर्तव्य में कहने में आता है। मैं करूँ, करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि नहीं है। परन्तु राग का परिणमन है, इसलिए परिणमे, वह कर्ता—ऐसा कहकर (करता है, ऐसा कहने में आता है)। अमरचन्दभाई! मैं करूँ, ऐसी बुद्धि नहीं है। परन्तु परिणमन है, वह कर्ता, परिणमे वह कर्ता—यह अपेक्षा लेकर ज्ञानी भी पुण्यभाव को करता है, ऐसा कहने में आता है। यह चरणानुयोग की पद्धति की रीति है। ...चन्दभाई! कहो, समझ में आया इसमें? देखो! क्या कहते हैं?

धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को... सम्यग्दृष्टि हो, श्रावक हो; सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है, मुनि उत्तम पात्र है। उन्हें **शक्ति के अनुसार...** भाषा (है)। विशिष्टता यहाँ है। **'यथाशक्ति'** पद है न? वहाँ विवेक है। **'यथाशक्ति'** शब्द पड़ा है न? भाई! इसका अर्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक है, उसे दान में यथाशक्ति प्रमाण में करे, ऐसा उसे विवेक होता है। समझ में आया? अपनी योग्यता अनुसार। पाँच हजार की पूँजी हो और पाँच हजार दे देवे तो भी वह शक्ति प्रमाण नहीं है। समझ में आया? पाँच लाख की पूँजी हो और पाँच रुपये दे तो भी वह शक्ति प्रमाण नहीं है।

यहाँ शक्ति प्रमाण (कहा) उसमें पूरा महा विवेक है। उसमें आता है न? भाई! सोलहकारण भावना। नहीं? तीर्थंकर गोत्र बँधे, उसमें यथाशक्ति तप त्यागः। यह विवेक का बोल है। सोलह प्रकार है तो विकल्प-राग। क्योंकि दर्शनशुद्धि से कहीं तीर्थंकर गोत्र नहीं बँधता। दर्शनशुद्धि में ऐसा एक विकल्प उठा है, उससे तीर्थंकर गोत्र बँधता है। उसमें सोलह बोल में एक बोल लिया है कि यथाशक्ति तप त्यागः। शक्ति प्रमाण तप करे और शक्ति प्रमाण त्याग करे। समझ में आया? एकदम उछल जाए और हठ से करे, वह ज्ञाता-दृष्टा में नहीं हो सकता। चन्दुभाई! समझ में आया इसमें? उसका पुरुषार्थ ज्ञाता-दृष्टा में सहजरूप से कितना रहता है और सहज हठ बिना उस भूमिका के योग्य तप और त्याग की योग्यता कितनी है, इसका ज्ञानी को विवेक होता है। एकदम मर जाए, संथारा करके तड़पे और मरे, वह ज्ञानी को नहीं हो सकता। छोड़ दो, शरीर ऐसा है। भाई! शक्ति देखो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखो। खोजकर, तेरा पुरुषार्थ कितना

काम करता है ? कितना आगे बढ़ सकेगा ? वहाँ से आगे जाकर वापस हटना न पड़े, ऐसे यथाशक्ति श्रावक और त्याग और तप में विवेक रखता है।

इसी प्रकार दान में यथाशक्ति। यथाशक्ति के दो अर्थ हैं। शक्ति अधिक देने की हो और कम दे तो यथाशक्ति से नहीं दिया। समझ में आया ? **शक्ति के अनुसार दान भी अवश्य देना चाहिए। क्योंकि बिना दान के गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल है।** इसमें कुछ फल नहीं है। उसमें आया था न ? पहले पाँचवीं गाथा कही थी। पाँचवीं में एक शक्ति आती है वहाँ, हों ! श्रावक में। श्रावक का है न ? पाँचवीं। गाथा पाँच। पाँच है न ? शक्ति शब्द पड़ा था न ? शक्ति शब्द है, भाई देखो ! शक्ति है दूसरे पद में। पृष्ठ २१८, श्रावक के अधिकार में (देशव्रतोद्योतन अधिकार की) पाँचवीं गाथा।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालन करना, अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का धारण करना, दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत तथा दशोवगाशिक आदि चार शिक्षाव्रत है, इन सात शीलव्रतों का पालन करना, रात में खाद्य-स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार का त्याग करना, स्वच्छ कपड़े से छाने हुए जल का पीना, शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण करना,... शक्ति के अनुसार। अपनी शक्ति देखे, उसके प्रमाण में मौन आदि व्रत को शक्ति प्रमाण धारण करे। दूसरे की देखादेखी के नहीं करे, हठ से नहीं करे, देखादेखी से नहीं करे। देखो ! यह उसका विवेक है। त्याग में, तप में, दान में और व्रत में सबमें शक्ति ली है। भाई ! तीर्थंकर में त्याग और तप लिया, यहाँ व्रतादि में लिया, दान में शक्ति में लिया। सर्वत्र विवेक बतलाते हैं।

अपना ज्ञान, दर्शन में भान होने पर भी कितनी स्थिरता मेरी सहज रहती है और विकल्प की कितनी मर्यादा देने-लेने में स्थिर नहीं होता, उसका विवेक करके, उस व्रत को यथाशक्ति धारण करता है। एकदम हड़बड़ करके ले लेवे कि लाओ, हम ले लेते हैं। हुडहुड हमारी गुजराती भाषा है। एकदम।

मुमुक्षु : हुडाहड कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं ? हुडाहड। लो, हुडाहुड कहते हैं। एकदम हुडाहुड करे कि करो नियम।

मुमुक्षु : हरिफाई चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हरिफाई।

स्वयं शक्ति को देखकर करता है। पश्चात् १६वीं में कहीं डाला है। १६, १७, १८ है। १६ में यथाशक्ति है। **'शक्त्या'** है, देखो! दान का अधिकार है न? श्रावक का, हों! श्रावक का अधिकार है। २२५ पृष्ठ। १६वीं गाथा। **भूतकाल में बड़े-बड़े राजा, पुत्र को राज्य देकर, याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर, अनशनादि उत्तम तपों का आचरण कर, अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण एक दान ही है...** गृहस्थाश्रम की बात लेनी है न। शुभभाव की। जिस अपेक्षा से जहाँ है, (वहाँ उस अनुसार बात करते हैं)। **दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है...** राग की मन्दता, उसमें तीव्र राग टलता है और स्वभाव सन्मुख की दृष्टि है। इसलिए क्रम-क्रम से जैसे यहाँ तीव्र राग मिटाकर मन्द राग करता है, मन्द राग मिटाकर वीतराग होगा। इसलिए उसे क्रम से उससे मोक्ष होता है—ऐसा व्यवहार से कहने में आया है। समझ में आया? शब्दों को पकड़ते हैं। आहाहा! देखो! वापस क्या कहा है?

अतः विद्वानों को चाहिए... 'बुधैः' शब्द पड़ा है न? **'प्रथमतो, दानं निदानं बुधैः'** ज्ञानियों को **'बुधैः शक्त्या'** वापस ऐसा है, हों! **धन तथा जीवन को जल के बुलबुले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर,...** धन और जीवन तो पानी का बुदबुदा है। परपोटा समझते हो? पानी में बुदबुदे होते हैं। हवा लगे और बदल जाएगा। इसी प्रकार आयी हुई लक्ष्मी और जीवन क्षण में फू... हो जाएगा। ऐसा समझकर **सर्वदा शक्ति अनुसार उत्तमादि पात्रों को दान देवें।** शक्ति अनुसार। देखो! यह विवेक शब्द प्रयोग किया है। आचार्य महाराज पद्मनन्दि व्रत की बात करते हैं, दान की सब बात करते हैं परन्तु वहाँ विवेकसहित उसकी योग्यता-शक्ति कितनी है, तत्प्रमाण करते हैं। किसी की देखादेखी करके एकदम पड़े, फिर हाय... हाय... सहन नहीं होता, अब क्या करना? ऐसा नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : शक्ति का माप कैसे निकालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शक्ति का माप स्वयं करे। दूसरे से कहाँ करना था।

१७वीं में भी ऐसा है, देखो! **'यथर्द्धि'** है न? दूसरे पद में तीसरा शब्द। **'यथर्द्धि'** है। अर्थात् कि अपनी ऋद्धि प्रमाण दान दे। १७वीं गाथा है, भाई! **अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर भी जो मनुष्य, मोक्ष के लिये उद्यम नहीं करते हैं, घर में ही पड़े रहते हैं; वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं। जिस घर में दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है। ऐसा भलीभाँति समझकर, अपने धन के अनुसार...** धन के अनुसार **भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान करना चाहिए।** लक्ष्मी अनुसार राग घटाकर (दान देना चाहिए)। हमेशा कैसे हजार, पन्द्रह सौ, दो हजार की आमदनी कितनों को होती है। अधिक होवे उसकी खबर अपने को नहीं, परन्तु होती है न कितनों को? बहुतों को होती है, लो! ...भाई! किसी को पाँच-पाँच हजार की एक दिन की आमदनी, उसको दो-दो हजार की आमदनी, उसको तीन-तीन हजार की एक दिन की, हों! उसमें कोई दान देने का है या नहीं? आमदनी लाकर घर में ही डालनी है?

धर्मी जीव को विवेकवन्त को **'यथर्द्धि'। 'यथर्द्धि'** शब्द पड़ा है। जैसी उसके धन और लक्ष्मी की योग्यता हो, उस धन के अनुसार **भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान...** अर्थात् अनेक प्रकार से। अभयदान, ज्ञानदान, औषधदान, यह आयेगा इसमें। समझ में आया? उसे देना। **उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।** व्यवहार से ऐसे कथन चरणानुयोग में आते हैं। उन्हें पकड़ बैठे कि यहाँ राग से मोक्ष कहा है। मुनि को आहार देने से मोक्ष (होता है)। भाई! सुन तो सही अब। मुनि परद्रव्य है। उन्हें आहार देने का लक्ष्य है, वह शुभराग है। उस शुभराग से संवर और निर्जरा कभी नहीं होती। परन्तु अन्दर दृष्टि का भान है, क्रमशः यह राग भी टालकर मुझे स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति करनी है। इसलिए इसे परम्परा से, जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार से कहा, ऐसे इस राग को बन्ध के अभाव का कारण कहा है। व्यवहार से कहा है, वास्तविक है नहीं। कहो, समझ में आया इसमें?

१८ गाथा में भी कुछ है। **'सामर्थ्ये सति'** है न? **जो मनुष्य समर्थ होने पर,... 'सामर्थ्ये'** है न दूसरी लाईन में? ये शब्द डालने का इन्हें विवेक बहुत है। **'सामर्थ्ये सति' निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं,...** शक्ति होने पर भी भगवान के

दर्शन नहीं करता। **न उनका स्मरण करते हैं, न उनकी पूजा करते हैं, न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान देते हैं; उन मनुष्यों का गृहस्थाश्रम, पत्थर की नाव के समान है। 'पाषाणनावा'** है न अन्दर शब्द? पत्थर की नाव। आचार्य हैं, सन्त हैं, मुनि हैं जंगल में। परन्तु राग की मन्दता करने की बात करते हैं न। इसके षट्कर्म में इस श्रावक को कर्तव्य होता है। पूरा दान का बड़ा अधिकार लिया है।

पापरूपी कुएँ की भेखड़ में भरा हुआ, ऐसा पाठ है। भेखड़ समझे हो? कुएँ में अन्दर होती है न? कुएँ के अन्दर। गहरे-गहरे अन्दर भेखड़ होती है। उसमें पैर गिर गया हो तो निकल नहीं सकता। आचार्य कहते हैं, पाप-कंजूसाई रूपी भेखड़, कुएँ की भेखड़ में पैर गिर गया हो, उसके उद्धार के लिये मैं दान का अधिकार कहूँगा। समझ में आया? है न दान का? कितना है यहाँ? दान का कहाँ लिया? दान में पहली गाथा है न? पहली गाथा है, देखो! चौथी गाथा है। ११३ पृष्ठ।

प्राप्तेऽपिदुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितौ।
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये,
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किंचित्।।४।।

अहो! **अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर,...** है न? **स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जीवन, यौवन...** क्षण में फूट जाएगा, समाप्त हो जाएगा। ऐसे **मनुष्य, लोभरूपी कुएँ में गिरे हुए हैं,...** भेखड़ की पोल होती है न? **गिरे हुए हैं, उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूँगा।** दान का अधिकार। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें?

इसी प्रकार १७ में कहा न? पत्थर की नाव समान है। **गृहस्थाश्रम में रहनेवाला गृहस्थ भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं। डूबकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आचार्य उपदेश करते हैं, भव्य जीव गृहस्थाश्रम को अपने जीवन, धन को पवित्र करना चाहिए।'** पवित्र धन, गृहस्थ कुछ होता नहीं। परन्तु उसमें राग की मन्दता से निमित्तपना उसमें आता है, इसलिए धन को पवित्र किया, ऐसा उपचार से कहने में

आता है। जड़ कहाँ पवित्र होता था? और उसमें दान का भाव शुभ है, वह भी व्यवहार पवित्र है। वास्तव में तो वह मलिन भाग है। परन्तु यहाँ गृहस्थाश्रम की स्थिति में पाप के बहुभाग से बचने के लिये ऐसे शुभभाव को पुण्य अर्थात् व्यवहार पुण्य को पवित्र कहता है। वास्तविक पुण्य तो आत्मा के पवित्र स्वभाव को पवित्रता कहते हैं। कहो, समझ में आया?

३१। दान यथाशक्ति देना। लो। **धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को शक्ति के अनुसार दान भी अवश्य देना चाहिए। क्योंकि बिना दान के गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल है।** ३२ (गाथा)

गाथा ३२

दानं ये न प्रयच्छन्ति, निग्रन्थेषु चतुर्विधम।
पाशा एव गृहास्तेषां, बन्धनायैव निर्मिताः।।३२।।

अर्थ : जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उनके लिए घर जाल के समान केवल बाँधने के लिए ही बनाये गये हैं, ऐसा मालूम होता है॥३२॥

गाथा – ३२ पर प्रवचन

दानं ये न प्रयच्छन्ति, निग्रन्थेषु चतुर्विधम।
पाशा एव गृहास्तेषां, बन्धनायैव निर्मिताः।।३२।।

जो पुरुष, निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र... चार प्रकार के दान है न? नहीं देते। शास्त्रदान। **इन चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उन्होंने अपने घर, जाल के समान केवल बाँधने के लिये ही बनाये हैं, ऐसा मालूम होता है।** कड़क, भाषा भी कड़क। मुनि उपदेश करते हैं, उसमें जरा कड़काई करते हैं। करुणाबुद्धि है, भाई! ऐसा मनुष्य देह मिला, भाई! प्रभु! और इतनी भी राग की मन्दता

नहीं की तो तूने क्या किया ? जन्मकर क्या किया ? समझ में आया ? पशु भी आटा खाता है, पशु भी मैथुन सेवन करता है। इस परिग्रह को संग्रह करता है, चींटियाँ भी संग्रह करती है। यह चींटियाँ होती है न ? चींटियाँ। वे भी... संग्रह करती हैं। उनमें और तुझमें क्या अन्तर पड़ा ?

कहते हैं कि यथाशक्ति आहार, औषध, अभय, शास्त्र का दान दे। नहीं तो घर जाल समान है। फँसाने के लिए जाल है। चौरासी के अवतार में फँसने के लिए संसार है। नाम दिये हैं न फिर ? ३३।

गाथा ३३

अभयाहारभैषज्य, –शास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं, गृही श्लाघ्यः कथं न सः।।३३।।

अर्थ : जिस गृहस्थ के अभयदान, आहारदान, औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है, वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य हैं ? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंसा करता है इसलिए ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिए।।३३।।

गाथा - ३३ पर प्रवचन

अभयाहारभैषज्य, –शास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं, गृही श्लाघ्यः कथं न सः।।३३।।

भाषा (भी क्या करे ?) चरणानुयोग की पद्धति है। **जिस गृहस्थ के द्वारा अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को अत्यन्त सुख होता है... 'ऋषीणां जायते सौख्यं'**। अर्थात् कि उन्हें आहार मिलता है, इतना शुभभाव वहाँ उसे हुआ है न ? इसलिए इन्हें भी वहाँ शरीर में अनुकूल निमित्तरूप है। अर्थात् **'ऋषीणां जायते सौख्यं'** (कहा है)। चरणानुयोग की पद्धति।

'गृही' वह गृहस्थाश्रम क्यों श्लाघ्य नहीं होगा? वह गृहस्थाश्रम **'श्लाघ्यः कथं न सः'**। वह गृहस्थाश्रम प्रशंसनीय क्यों नहीं होगा? ऐसा कहते हैं। वह श्लाघनीय है। अपने पहले कह गये थे, २१ गाथा।

जो कोई धर्मात्मा आत्मा के ज्ञान, दर्शन सहित ऐसे दानादि के भाव करता है, वह मनुष्य को सम्मत वन्द्य क्यों नहीं होगा? ऐसा २१ गाथा में कहा है। वह लोक को मान्य क्यों नहीं होगा? प्रशंसनीय क्यों नहीं होगा? होगा ही। भले गृहस्थाश्रम में पड़ा हो, परन्तु ऐसे भाववाला जीव धर्मात्मा जगत को श्लाघनीय है—प्रशंसनीय है, वन्द्य है, स्तुति करनेयोग्य है। यह २०-२१ गाथा में आ गया है, पहले कह गये हैं।

मुमुक्षु : अभयदान...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभयदान (अर्थात्) किसी प्राणी को नहीं मारना। है तो विकल्प। मार शके, न मार सके, इसका प्रश्न अभी नहीं है। उस पर को मार सकता है या जिला सकता है, यह आत्मा की ताकत नहीं है, परन्तु पर प्राणी को जिलाने के लिये विकल्प उठे कि इसे सुख दूँ अथवा मरे नहीं, दुःख न हो—ऐसे विकल्प को व्यवहार से अभयदान कहा जाता है। निश्चय से आत्मा में रागरहित की अन्दर में स्थिरता होना, उसे अभयदान कहते हैं। आत्मा को रागरहित स्थिरता करना, उसका नाम भगवान परमार्थ से अभयदान कहते हैं। परन्तु स्वयं को जैसे अभय दे, वैसे दूसरे जीव को भी न मारने का भाव ज्ञानी को होता है और उसे अभयदान कहा जाता है। कहो, समझ में आया? वे श्लाघनीय क्यों नहीं होंगे? यह ३३ (हुई)। ३४ (गाथा)।

गाथा ३४

समर्थोऽपि न यो दद्यात्, यतीनां दानमादरात्।
छिनत्ति स स्वयं मूढः, परत्र सुखमात्मनः।।३४।।

अर्थ : समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता, वह मूढ पुरुष आगामी जन्म में होनेवाले अपने सुख को स्वयं नाश करता है।।३४।।

गाथा - ३४ पर प्रवचन

समर्थोऽपि न यो दद्यात्, यतीनां दानमादरात्।
छिनत्ति स स्वयं मूढः, परत्र सुखमात्मनः।।३४।।

भाषा वापस विवेकवाली इतनी। आदर से; ऐसा का ऐसा आहार दे देवे, ऐसा नहीं। **समर्थ होकर भी जो पुरुष, आदरपूर्वक यतीश्वरों को (मुनियों को) दान नहीं देते; वह मूढ़ पुरुष आगामी जन्म में होनेवाले अपने सुख का स्वयं नाश करता है।** कहो, समझ में आया? ऐसा शुभभाव जिसे होता है। नहीं तो पाप बाँधेगा और आगे दुःख के भोग करेगा। कहो, समझ में आया? ३५ (गाथा)

गाथा ३५

दृषन्नावसमो ज्ञेयो, दानहीनो गृहाश्रमः।
तदारूढो भवाम्भोधौ, मज्जत्येव न संशयः।।३५।।

अर्थ : जो गृहस्थाश्रम दानकर रहित है, वह पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठनेवाला मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है॥३५॥

गाथा - ३५ पर प्रवचन

दृषन्नावसमो ज्ञेयो, दानहीनो गृहाश्रमः।
तदारूढो भवाम्भोधौ, मज्जत्येव न संशयः।।३५।।

'दृष'। 'दृष' है न? पत्थर। **जो गृहस्थाश्रम दान से रहित है,...** जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं है, अभयदान, औषधदान, ज्ञानदान, आहारदान ऐसा जहाँ दान नहीं है, **वह पत्थर की नाव के समान है...** है तो श्रावक का अधिकार, परन्तु राग मन्द करने के लिये उसके योग्य मन्द राग हो, इससे सामान्य उपदेश भी किया है। **पत्थर की नाव के**

समान है... जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं और अकेला संग्रह करता है, वह पत्थर की नाव समान है। **ऐसे गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव पर बैठने वाला मनुष्य, नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है। 'मज्जत्येव न संशयः'** सेठी! जैसे मिथ्यादृष्टि डूबता है, वैसे दान नहीं देनेवाले—लोभ को नहीं घटानेवाले, मन्द राग नहीं करनेवाले भी **'मज्जत्येव न संशयः'** वे भी चार गति में डूबते हैं। इसमें संशय करनेयोग्य नहीं है। कहो, समझ में आया? अन्तिम गाथा पहले कह गये हैं।

गाथा ३६

समयस्थेषु वात्सल्यं, स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानः, ते धर्मस्य परान्मुखाः।।३६।।

अर्थ : जो मनुष्य साधर्मीसज्जनों में शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते, उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं है; इसलिए भव्यजीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए॥३६॥

गाथा - ३६ पर प्रवचन

समयस्थेषु वात्सल्यं, स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानः, ते धर्मस्य परान्मुखाः।।३६।।

जो मनुष्य साधर्मीजनों में... साधर्मीजनो। समझ में आया? यशोविजयजी कहते हैं, 'साचुं सगपण साधर्मी तणुं रे लाल... और सर्वे झंझाल रे... भविकजन...' बाकी बाकी सब जंजाल।'साचुं सगपण साधर्मी तणुं रे लाल...' सच्चा सम्बन्ध साधर्मीजनों का है। धर्म-श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि यथायोग्य अपने को योग्य हो, ऐसे साधर्मी के प्रति का वात्सल्य सच्चा सम्बन्ध वह है। मिथ्यादृष्टि अपने माता-पिता या परिवार हो तो भी उनका सच्चा सम्बन्ध गिनने में नहीं आता। कहो, समझ में आया इसमें?

साधर्मी सज्जनों में, शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते, उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से परान्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं है; इसलिए भव्य जीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ... क्यों? न धर्मो धार्मिके बिना। धर्म, धर्मी जीव के बिना नहीं होता और जिसे धर्म प्रेम हो उसे धर्मी के प्रति प्रेम हुए बिना नहीं रहता, नहीं तो उसे अन्दर का धर्म भी नहीं रह सकता। यह दान का अधिकार पूरा हुआ। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल दो, मंगलवार, दिनांक - ०८-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - ३६ से ४५, प्रवचन-१६

पद्मनन्दि पंचविंशति का यह छठवाँ अधिकार है। श्रावकाचार अथवा श्रावक के संस्कार कैसे होते हैं, किसे श्रावक कहना? उसका इसमें वर्णन है। छह अधिकार हो गये। षट्कर्म की व्याख्या हो गयी। अब यहाँ जरा दया की बात आचार्य करते हैं। दान का अधिकार अन्तिम पूरा किया। है न? दिन-प्रतिदिन दान करना, ऐसा अधिकार है। एक दिन दान किया और फिर दूसरे दिन नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आत्मा में जहाँ राग ही बिल्कुल नहीं, ऐसी जहाँ आत्मा की दृष्टि निर्लोभपने की हो, निर्लोभ कहो या निर्ग्रन्थ दृष्टि कहो। आत्मा राग-द्वेष की गाँठरहित तत्त्व है। समझ में आया? ऐसे तत्त्व की दृष्टि हो, उसे निर्ग्रन्थ दृष्टि कहो या राग की एकता टलकर अरागी आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, ऐसी दृष्टि होने पर उसे लोभ बहुत मन्द पड़ जाता है। समझ में आया? इसलिए उसे षट्कर्म हमेशा होते हैं। देव की सेवा-पूजा देव की, गुरु की सेवा, संयम, तप, दान और स्वाध्याय हमेशा उसे (होता है)।

शास्त्र का स्वाध्याय उसे हमेशा आचरण में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। षट् प्रकार के दान का व्यवहार की कथन की पद्धति में उसकी भूमिका में ऐसा भाव होता है।

अब दान की बात ३६ गाथा में छह गाथा से पूरी की। ऐसे तो दान अधिकार पूरा-पूरा पहले आता है। बड़ी दान की व्याख्या बहुत (आती है)। उसमें एक अधिकार ऐसा भी लिया है। दान अधिकार में एक गाथा (ली है) कि पूर्व के पुण्य के कारण तुझे कुछ पैसा आदि मिला हो तो जैसे कौवे को जला हुआ अनाज देने पर अकेला नहीं खाता। समझ में आया? कौआ-कौआ होता है न? उस कौवे को जला हुआ अनाज... दाझेलु कहलाता है न? जला हुआ। खुरचन। वह जला हुआ अनाज मिलने पर अकेला नहीं खाता। वह कौ-कौ करके बहुतों को बुलाकर भाग पाड़कर खाता है। शोभालालभाई! है इसमें, हों! इस दान अधिकार में है कहीं। कितने में होगा, क्या खबर पड़े? ४६। दान का है। लो, ४६ बराबर है।

आचार्य कृपण की निन्दा करते हैं। १३१ पृष्ठ। है? इसके पहले है। दान अधिकार।

> **किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके**
> **निर्भोगदानधनबन्धनबद्धमूर्तेः।**
> **तस्माद्वरं बलिभुगुन्नतभूरिवाग्मि-**
> **र्व्याहूतकाककूल एव बलिं स भुङ्क्ते।।४६।।**

पहले दान का अधिकार है, सेठी! उसकी ४६ गाथा है। ४६ गाथा दान के अधिकार की। **जिस लोभी पुरुष की मूर्ति, कृपण पुरुष... का इस लोक में जीना सर्वथा व्यर्थ है।** सेठी! ऐसे कंजूसों के इस जगत में सब जीवन व्यर्थ, व्यर्थ है। **क्यों? उस पुरुष अपेक्षा काक ही अच्छा है।** ताराचन्दजी! उस पुरुष की अपेक्षा से कौआ अच्छा है। कौआ। जुगराजजी! यह कौआ होता है न, कौआ? बुलाकर खाता है। पहले ऐसा रिवाज था। आहार-पानी खाकर फिर जो उकडीया—जला हुआ हो, उसे बाहर पत्थर की एक कुण्डी रखते हैं पत्थर की, उसमें डालते हैं, नीचे धूल नहीं होती। और यह कौवा आवे तो कौआ सबको बुलाकर ही खाता है। अकेला नहीं खाता। ऐसा कहते हैं कि तेरी अपेक्षा तो कौआ अच्छा है। आचार्य को ऐसा कड़क कहने से क्या होगा?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : करुणामय है। करुणाबुद्धि से (कहते हैं), भाई! उसमें आता है न?

> मक्खी ने तो मधु पिया, न खाया, न दान दिया,
> लूटनेवाले ने लूट लिया रे पामर प्राणी।

मक्खी मधु इकट्ठा करती है न? फिर नीचे वह वाघरी (हल्की जाति की स्त्री) आकर धुआँ करती है धुआँ। धुआँ करके सब मधु ले जाती है। देवीलालजी!

> मक्खी ने तो मधु पिया, न खाया, न दान दिया,
> लूटनेवाले ने लूट लिया रे...

लड़के-बड़के सब लूट जानेवाले हैं, हों! सब भाग पाड़कर। जीते-जी मारे।

यह तो ठीक परन्तु लड़के धुआँ करेंगे। यह तो ठीक। बहुत बोलने का इन्कार किया है इसके लड़के ने। कमलाबहिन ने। नहीं तो बहुत बोले ऐसा है। कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि यह धुआँ करके... धूप करे। ऐसा करके फिर सब शहद ले जाए। ऐसा तेरे पूर्व के पुण्य के कारण कुछ कूका (पैसा) मिले हों, कूका अर्थात् पैसा, यह लड़कियाँ कूका खेलती हैं न ऐसे कंकड़ों से, यह पैसे खेले पूरे दिन। दस, पाँच हजार, पचास हजार, लाख, दो लाख, पाँच लाख ऐसे दिये और ऐसे लिये। उसमें तूने खाया भी नहीं और दान भी नहीं दिया। यह भाग पाड़कर लड़के और उत्तराधिकार ले जाएँगे। लूट जाएँगे और मरकर नरक में जाएगा, पशु में जाएगा कृपण बुद्धि में।

कहते हैं कि कृपण बुद्धि की अपेक्षा—उस पुरुष की अपेक्षा कौआ अच्छा है कि **जो ऊँचे-ऊँचे शब्द से दूसरे बहुत से काकों को बुलाकर मिलकर भोजन करते हैं।** शोभालालभाई! ऐसे तुझे पूर्व के पुण्य के (फल में) खुरचन मिली, यह खुरचन है। उकडीया समझे? जला हुआ। इसी प्रकार पूर्व में आत्मा के गुण जले थे, जले थे। गुण जले तब पुण्य भाव होता है। उस पुण्यभाव के प्रमाण में तुझे यह बाह्य लक्ष्मी आदि मिली। वह तो आनेवाली थी, उसमें वह निमित्त। उसमें यदि तूने कुछ दान में, धर्म प्रभावना में भोग में से निकालकर, उसमें जो कुछ नहीं किया तो कहते हैं कि कौवे में से भी तू गया बीता है। समझ में आया? वहाँ उसमें यह अधिकार है।

आचार्य ने अन्तिम बात तो इतनी अधिक ली है कि यह मेरी बात, उल्लू को जैसे प्रकाश नहीं रुचता, उसी प्रकार इस लोभ को घटाने की बात कृपण को नहीं सुहाती। यह कृपण इसमें से निकालेगा कुछ दूसरा। समझ में आया? या तो यह मेरे से पैसा घटाने के लिये यह कहते हैं, यह अमुक करने के लिये कहते हैं, ऐसा करके उपदेशक का भी दोष निकालेगा। ऐसा है अन्दर में। समझ में आया? वह उपदेशक का दोष निकालेगा कि यह सब करते हैं, वह मुझसे पैसा लेने को करते हैं। कृपण और कंजूस की जिसकी वृत्ति है, जिसे भगवान आत्मा राग के विकल्परहित निर्लोभ पिण्ड प्रभु आत्मा, ऐसी जिसे दृष्टि हुई, उसको ऐसी कृपणता नहीं हो सकती। समझ में आया?

यह कहते हैं कि जैसे उल्लू को रात्रि का अन्धकार ठीक पड़ता है परन्तु प्रकाश

ठीक नहीं पड़ता। उसी प्रकार राग को मन्द करने का हमारा उपदेश, आचार्य स्वय कहते हैं कि उल्लू जैसे अन्धकार में रहनेवाले कृपणों को हमारा दान का, लोभ घटानेरूपी प्रकाश का दान का भाग उसे नहीं रुचता। शोभालालभाई! और जैसे पत्थर की कली हो फूल की और भँवरा गुंजार करता हुआ वहाँ आवे, वह पत्थर की कली नहीं खिलती। समझ में आया? जो कोई वनस्पति की कली होगी भँवरा पराग लेने आने पर वह एकदम खिल जाएगी। इसी प्रकार जिसका लोभ घटा है और लोभ को घटाने का जिसका भाव है, ऐसे को हमारे उपदेश का गुंजारण निमित्तपने होगा। बाकी उपदेश का गुंजारण पत्थर की कली को नहीं खिला दे। ताराचन्दजी! है? समझ में आया?

आचार्य जंगल में बसनेवाले मुनि थे, करुणाबुद्धि से कहते हैं। कल कहा था। लोभरूपी गहरी भेखड़ के कुएँ में भरे हुए को लोभ घटाने के लिये कुछ कोमलता करने के लिये यह दान का उपदेश हम करते हैं। ऐसा पहले कहा गया था। इन्हें कहीं उससे कुछ लेना नहीं है। परन्तु अरे... आत्मा! तुझे इस लोभ को मन्द करने का भी भाव न हो तो लोभ की इच्छारहित तत्त्व निर्लोभ आत्मा भगवान है, ऐसे (तत्त्व की) वीतराग दृष्टि तुझे हो, वीतरागभाव सुहावे और ऐसा कहे कि यह राग की मन्दता नहीं सुहाती... समझ में आया? वह पूर्ण विपरीत दृष्टि का दृढ़ करनेवाला है। सेठी! वीतरागभाव सुहाता है। वीतरागभाव सुहाता है अर्थात्? आत्मा राग और विकल्प और लोभ मन्द-तीव्र रहित है। अरे! उसकी जिसे रुचि हो, उसे मन्द राग की और तीव्र राग टालने के लिये लोभ की मन्दता का दान-दया का भाव हुए बिना नहीं रहता। ऐसा उस भूमिका का भाग है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि हमारी दान के उपदेश की व्याख्या वे कृपण जो पत्थर की कली जैसे (होंगे) वे नहीं खिलेंगे। ताराचन्दभाई!

मुमुक्षु : पत्थर की कली...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं खिलेगी पत्थर की संगमरमर की या लकड़ी की। हरितकाय वनस्पति होगी तो वह (भँवरा) गुंजारण करे तो खिलेगी।

मुमुक्षु : कोमल होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोमल होगा। बस। जिसका हृदय कोमल है, उसे यह उपदेश खिलेगा। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस दुनिया का अनुभव है ही न। नया क्या अनुभव करना था? मुनि तो जंगल में रहते थे। दुनिया को-नाचनेवाले को देखते हैं। स्वयं नाचते नहीं इसलिए। समझ में आया? दुनिया किस प्रकार नाच रही है और किस प्रकार रही है, वह सब इस प्रकार नाच रहे हुए को ज्ञानी जानते हैं। जंगल में रहे हुए।

अब यहाँ ३७ गाथा में आचार्य ने जरा अहिंसा की व्याख्या करके तेरा दया का भाव होना चाहिए। दयांगी—दया का एक अंग है। व्रतों में दया का भाव, वह मुख्य है। यह व्यवहार दया की बात चलती है, हों! निश्चय दया तो आत्मा में ज्ञानस्वरूपी प्रभु वीतरागी अखण्डानन्द आत्मा की दृष्टि होना, वह अहिंसक दृष्टि और वह सम्यक्दृष्टि है। वह अहिंसक दृष्टि है। एक विकल्प भी राग और दया-दान का विकल्प मुझे लाभ करे या वह मेरा स्वरूप है, यह मान्यता हिंसक दृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसी अहिंसा दृष्टि अपना स्वभाव ज्ञान, आनन्द निर्विकार, ऐसे स्वभाव की अन्तर्मुख अत्यन्त स्वभाव के शरण में जाने से जो शुद्ध दृष्टि प्रगट होती है, उसे अहिंसा दृष्टि, सम्यक् दृष्टि, सत्य दृष्टि, धर्म दृष्टि कहा जाता है। उसमें तो पुण्य और पाप का विकल्प भी उसके साथ में, संग में नहीं होता। समझ में आया? ऐसी दृष्टि यथावन्त जीव को भी श्रावक के गुणस्थान के योग्य जब शान्ति अन्दर में प्रगट हुई हो, उसे ऐसे कषाय की मन्दता के—शुभ के भाव हुए बिना नहीं रहते। उसकी भूमिका में यदि ऐसे (भाव) न होवे तो उस वस्तु की स्थिरता या दृष्टि की उसे खबर नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें? ३७ (गाथा)

गाथा ३७

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत्।।३७।।

अर्थ : जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा से पूरित भी जिन मनुष्यों के चित्तों में दया नहीं है, उन मनुष्यों के धर्म कदापि नहीं हो सकता।।३७।।

गाथा - ३७ पर प्रवचन

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत्।।३७।।

दया का अर्थ, पर की (दया) पाल सकता है या मार (सकता है), यह बात नहीं है। यहाँ करुणाबुद्धि राग की मन्दता के पुण्य परिणाम की बात चलती है। समझ में आया? दूसरे को मैं सुखी कर सकूँ या दुःखी कर सकूँ, यह आत्मा में ताकत नहीं है। यह तो पहले से दृष्टि हुई होती ही है। उसमें उसे दूसरे प्राणी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव है। जिनोपदेश है न? वीतराग के उपदेश में त्रिलोकनाथ वीतराग चैतन्य प्रभु के उपदेश में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। एकेन्द्रिय में एक शरीर में निगोद में अनन्त जीव। प्रत्येक शरीर में एक शरीर में एक जीव, वे सब हैं। उन सब जीवों को न मारने का विकल्प अथवा उन्हें सुख देने का विकल्प, ऐसा अनुकम्पा का भाव श्रावक को-समकिती को उसकी भूमिका में आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

अर्थात् कि **जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा के पूरित... भी...** करुणा। अरे! मुझसे किसी को दुःख न हो। समझ में आया? श्रीमद् तो एक बार लिखते हैं, अरे! कोई ऐसे हरितकाय काटता हो, हमें करुणा आती है। हरितकाय, हों! लीलोतरी कहते हैं न? हरितकाय। अरे! अनन्त आत्मा। एक शरीर में अनन्त आत्मा। अभी तक छह महीने आठ समय में जो ६०८ जीव मुक्ति को प्राप्त हुए, छह महीने आठ समय में ६०८ सिद्धपद को प्राप्त हुए, ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्तन में जितने सिद्ध हुए, उनकी अपेक्षा एक निगोद के एक शरीर में अनन्त गुने जीव हैं। समझ में आया?

अभी तक अनन्त... अनन्त... अनन्त... पुद्गल परावर्तन (हुए)। एक पुद्गल परावर्तन के अनन्तवें भाग में अनन्त चौबीसी होती है। एक चौबीसी में दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम होता है, एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाते हैं। एक पल्योपम के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। आहाहा! समझ में आया? एक पल्य का असंख्यवाँ भाग काल का माप असंख्य भाग में असंख्यात अरब वर्ष जाते हैं। असंख्यात

चौबीस नहीं, हों! और ऐसे एक पल्योपम, उसके दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम के एक सागर का माप काल का है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक चौबीसी का काल है। चौबीस तीर्थंकर दस कोड़ाकोड़ी में.... कोड़ाकोड़ी में होते हैं। समझ में आया?

कभी विचार किया है? आहाहा! अरे! कहाँ कितना काल गया? और उस काल में निगोद के जीव एक शरीर में, एक शरीर के अनन्तवें भाग में, यह सिद्ध अभी तक अनन्त पुद्गल परावर्तन में सिद्ध परमात्मा होते आये हैं, उनसे एक टुकड़ा लील फूग—काई का, आलू का, शकरकन्द का, कन्दमूल का एक टुकड़ा ले, राई जितना टुकड़ा, उसमें असंख्य तो औदारिक शरीर, उनका एक शरीर लो तो अभी तक सिद्ध हुए, उनसे अनन्त गुने जीव। समझ में आया? ऐसे प्रत्येक एकेन्द्रिय के असंख्य। ऐसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के असंख्य जीव। कहते हैं कि **'जिनोपदेशेन'** वीतराग त्रिलोकनाथ की वाणी में इन जीवों की संख्या उनके ज्ञान में आयी और ऐसा है। ऐसा जिसने उपदेश सुना है। **'कारुण्यामृतपूरिते'** समझ में आया? करुणारूपी अमृत से जिसका चित्त पूरित है। अरे! किसी जीव को एक रोम खेंचने पर दु:ख होता है। उसे किसी जीव को मार डालना—एकेन्द्रिय हो या दोइन्द्रिय या तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

'कारुण्यामृतपूरिते चित्ते' जिसका चित्त है। धर्मी जीव का कारुण्य पूरित दया का चित्त होता है। जिसमें जीवदया नास्ति है, ऐसी जिसे अन्त:करण में भानसहित की दया का भाव नहीं है **'तेषां धर्मः कुतो भवेत्'** उसे धर्म कहाँ से होगा? बहुत बात चली गयी है, हों! सेठ! बहुत ऊँची बात चली गयी। तुम्हारा दिन वहाँ प्रवृत्ति करने में जाता है न। आज दोपहर में लड़कियों का प्रदर्शन ऐसा था कि ऐसा...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखने का था। ऐसी महिलाएँ, ऐसी बहू-लड़कियाँ। उसमें धीरुभाई की लड़की ने तो गजब किया। हरिश्चन्द्र। आहाहा! हरिषेण, हरिषेण। दिखाव। रात्रि में तो न आ सके परन्तु दिन में तो... ऐसा वैराग्य, वैराग्य। आँख में से आँसू बहते जाएँ। हरिश्चन्द्र ऐसा कहते हैं कि हे माता! भगवान का रथ न निकले और पहले दूसरे का निकले? माता! भगवान का रथ निकलेगा, हों! ... और वैराग्य से ऐसे... समझ में आया? अनित्य की भावना आयेगी न। आता है न अन्तिम, कहा नहीं उसमें? माता!

चक्रवर्ती पद तो लिया... यह चक्रवर्ती पद लिया परन्तु वहाँ पर्वत में चक्रवर्ती के कितने ही नाम लिखे हुए हैं अनन्त में, उसमें जो चक्रवर्ती होता है, वह पूर्व का नाम मिटाकर नाम लिखता है। आहाहा! जब वह चक्रवर्ती होगा। विद्यमान मनुष्यदेह, सोलह हजार देव, ऐसे राजा बत्तीस हजार चंवर ढोले, छियानवें हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ और जब साधकर आया होगा, तब पर्वत पर लिखता है कि मैं एक... भरत चक्रवर्ती का आता है न, भाई! नवनीतभाई! भरत चक्रवर्ती का। भरतेष वैभव शास्त्र में आता है।

जब वह छह खण्ड साधकर आता है और ऐसा अन्तिम (वृषभाद्रि) पर्वत का नाम देखता है कि इसमें नाम कहाँ लिखूँ? कहाँ लिखूँ? इसमें खाली नहीं है। ओहो! धिक्कार है चक्रवर्ती राज को। स्वयं कहता है, हों! अरेरे! यह छह खण्ड का राज, यह छियानवें हजार स्त्रियाँ, अरे! यह राज ऐसा ही पूर्व में था। यह राज पालकर जब चक्रवर्ती लिखता होगा, उसे ऐसा होगा कि मेरा यह नाम कोई भविष्य में मिटायेगा। जो नाम लिखा हुआ, खाली जगह न मिले, ऐसे मिटाता है और वहाँ वैराग्य-वैराग्य (हो जाता है)। अरेरे! चक्रवर्ती की यह ऋद्धि! अनन्त बार जगत के जीव चक्रवर्ती पद को जो जीव प्राप्त हुए, प्राप्त हुए वे, सब प्राप्त, उन जीवों के नाम अब मिट जाते हैं। शरीर तो गये और उनके लिखे हुए नाम मिटते हैं। ओहो! संसार अनित्य! यह संसार की अनित्यता! आहाहा! मुझे भी एक इस पुण्य के कारण से यह एक चक्रवर्ती पद आया है। मुझे यह दूसरे का नाम मिटाकर मैं एक भरत चक्रवर्ती आदिनाथ का पुत्र (हूँ), ऐसा लिखता है। शोभालालभाई! मणिरत्न से (लिखता है)। मणिरत्न होता है न। और मैं चरमशरीरी हूँ, हों! ऐसा लिखता है। मैं चरमशरीरी—यह देह मुझे अन्तिम है। मुझे इस देह से ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति है। परन्तु इस पद का पुण्य इस नाम को मिटाना चाहता है और मेरा नाम लिखाता है। आहाहा! सेठ!

ऐसे-ऐसे अनन्त चक्रवर्ती हुए। सबके अनन्त नाम कहाँ वहाँ रहते थे? पर्वत छोटा, उसमें असंख्य नाम भी नहीं रहते। संख्यात रहते हैं। पूर्व के सब उस समय के। एक हजार देव सेवा करते हैं। घोड़े पर आये हों। एक हाथ में तलवार। उस तलवार की एक हजार देव सेवा करते हों। हाथ में तलवार हों! जो तलवार ऐसी होती है (कि) हीरे का स्तम्भ हो तो ककड़ी काटे, वैसे एकदम काट डालती है। काकड़ी समझते हो?

ककड़ी। ऐसी तो वह तलवार होती है, जिसकी हजार देव सेवा करते हैं। वह तलवार ऐसे लेकर निकले राजा, जब छह खण्ड को साधकर... आहाहा! उस पूर्ण राज पद को पाकर भी यह लिखते समय समकिती है। भरत समकिती है, आत्मज्ञान है। समझ में आया? ओहो! संसार। इस श्मशान में शरीर तो चक्रवर्ती के गये परन्तु उनके नाम मिट जाते हैं। नाम निशान भी नहीं रहता। ओहो संसार! धिक्कार, संसार अनित्य है। ताराचन्दजी! ऐसे चक्रवर्ती को भी उस समय ज्ञानी को ऐसा वैराग्य हो जाता है। आहाहा! लोटे श्मशान में जिनके शरीर, जिनके लिखे लेख अब यहाँ रहते नहीं। लिखे लेख रहते नहीं। अरे! यह संसार। नित्यानन्द प्रभु आत्मा की शरण बिना कहीं शरण नहीं है। उसे यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! आत्मा! भगवान ने अनन्त जीवों की संख्या बतायी है, हों! उस जीव की दया जिसके हृदय में अमृत नहीं, वह प्राणी क्या धर्म करे? उसे क्या धर्म होगा? ऐसा कहकर यहाँ ३७ में कहा।

बाद में कहते हैं।

गाथा ३८

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरित्यांदिया कार्या विवेकिभिः।।३८।।

अर्थ : धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तथा समस्त व्रतों में मुख्य और सर्व संपदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह दया है, इसलिए विवेकी मनुष्यों को यह दया अवश्य करनी चाहिए।।३८।।

गाथा – ३८ पर प्रवचन

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरित्यांदिया कार्या विवेकिभिः।।३८।।

क्या कहते हैं? **धर्मरूपी वृक्ष की जड़...** यह धर्म (अर्थात्) व्यवहार व्रत

आदि। भाई! इसकी बात चलती है, हों! भगवान आत्मा अखण्डानन्द ज्ञायकमूर्ति सम्यग्दर्शन का मूल तो यह द्रव्यस्वभाव है। इस सम्यक्पूर्वक की बात चलती है। आहाहा! जो आत्मा ज्ञान चिदानन्द आनन्द का कन्द, जिसके स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द रस झरता है। जिसके स्वभाव में अतीन्द्रिय अमृत का रस झरता है। पर्वत में से अमृत झरे, वैसे आत्मा के अन्तर में एकाग्र होने पर वह तो अतीन्द्रिय... अतीन्द्रिय आनन्द का अकेले अमृत का रस है। ऐसा सम्यग्दृष्टि को भान हुआ है और तदुपरान्त जब उसे स्वरूप के अंश की स्थिरता का भाग पंचम गुणस्थान के योग्य हुआ है, उसे जब यह बारह व्रत का विकल्प आवे, कहते हैं कि उसमें धर्म अर्थात् व्यवहार व्रत, उसका मूल जैसे वृक्ष की जड़ है, वैसे यह दया जड़ है।

अहिंसा—किसी प्राणी को दुःख न हो। भाव की बात है, हों! दुःख दे सकता है, यह मान्यता मिथ्या है। यहाँ तो उनकी अनुकम्पा, सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तानुबन्धी का नाश हुआ है, इसलिए अनुकम्पा अपने आत्मा की दया है और दूसरे जीव की दया है। उसके हृदय में सहज ऐसा भाव उठता है। जिससे आचार्य जरा कहते हैं, इस धर्मरूपी वृक्ष की जड़ **समस्त व्रतों में मुख्य है।** कहो, समझ में आया? सभी व्रतों में मुख्य यह दया—अहिंसा है। सर्व सम्पदाओं का स्थान है। एक इन्द्र का पद मिले, उसका स्थान भी यह अहिंसा का भाव है। देखो! यहाँ भाई ने स्पष्टीकरण तो किया है। पुण्य परिणाम है। ऐसे पुण्य परिणाम समकिती को हुए बिना नहीं रहते। अपने ऐसा एक श्लोक है। हमारे हीराजी महाराज कहते थे। वह यह बनारसीदास में है। उन्हें कहाँ से मिला होगा, कौन जाने? परन्तु इसमें—बनारसीदास में यह दया की व्याख्या (आती है)। बनारसीदास हो गये न? उन्होंने भी एक दया का अधिकार लिया है। समझे न? श्लोक है अवश्य?

अहिंसा का अधिकार—ऐसा करके उन्होंने व्याख्या की है। हमारे हीराजी महाराज सम्प्रदाय के गुरु थे, वह यह बहुत बोलते थे। वह तो उस मूर्ति में हिंसा होती है न फूल की, इस अपेक्षा से कहते थे कि जहाँ दया नहीं और जहाँ हिंसा हो, वहाँ धर्म नहीं है। परन्तु यहाँ बनारसीदास तो सम्यग्दर्शन की भूमिका में अहिंसा के व्यवहार परिणाम कैसे होते हैं, यह बनारसीदास बताते हैं। 'सुकृत की खान इन्द्रपुरी की निशैनी जान।' आया न? खजाना आया न? भाई, देखो! 'सुकृत की खान इन्द्रपुरी की निशैनी जान, पाप रज

खण्डन को पौनराशि खिये, भव दु:ख पावक वुझायवे को मेघमाला, कमला मिलायवे को दूती ज्यो विशेखये, मुगतिवधू सों प्रीत पालवे को आलीसम ... किवार दिढ ... आगल सो देखिये, ऐसी दया कीजे चित्त तिहूँ लोक प्राणी हित; (और करतूत काहू, लेखे में न लेखिये।)' व्यवहार अहिंसा की व्याख्या करते हैं, हों! अहिंसा स्वभाव तो दृष्टि में प्रगट हुआ है। उसे व्यवहार दया के भाव कैसे होते हैं ? कि 'सुकृत की खान'। सुकृत की खान—शुभभाव, यह दया का है, वह सब शुभ की-पुण्य की खान है।

'इन्द्रपुरी की निशानी...' ऐसे सुकृत के पालनेवाले सम्यग्दृष्टिपूर्वक दया के पालनेवाले इन्द्रपद को प्राप्त करते हैं। 'इन्द्रपुरी की निशानी' समझ में आया ? वे अकेले से भाई ... थे, दूसरे की दया पालना, ऐसा है। भाई! यह दूसरे की दया की बात नहीं है। पाल नहीं सकता, (यहाँ) कहाँ प्रश्न है। यहाँ तो अपने में... पोतामां समझे ? स्वयं। राग की मन्दता का... सम्यग्दर्शनपूर्वक दया का भाव आता है, वह 'इन्द्रपुरी की निशानी' वह इन्द्रपद में अवतरित होगा, जिसमें करोड़ों अप्सराएँ (होंगी)। वह राग पुण्य का भाग है, धर्म की भूमिका में, इसलिए उसमें इन्द्रपद आया न ? देखो। **सर्व सम्पदाओं का स्थान।**

पद्मनन्दि महाराज जंगल में बसनेवाले मुनि हैं। वे कहते हैं कि सर्व सम्पदाओं का स्थान है। समझ में आया ? यह यहाँ कहते हैं। 'इन्द्रपुरी की निशैनी जान, पाप रज खण्डवे को...' देखो! पाप रज, हों! अशुभभावरूपी पाप के कर्म बाँधे हुए, उन्हें नाश करने का यह अहिंसा का परिणाम, वह मुख्य वस्तु है। 'पौन राखी पेखीये' रज—बहुत धूल पड़ी हो न ? पवन निकले पवन। और पवन जैसे धूल को उड़ा देती है। आता है न मारवाड में, क्या कहलाता है तुम्हारे ? बीकानेर न। आँधी आती है। बहुत रज का ढ़ेर होता है और पवन निकले तो उड़ा देती है। उसी प्रकार 'पाप रज खण्डन को पौन राशी की' पवन का ढ़ेर यह दया है।

'भव दु:ख पावक बुझायेवे को मेघमाला।' भव दु:ख को टालने के लिये मेघ की माला है। माला क्यों कही ? यह पानी बरसता है न ? बिन्दु ऐसी पड़ती है न माला की भाँति! वर्षा। एक साथ मूसलाधार जैसा नहीं। ऐसे ऊपर से गिरती है। पवन आवे न अन्दर, इसलिए ऐसी धारा आवे बरसात की। मेघमाला। वर्षा की माला होवे मानो दया का भाव।

मुमुक्षु : बहुत बरसात।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बहुत बरसात।

'कमला मिलायवे को दूती' यह लक्ष्मी प्राप्त करने की यह दासी है। शोभालालभाई! क्या कहते हैं यह ? कमला अर्थात् लक्ष्मी। यह धूल-धूल। पाँच-पचास लाख या करोड़। यह 'कमला मिलायवे को दूती' दूती। बीच में दासी है। कमला (अर्थात्) लक्ष्मी।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! दुनिया उसे कमला मानती है न। वह कमल है। मैल है। परन्तु ऐसा माने कि आहा! लक्ष्मी मिली। ऐसे लक्ष्मी के पति सुखिया कहलावे, घर में तो ऐसे मोटरें घुमें। लाख-लाख की मोटरें। ऐई! अमरचन्दभाई! एक लाख और दस-दस हजार की मोटरें जिनके घर में चार-चार। ३०-४० मोटरें। अब वह निवृत्त कैसे हो ? उसका पिता कहता होगा। समझ में आया ?

कहते हैं कि 'कमला मिलायवेको...' धर्मी जीव को लक्ष्मी सामने आती है। अपने एक पद आया था। एक पद उस भक्ति में कहीं आया था। भगवान! आपकी भक्ति करे। ओहो! लक्ष्मी तो आज्ञा माँगती आयेगी। आज्ञा माँगती आयेगी। कितना कहाँ कैसे चाहिए ? आपकी इच्छा क्या है ? आपकी भक्ति करनेवाले तीन लोक के नाथ परमात्मा जहाँ पूर्ण निर्ग्रन्थ निर्लेप आत्मतत्त्व है, ऐसी दृष्टि होकर आत्मा की भक्ति वीतराग की जो करता है, भगवान! उसका तो आयुष्य... कहीं लाईन है, हों! यह कहीं आ अवश्य गया है। दान में होगा ? दान में है कहीं। सब कहीं याद रहता है ? आज्ञा माँगती हुई लक्ष्मी आयेगी। समझ में आया ? यह कहीं है, प्राय: दान में है। नहीं ? और वह कहा है न दान में, भाई! वहाँ ? कि लक्ष्मी खर्चने से कम नहीं होगी। ऐसा पाठ दान में है। पुण्य समाप्त होने पर बिना खर्च किये समाप्त हो जाएगी। समझ में आया ? यह दान में कहीं है, हों! दान में है न कहीं ? दान में कौन सा अधिकार है ? थोड़ा किसी को याद रखना चाहिए न कुछ ? दान का अधिकार है, वहाँ है। ३८। पृष्ठ १२८ और ३८ गाथा। ३८ गाथा है।

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना
लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम्।

कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्ता-
दाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम्।।३८।।

भगवान आचार्य जंगल में रहनेवाले सन्त आत्मध्यान और ज्ञान में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले। वे भी एकबार दान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि

कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्ता-
दाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम्।।
कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्ता-

हे गृहस्थो! कुएँ से सदा चारों तरफ से निकला हुआ जल जिस प्रकार निरन्तर बढ़ता ही रहता है। है ? घटता नहीं। **उसी प्रकार संयमी पात्रों के दान में भेंट की हुई लक्ष्मी सदा बढ़ती जाती है। घटती नहीं। किन्तु पुण्य क्षय होने पर वह घटती है।** तेरा पुण्य क्षय हो जाएगा। वह नहीं खर्च करे पैसा क्षय हो जाएगा। और तेरा पुण्य होगा तो पैसा खर्च करने से कम नहीं होगा, बढ़ता ही जाएगा। जैसे कुऐं में से पानी निकालते हैं। एक कुआँ है न यहाँ अपने, कैसा ? माणेचन्दभाई !

मुमुक्षु : जनडा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जनडा। जनडा का एक कुआँ है। बारह कोस। बारह कोस पानी। अठारह कोस और लो। अठारह कोस चलता है। दो-दो बैल। अठारह कोस चारों ओर पानी निकलता है। कम नहीं होता। जनडा यहाँ है। माणिकचन्दभाई के गाँव के पास है। अठारह कोस का पानी। समझ में आया ?

वह कुआँ ऐसा था कि किसी ने बहुत गहरा खोदा परन्तु एक चार-आठ अंगुल का पत्थर अन्दर आड़े रह गया था। पानी नहीं निकले। इसलिए फिर छोड़ दिया। लोग कायर हो गये, उसमें कोई एक बारात आयी, बारात। वह बारात आयी, जान समझते हो ? बारात। बारात आयी थी वहाँ सवेरे जल्दी निकले होंगे और प्यास लगी। अन्धेरा, भाई! इसमें पानी है, पानी निकालो। पानी हाथ नहीं आवे पानी। पानी था ही नहीं। परन्तु एक व्यक्ति उलझा डालो न पत्थर, ऊपर का एक पचास मण का था। डालो इसके अन्दर पानी है या नहीं खबर पड़े। वहाँ वह... तल था जो दल, वह (पत्थर) पड़ा और

फूट गया। अठारह–अठारह कोस बहे और पानी कम नहीं होता। यह हरजीवनभाई ने दृष्टान्त दिया था। ऐई! कहाँ गये तुम्हारे पिता क्यों नहीं आये? क्या है? यह दृष्टान्त हरजीवनभाई ने दिया था। भाई! वह उपदेश आवे न, तो कहे, यह तो जनडा का कुआं फटा है। यह हमें नहीं गुरु ने दिया और यह नहीं पृष्ठ। ऐसे करके बेचारे कहते थे। यह सब बात कहाँ से निकालते हो? यह तो कहे, एक तल था न, उसमें पत्थर डाला और पानी फटे ऐसा फटा है। ऐसा बेचारा कहता था हरजीवन।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ अन्दर का पानी फटा। वह तड थोड़ा ही था, हों! एक विकल्प और आत्मा की एकताबुद्धि का तड मात्र। समझ में आया? राग को मन्द करते.. करते.. करते... आया हुआ परन्तु वह कुआँ फटा हुआ नहीं। परन्तु जहाँ अन्दर राग और स्वभाव की एकता टूटी, तल में तलिया में चैतन्य का अनन्त पानी भरा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, आनन्द। एक विकल्प की एकता तोड़ने से फब्बारा प्रस्फुटित होता है। ऐसा भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन का कुआँ, पाताल कुआँ है। पाताल कुआँ समझ में आता है? वह पाताल कुआँ नहीं होता? महा गहरा कुआँ होता है। जिसमें से अन्दर से पानी चाहे जितना निकला ही करे। उसी प्रकार यह अठारह कोस का पानी। थोड़ा बाकी था परन्तु अठारह कोस का पानी निकला।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, दान देते–देते तेरा पुण्य होगा तो जैसे कुएँ में नया पानी आता है, वैसे (लक्ष्मी) आया ही करेगी। परन्तु यदि लक्ष्मी को इस प्रकार से दान का उपयोग नहीं करे तो पुण्य का क्षय होगा तो लक्ष्मी होगी, वह चली जाएगी। आचार्य ने बहुत दृष्टान्त देकर राग की मन्दता के लिये लोगों को अनुकम्पाबुद्धि से जरा खड़े किये हैं। परन्तु बैल हो उसके पैर में—टाँग में जोर न हो उसे कहे, लकड़ियाँ डालने से वह बैल ऊँचा नहीं होता। लकड़ियाँ समझे न? टेका। जिसके पैर में कस नहीं होता, घास खाने की शक्ति। घास होवे तब तो पैर में जोर हो। लकड़ियाँ डालकर ऊँचा करे परन्तु वह नहीं होता। हमने नजरों से देखा है (संवत्) १९८१ में, गढडा में। जरा वर्षा, बहुत दुष्काल था। हम वहाँ उतरे थे। व्याख्यान पूरा हो तो ... ऊँचा करे। वह आगे जहाँ–तहाँ पड़े नीचे। क्योंकि पैर में कस नहीं होता। इसी प्रकार जिसे अन्दर में योग्यता की लायकात

में कस नहीं होता, उसे उपदेश की लकड़ियाँ काम नहीं करतीं। चाहे जितनी उपदेश की लकड़ियाँ अन्दर डाले तो फू होकर गिरे उसके ऊपर। कहो, समझ में आया?

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं... अपने यहाँ था बनारसीदास का। कहो, समझ में आया? 'सुगति वधु सो प्रीत...' इस सुगतिरूपी स्त्री की प्रीति बँधानेवाला अहिंसा भाव है। समझ में आया? सुगति तो उसके कलेजे में है, उसके कपाल में है। कहते हैं कि जिसे आत्मा के भानसहित अहिंसा का भाव प्रगट हुआ, 'सुगति वधु सो प्रीत' वधु अर्थात् स्त्री। सुगतिरूपी स्त्री तो उसके कपाल में है, मिलेगी। 'पालवे को आलि सम कुगति के द्वार... देखिये।' दुर्गति में जाने के लिये अहिंसा, वह अवरोधक है। आगळियो समझ में आता है? दरवाजे के आगे लकड़ी का रखते हैं। वह अवरोधक है अहिंसा भाव, दया भाव, व्यवहार से अमृत भाव है। 'ऐसी दया कीजै... तिहुं लोक प्राणी हित और कर्तृत्व कांई लेखे मन लेखिये।' विशेष कहते हैं।

'अगनी में जैसे अरविन्द न विलोकियत...' इस पर जोर देते थे। जैसे अग्नि में अरविन्द अर्थात् कमल नहीं उगता। अग्नि में कमल उगता होगा? 'सुरत मत जैसे ...' सुर—सूर्य अस्त हो जाए, तब कहीं दिन रहता होगा? सूर्य अस्त होने के बाद दिन नहीं रहता। 'सांप के बदन जैसे अमृत न उपजत' सर्प के मुख में कभी अमृत, कभी उसके खजाना नहीं होता। वहाँ तो उसकी दाढ़ में जहर होता है। सर्प की दाढ़ में जहर होता। 'कालकूट खाई जैसे जीवन न जानिये।' कालकूट जहर खाकर जीवित रहे, ऐसा नहीं हो सकता। 'कलह करत नहीं पाईये सुजस जैसे...' क्लेशकारी प्रवृत्ति और सुजस प्राप्त करना है। बहुत अच्छा, ऐसा यश मिलता होगा? प्रकृति तीक्ष्ण रागी, क्रोधी, मान, माया, क्लेशकारी, चैन नहीं। या झगड़ और या झगडालु लाओ। समझ में आया? या मेरे साथ क्लेश करे, नहीं तो क्लेश करनेवाला ला। परन्तु हम क्लेश बिना नहीं रह सकते। सेठ! ऐसी प्रवृत्ति पड़ी हो न कि मैं क्लेश नहीं करूँ तो लाओ क्लेश करनेवाला। मैं तो नहीं करूँ, तो दूसरा लाओ। परन्तु हमारे साथ सिर फोड़े, ऐसा क्लेश करनेवाला लाओ। क्लेश नहीं तो क्लेशवाले को लाओ। ऐसा कहते हैं न हमारे काठियावाड़ में। तुम्हारी भाषा होगी कुछ। हिन्दी कुछ होगी।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह तू लड़ नहीं तो लड़नेवाले को ला। हमारी काठियावाड़ी भाषा में (ऐसा कहा जाता है)। समझ में आया? ऐसे कलह करनेवाले और वापस दुनिया में यश प्राप्त करना है। बनेगा?

'बाधत... रोग नाश न बघानिये...' देखो! रस रोग होता है न? एक आम खाते हैं न। क्या कहा जाता है, उसे-रोग को? आम का रोग नहीं होता? आम-आम। उसमें से रोग होता है। आम नहीं खायेगा। आम खायेगा तो रोग होगा, ऐसा कहते हैं। 'प्राणी वध मांही तैसे धर्म की निशानी नहीं, यहीं तो बनारसी विवेक मन आणिये।' ऐसा कहते हैं। समझे न? बनारसीदास कहते हैं, ३५० वर्ष पहले। यह हमारे सम्प्रदाय में कहा जाता था।

इसी प्रकार यहाँ अहिंसा दया वह तो इन्द्र पद की निशानी है। समझ में आया? और खजाना है। यहाँ लिखते हैं, देखो! **गुणों का खजाना है।** गुणों का खजाना राग मन्द में बहुत राग मन्द दया का जिसके हृदय में है, उसे बहुत कोमलता आदि भाव हृदय में होते हैं। **इसलिए विवेकी मनुष्यों को...** देखो! विवेक शब्द पड़ा है न! यहाँ भी विवेक आया। **यह दया अवश्य करनी चाहिए।** कहो, समझ में आया?

३९ (गाथा)।

गाथा ३९

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव।।३९।।

अर्थ : जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ी सूत्र के आश्रय से रहती है उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण जीवदया के आधार से रहते हैं। इसलिए समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिए।।३९।।

गाथा - ३९ पर प्रवचन

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव।।३९।।

जिस प्रकार फूलों के हारों की लट्टी... लट्टी होती है न फूल के हार की? **सूत्र के आश्रय से रहती है।** सूत्र के—डोर के आश्रय से लट्टी रहती है। **जैसे मनुष्य में समस्त गुण जीवदया के आधार से रहते हैं।** दुश्मन हो तो भी उसके प्रति इसे दया आनी चाहिए। कोई भी प्राणी हो, वह भी सुख को चाहता है, अत: किसी प्राणी के प्रति उसे दु:ख उत्पन्न कराने की वृत्ति नहीं होती। **दया के आधार से। इसलिए समस्त गुणों के स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया जरूर करनी चाहिए।**

गाथा ४०

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि कलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः।।४०।।

अर्थ : जितने भी मुनियों के व्रत तथा श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं किन्तु हिंसा का पोषण करनेवाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहा गया है, इसलिए व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणियों पर दया ही रखनी चाहिए।।४०।।

गाथा - ४० पर प्रवचन

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि कलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः।।४०।।

देखो! ओहोहो! आचार्य करुणा करके (कहते हैं)। वन में बसे। वन में बसे हुए सन्त जगत की करुणा के लिये यह शास्त्र हो गये, रच गये। उनकी करुणा हो गयी। अरे

जीवों ! इस चौरासी में भटकते कहाँ से आये ? कहाँ जाओगे ? भाई ! तुम्हारे भविष्य का कहाँ पत्ता ? तुम्हारा तम्बू कहाँ तनेगा ? यहाँ से मरकर कहाँ जाओगे ? वहाँ कोई गौशाला नहीं है कि वहाँ तुम्हारी सेवा करे। इसलिए कहते हैं, यति को–मुनियों को। मुनियों के व्रत है—पंच महाव्रत हैं या अट्ठाईस मूलगुण। श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं। है न ? **'एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि' यह सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिये है।** ये चार व्रत भी अहिंसा की वाड़ है।

अहिंसा, उस अहिंसा के पालन के लिये सत्य है। अहिंसा के लिये अचौर्य, चोर कर नहीं लेना। अहिंसा के लिये ब्रह्मचर्य, अहिंसा के लिये परिग्रह रहित। बाहर का। इस अहिंसा की पुष्टि के कारण वे चार व्रत हैं। उन चार के अहिंसा नहीं, परन्तु अहिंसा की पुष्टि की वे चार वाड़ है। जिसे यह अहिंसा भगवान ने सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिये कहे हैं। **हिंसा का पोषण करनेवाला कोई भी व्रत नहीं कराता है।** जिसमें किसी भी प्राणी को दु:ख हो, ऐसी बात भगवान की वाणी में व्यवहार व्रत में भी नहीं हो सकती। **इसलिए व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणी पर दया ही रखनी चाहिए।**

गाथा ४१

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्।।४१।।

अर्थ : केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती कि 'उस जीव को मारूँगा अथवा वह जीव मर जाये तो अच्छा है' इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है, उस समय भी पाप की उत्पत्ति होती है।।४१।।

गाथा – ४१ पर प्रवचन

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्।।४१।।

केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती। लेकिन उस जीव को मारूँगा अथवा जीव मर जावे तो अच्छा हो। इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है, उस समय पाप की उत्पत्ति होती है। परिणाम संकल्प किया, वहाँ पाप की उत्पत्ति होती है। मरो, न मरो उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। दूसरा प्राणी जीवे या न जीवे। उसे ऐसे दु:ख दूँ, उसे ऐसे मारूँ, यह प्रतिकूल है तो उड़ा दूँ – ऐसा संकल्प, दूसरों को दु:ख हो या न हो परन्तु तेरे आत्मा को तो संकल्प से हिंसा हो गयी है। इसलिए ऐसे संकल्प (करना नहीं)।

मुमुक्षु : ... इरादा हो,...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। इरादा हो। यह तो है। खून हुआ हो परन्तु इरादा क्या है, ऐसा पूछते हैं। मार डाला, ऐसा नहीं पूछते। बचाने का हो, भाई मैं तो मेरा बचाव करने गया था। मुझे मारता था। मैंने लकड़ी ऐसे की तो उसके पेट में कुछ गाँठ (थी), उसे लगी और वह मर गया। मेरा मारने का भाव नहीं था। अत: इरादा मारने का न हो तो उसे फाँसी नहीं देते। ऐसा होगा या नहीं ? यह वकील है। इसमें तो खबर पड़ती है या नहीं इसे ? यह वहाँ वापस डालते हैं। परन्तु गजब भाई ! नहीं, नहीं क्या यह आये बिना रहे ही नहीं ताला। यह या ऐसे आवे और या ऐसे आवे। दो ओर आवे। ऐई ! कहाँ गये भाई ? नटुभाई ! यह सन्निपात होता है और उसको चाळा चले बिना रहता ही नहीं जरा अन्दर। कहो, समझ में आया इसमें ? **'पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्'** लो !

अब आचार्य महाराज बारह भावना की बात करना चाहते हैं।

गाथा ४२

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभि:।
तद्‌भावना भवत्येव कर्मण: क्षयकारणम्।।४२।।

अर्थ : उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा चिंतवन करना चाहिए क्योंकि उन भावनाओं का चिंतवन, समस्त कर्मों का नाश करनेवाला होता है।।४२।।

गाथा - ४२ पर प्रवचन

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्।।४२।।

समझ में आया? आहाहा! उत्तम पुरुष लिये हैं। देखो! महात्मा शब्द लिया है न? सम्यग्दृष्टि जीव है, धर्म की दृष्टि हुई है। उसकी गृहस्थाश्रम में बात है। वह स्त्री, परिवार में है, तथापि उसे यहाँ महात्मा कहा है। धर्मी को महात्मा कहा है। भले राज परिवार में स्थित (हो)। महा आत्मा। अन्तरात्मा हुआ, इसलिए उसे महात्मा कहा जाता है। समझ में आया? भगवान ज्ञान और अनन्त गुण का धाम आत्मा, उसकी अन्तर अनुभव की दृष्टि हुई, पर्याय में अन्तर आत्मदशा प्रगट हुई। अब वह परमात्मा को साधने का साधक है; इसलिए अन्तर आत्मा को भी महात्मा कहा जाता है। फिर भी स्त्री हो, पुरुष हो, नारकी हो या पशु हो। चौथे गुणस्थान में भी उसे उस दशा जितना महात्मा कहा जाता है। यहाँ पाँचवें गुणस्थान की बात चलती है। समझ में आया?

'**तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्**' बारह भावना का शास्त्र में स्वरूप तो संवररूप से लिया है। समझ में आया? यहाँ विकल्परूप लेकर स्वभावसन्मुख की एकाग्रता है, उसमें ऐसी भावना भाते हुए विशेष रागरहित वीतरागता अन्दर प्रगट होती है, उससे कर्म का क्षय होता है, ऐसा कहने में आता है और जितना पुण्य का विकल्प होता है, उतना उसमें पाप का क्षय होता है; इसलिए कर्मक्षय का कारण इस प्रकार से कहने में आया है।

उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा चिन्तवन करना चाहिए। क्योंकि उन भावनाओं का चिन्तवन समस्त कर्मों का नाश (करनेवाला है)। आचार्यवर बारह भावनाओं का नाम बताते हैं।

गाथा ४३-४४

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्त्रवसंवरौ।।४३।।
निर्जरा च तथा लोको बोधि दुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः।।४४।।

अर्थ : अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ ११ धर्म १२ ये बारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्रदेव ने कही है।।४३-४४।।

गाथा - ४३-४४ पर प्रवचन

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्त्रवसंवरौ।।४३।।
निर्जरा च तथा लोको बोधि दुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः।।४४।।

वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने **'जिनपुङ्गवैः'** जिन में जो महापुरुष हैं, ऐसे वीतरागदेव ने बारह भावना भाने की बात की है। समझ में आया? मुनि चक्रवर्ती होवे तो भी मुनि हो, तब बारह भावना भावे। पहले बारह भावना गृहस्थाश्रम में भावे। छियानवें हजार स्त्रियाँ हों। एक बार शान्तिनाथ भगवान छियानवें हजार (स्त्रियों के) वृन्द में बैठे थे। अप्सराएँ जैसी रानियाँ। उसमें से उन्हें भावना करते हुए वैराग्य हुआ। इसलिए रानियों को रुदन हुआ। अरे.. अरे! स्त्रियों! मैं कहीं तुम्हारे लिये नहीं रहा था। समझ में आया? मेरा आसक्ति का राग था, इसलिए मैं रहा था। वह मेरा राग अब मर गया है। इसलिए यदि तुम्हारे कारण रहा होऊँ, ऐसा तुम मानती हो तो निकाल डालो। स्त्रियों से कहते हैं। छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में बैठे एकदम भावना भाते हुए वैराग्य हो गया। ओहो! कहाँ आत्मा की वीतरागदशा और कहाँ मैं अभी पड़ा हूँ?

मैं चक्रवर्ती, मैं कामदेव, मैं तीर्थंकर। एक भव में तीन पदवियाँ। परन्तु अभी मुनिपना और चारित्रदशा मुझे नहीं है, तब तक केवलज्ञान की परमात्मदशा मुझे प्रगट नहीं होगी। इस प्रकार उन्हें कहते हैं, तुम ऐसा मानती हो कि तुम मुझे ललचाती हो, इसलिए मैं रहा हूँ, तुम मुझे ललचाती हो और मधुर शब्द और अनुकूलता के लिये यहाँ रहा हूँ, ऐसा मानना नहीं। देवीलालजी! मेरी आसक्ति मुझे अन्दर रोकती थी, इसलिए तुम्हारी ओर मेरा लक्ष्य जाता था। अब मेरी आसक्ति; जैसे जीवित मनुष्य आयुष्य हो, तब तक जीया, आयुष्य गया तो मर गया। उसी प्रकार मेरा राग तुम्हारे प्रति मेरे कारण से था, वह मर गया है। समझ में आया? वह राग अब मुझे नहीं है। इसलिए चोटियाँ तोड़े या सिर फोड़ो, वह कुछ चले ऐसा नहीं है। आहाहा! ताराचन्दजी! सिर फोड़े न, यह चोटियाँ उघाड़े। आहाहा! रुको, रुक जाओ। हमारी आसक्ति हमारे कारण से है। तुम्हारे कारण से नहीं। स्वभाव में वह है नहीं। परन्तु हमारी कमजोरी के कारण से भोग की राग की वृत्ति उठती थी, वह हमारी वृत्ति गयी है। मर गया मुर्दा अब जीवित नहीं होता। समझ में आया? इसी प्रकार राग से मरे, उसे अब यह राग ऐसा आता नहीं। ठहरो... ठहरो... ठहरो... हम तो मुनिपना अंगीकार करेंगे। शोभालालभाई! ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती, तीर्थंकर भी भाते थे। अभी तीन ज्ञान के धनी थे, तथापि बारम्बार यह भावना भाते हुए उसमें एक यह बात (की है)। उसमें अनित्य भावना के स्वरूप का वर्णन (करते हैं)। लो!

गाथा ४५

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशे ऽपि न कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम्।।४५।।

अर्थ : प्राणियों के समस्त शरीर, धन, धान्य आदि पदार्थ विनाशीक हैं इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का बंध ही होता है।।४५।।

गाथा – ४५ पर प्रवचन

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशे ऽपि न कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम्।।४५।।

प्राणियों के समस्त शरीर धन्य धान्य सर्व पदार्थ नाशवान... नाशवान है, ऐसा धर्मी बारम्बार विचार करता है। कहो, बहियाँ फिराता है या नहीं बारम्बार? पन्ना फिरे और सोना झरे। शोभलालभाई! ऐसा कहते हैं न तुम्हारे बनिया में? कि भाई! बहियाँ फिराते रहना, उसमें से सोना झरेगा। धूल में नहीं अब वह तो। वह तो पैसे आनेवाले होंगे, वे आयेंगे। उसमें पैसे पड़े होंगे पन्ने में?

यहाँ कहते है कि धर्मी जीव को ऐसी भावना बारम्बार (होती है)। ओहो! यह शरीर सुन्दर दिखाव भी एकबार ढ़ेर परमाणु की राख होगी। शरीर अनित्य है। भगवान आत्मा मैं नित्य हूँ। यह शरीर तो क्षणिक है। सुन्दर दिखे या कुबड़ा दिखाई दे, वह नाशवान है। ऐसा बारम्बार (भाता है)। शरीर आदि, हों! धन, लक्ष्मी मिली, वह तो नाशवान है। ऐसा धर्मी बारम्बार विचार करता है। कब चला जाएगा, (इसकी खबर नहीं)। धान्य। बारह महीने का संग्रह करता है या नहीं? कि अभी बारह महीने निश्चिन्तता से रखा। परन्तु वह ... सुलगेगा-जलेगा कब? नाशवान है।

इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना। क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्म को बँधता ही है। अनित्य भावना। कहा न इस चक्रवर्ती को। आहाहा! यह संसार। जब नाम ऐसे उत्साह से ऐसा लिखा होगा। इन्द्र जैसा चक्रवर्ती खड़ा हो। देव सिर पर फूल बरसाते, हों! उस समय नाम लिखता है, नाम लिखे कि मैं एक चक्रवर्ती, छह खण्ड का साधनेवाला। मैंने मेरे बाहुबल से छह खण्ड को साधा। लिखे तो ऊपर से फूल बरसते हैं। मिटाने तब उनकी हाजिरी नहीं होती। नाशवान-नाशवान ऐसा बारम्बार धर्मात्मा चिन्तवन करते हैं। यह बारह भावना (आयेगी)....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल ३, बुधवार, दिनांक - ०९-०९-१९६४
श्रावकाचार, गाथा - ४३ से ६२, प्रवचन-१७

पद्मनन्दि पंचविंशति का छठवाँ अधिकार है। श्रावक का आचार और आचरण क्या होता है, गृहस्थाश्रम में रहा हुआ जैन श्रावक, उसका अनुष्ठान, आचरण कैसा होता है, किस भूमिका में कितना उसका राग मन्द होता है, यह बात यहाँ चलती है। पहले से बहुत बात चल गयी। अब तो ४५ गाथा हो गयी। अब भावना की बात करती हैं।

धर्मी जीव संसार में बारह प्रकार की भावना करे। पहली भावना एक आ गयी। हमेशा ज्ञानी गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, यह सब शरीर आदि अनित्य है और इनके नाश से शोक करनेयोग्य नहीं है, ऐसा बारम्बार विचारना करते हुए उसकी भूमिका में सम्यग्दर्शन सहित वैराग्यपना टिका रहे। कहो, समझ में आया? यह बात की पहले। अब दूसरी अशरण भावना है।

गाथा ४६

व्याघ्रेणाघ्रतकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि।।४६।।

अर्थ : जिस मृग के बच्चे का शरीर व्याघ्र ने प्रबल रीति से पकड़ लिया है, ऐसे मृग के बच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में कोई बचाने के लिए समर्थ नहीं है। उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र-अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सकते इसलिए भव्य जीवों को, सिवाय धर्म के किसी को भी रक्षक नहीं समझना चाहिए।।४६।।

गाथा - ४६ पर प्रवचन

व्याघ्रेणाघ्रतकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि।।४६।।

जिस मृग के बच्चे का शरीर व्याघ्र ने प्रबल रीति से पकड़ लिया है,... मृग के बच्चे को बाघ की थाप से ऐसा पकड़ा हो, उस **मृग के बच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में...** कोई मनुष्य का पदचिह्न नहीं, कोई मनुष्य आदि नहीं। **कोई बचाने के लिये समर्थ नहीं है।** इसी प्रकार संसार में **आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र-अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सकते...** करे? पैसा-बैसा कुछ करे या नहीं? यह भाई करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : .... दया का उपदेश...

पूज्य गुरुदेवश्री : दया का उपदेश कौन करे? किसकी दया करे? कौन करे? यह तो उसका राग मन्द करने के लिये दया का उपदेश होता है।

जैसे मृग के बच्चे को बाघ ने पकड़कर ऐसे थाप मारकर पड़ा हो। आता है न सामने? यह रहा, देखो! सामने। भगवान महावीर परमात्मा का जीव दसवें भव में सिंह था, सिंह। है न सामने? देखो! सिंह। घड़ी के सामने ऊपर। वह सिंह ऐसे मृग को थाप मारता था। ऐसे मारकर खाता था। उसमें दो मुनि ऊपर से उतरे। दसवें भव में। भगवान महावीर का पूर्व का दसवाँ भव। ऐसे मृग को मारकर ऐसे... (खाता है)। मुनि ऊपर से उतरते हैं। अरे! आत्मा! हमने भगवान के निकट सुना है। मुनि कहते हैं, हमने त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के निकट सुना है। तेरा आत्मा दसवें भव में भगवान महावीर होनेवाला है। सेठी! देखो! ऊपर है। देखो! दो मुनि उपदेश देते हैं और सिंह ऐसे मुँह फाड़कर देखता है।

हे आत्मा! तू तो भविष्य का दसवें भव में चौबीसवाँ अन्तिम तीर्थंकर ऐसा भगवान महावीर का तू जीव है। शोभालालभाई! सिंह को कहते हैं, देखो! ऐसे हाथ लम्बा करके। इस मृग के बच्चे को ऐसे थाप मारकर खाता है, यह क्या है तुझे? है कोई मृग को शरण वहाँ? समझ में आया? यह तो उस उपदेश के योग्य (होने से) अन्दर से आँख में से आँसू बहते जाते हैं। देखो! उसमें से नजदीक में से देखो तो आँख में से आँसू बहते जाते हैं। अरे! यह क्या किया? कहाँ का मैं आत्मा! कहाँ मेरी स्थिति होनेवाली! और इस स्थिति में मैं जंगल में इस अशरण-निर्जन वन में अशरण मृग को मारता हूँ! रोता है। सिंह, सिंह रोवे, वन का सिंह / बाघ—राजा। अरे! कोई इसे शरण

नहीं। मैंने इसे मारा। मेरा आत्मा मुनियों की कृपा ऊपर से उतरकर... देखो न! मुनि चले जाते थे। नीचे उतरे और ऐसा उपदेश करते हैं। भाई! तू आत्मा। चौबीसवाँ तीन लोक का नाथ तीर्थंकर होनेवाला। समझ में आया? संथारा कर लेता है। समाधिमरण (कर लेता है)।

यहाँ कहते हैं कि उस मृग को निर्जन वन में पकड़े (तो) कौन शरण है? उसी प्रकार यह सब निर्जन ही है, हों! जहाँ पड़ा वहाँ खाटले पड़ा और आपदा आकर पड़ी। कौन छुड़ाने में समर्थ है?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसकी उपादान की तैयारी होवे तो निमित्त आये बिना नहीं रहता। उसे पराधीन नहीं कोई निमित्त। उसकी अन्दर उपादान की योग्यता थी। ऐसे ऊपर से (आते हैं)। चाहे जहाँ से आवे।

यहाँ तो मृग के बच्चे को कोई बचाने में समर्थ नहीं है। ऐसा समकिती गृहस्थाश्रम का श्रावक अपने आचार में ऐसी भावना बारम्बार करता है कि यह कोई कुटुम्ब-कबीला पीड़ा के अवसर में सामने नहीं देखता। सामने देखे तो भी वह शरण क्या करे? क्या दे सके? ऐसा करके विचारकर एक धर्म ही शरण है। **'यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि'** भगवान 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' है न? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने आत्मा का धर्म कहा है, वह एक ही धर्म है। इसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है, ऐसा वह बारम्बार विचार करता है।

श्रीमद् में आती है न बारह भावना।

सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जानी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।

अनाथ एकान्त सनाथ होगा...

सोलह वर्ष में (लिखते हैं)। राजमलजी! यह कितने वर्ष की उम्र में (कहते हैं)? सोलह वर्ष और चार महीने की उम्र में। श्रीमद् राजचन्द्र को पूर्व का जातिस्मरण था और वे स्वयं भावना लिखते हैं। बारह भावना का ग्रन्थ। समझ में आया? उसमें कहते हैं कि 'सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जानी...' सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा ने

अन्तर में आत्मा आनन्द और शुद्ध है, ऐसे तत्त्व को कहा है। यह आगे कहेंगे, इस गाथा में देखो! इसमें अन्तिम बात में बहुत सरस बात की है। यह भावना है न यह तो अभी। उसकी गाथा है, देखो!

६०वीं गाथा है। इसकी ६०वीं।

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्।।६०।।

६०-६० गाथा। कहते हैं, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा संसार में रहा हुआ श्रावक ऐसा विचार करता है कि अन्त:तत्त्व शुद्ध आत्मा। यह शरण। मेरा विशुद्ध चिदानन्द प्रभु, वह मेरा अन्त:तत्त्व है। वह मेरा माल है। समझ में आया? अमरचन्दभाई! मेरा माल। माल समझते हो न? पूँजी। मेरी पूँजी अन्दर में सच्चिदानन्दस्वरूप है। मेरा कारण प्रभु, मेरा कारण जीव, उसमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द चतुष्टय से भरपूर तत्त्व है। वह मेरा अन्त:तत्त्व है। ऐसे अन्त:तत्त्व का आश्रय करके।

'अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा' देखो! मेरा अन्त:तत्त्व तो मुझे शरणभूत आश्रय करने योग्य, जिसकी शरण में जाने से धर्म और शान्ति प्राप्त हो, ऐसा मेरा आत्मा अनन्त सच्चिदानन्द प्रभु, सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार, वह मेरा अन्त:तत्त्व है। **'बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु'** यहाँ तो श्रावक के बारह व्रत में दया का, अहिंसा का भाव मुख्य गिना है न? बारह व्रत में अहिंसा का भाव व्रत में मुख्य गिना है। ऐसा जो शुभभाव; अन्त:तत्त्व निश्चय स्वभाव का आश्रय और उसके साथ व्रत का शुभभाव, ऐसे दो निमित्त गिनकर **'द्वयोः सन्मीलने मोक्ष'** दोनों इकट्ठे होने पर आत्मा को मुक्ति होती है। ऐसा श्रावक समकिती गृहस्थाश्रम में बारम्बार दिन-प्रतिदिन ऐसी भावना और विचारणा करता है। कहो, समझ में आया?

'मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्' यह दो प्रकार के आश्रय करने की बात है। व्यवहार-निश्चय दोनों की बात है न? ज्ञान चिदानन्द प्रभु का अवलम्बन अन्तर आश्रय करना और व्रत के योग्य जो बारह व्रत आदि हैं, और उसमें दया का, अहिंसा का भाव, ऐसा शुभभाव उसे निमित्तरूप होते हैं। दोनों का आश्रय करना कि जिससे रागादि टलकर

शुद्धता की पूरी धारा बहकर आत्मा की मोक्षदशा हो। ऐसा बारम्बार, इस गृहस्थाश्रम में धर्मी बारम्बार ऐसी भावना का विचार करता है। कहो, समझ में आया? इसलिए यहाँ कहते हैं कि अशरण है। इस जगत में दूसरा कोई शरण नहीं है।

संसार भावना।

गाथा ४७

यत्सुखं तत्सुखाभासं यदुःखं तत्सदाञ्जसा।
भवे लोकाः सुख सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम्।।४७।।

अर्थ : हे जीव! संसार में जो सुख मालूम होता है, वह सुख नहीं है; सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है, सो सत्य है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है, इसलिए तुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।।४७।।

गाथा - ४७ पर प्रवचन

यत्सुखं तत्सुखाभासं यदुःखं तत्सदाञ्जसा।
भवे लोकाः सुख सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम्।।४७।।

संसार में सुख जो मालूम होता है, वह सुख नहीं है। वह सुख नहीं है। कहो, सेठ! यह बँगले पाँच लाख के, दस लाख के, धूल लाख के इसमें कुछ सुख नहीं है। धूल में भी सुख नहीं है। ...भाई! सत्य होगा यह? होगा। कहते हैं, जगत में-संसार में सुख मालूम पड़े, वह सुख नहीं, सुखाभास है। सुखाभास अर्थात् सुख का खोटा लिबास है।

मुमुक्षु : .... ठगा जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें ठगा जाता है। स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है। मर जाता है, बापू! भाई! उसमें सुख नहीं है। साहूकार का वेश पहनकर चोर आवे, साहूकार का वेश पहनकर चोर आवे, ठगा जाए कि यह तो सेठ है। हमारे यहाँ आया था एक।

समयसार ले गया। रुपया दे गया चार-पाँच हजार लिखकर पत्र में। देना कहाँ था ? ऐसा लिबास। मुम्बई का एक व्यक्ति था परन्तु ठग-ठग, हों!

ऐसा कहते हैं कि जगत के प्राणी जगत की बाहर की अनुकूलता में सुख में ठगाये हैं। धर्मी जीव ऐसा मानता है कि पर में कहीं सुख है नहीं। सुख तो मेरे आत्मा में शान्ति और आनन्द मुझमें है। अन्तर नजर करने से शान्ति मिले ऐसा है। अन्यत्र कहीं शान्ति है नहीं। **'भवे लोकाः सुख सत्यं' दुःख है सो सत्य है।** क्या कहा ? और दुःख, वह सत्य है। क्या कहा ? संसार की अनुकूलता में सुख मानना, वह खोटा सुखाभास है। दुःख, वह सच्ची बात है। दुःख, वह सच्ची बात है। चौरासी के अवतार में स्वर्ग और नरक तथा यह बाहर के साधन कहीं पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, कीर्ति ऐसे खम्मा-खम्मा होती हो, लो! निवृत्ति भी न मिले अच्छी भावना करने को। कहते हैं कि अकेला दुःख ही है। ऐसा ज्ञानी बारम्बार विचारता है।

किसमें सुख है ? **'मोक्ष एव'** एक पूर्णानन्द की प्राप्ति करना, उसका प्रयत्न करना, उसमें सुख है और **'साध्यताम्'** उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। यह देखो! गृहस्थाश्रम में संसार की ऐसी भावना धर्मी बारम्बार भाता है। माता (होवे), वह स्त्री होती है, स्त्री मरकर माँ होती है, दुश्मन मरकर घर में पुत्र होता है, पुत्र मरकर दूसरे भव में दुश्मन होता है। यह संसार की घटना। समझ में आया ? ऐसी विचारणा करके धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में श्रावक को अपनी मुक्ति हो, ऐसा उसे प्रयत्न करना चाहिए। जिसमें से मुक्ति मिले और बन्धन छूटे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। बन्धन हो, ऐसा प्रयत्न उसे छोड़ देना चाहिए। ऐसा कहते हैं।

एकत्व भावना। चौथी।

गाथा ४८

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते।।४८।।

अर्थ : यदि निश्चयरीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन

है और न कोई परजन ही है तथा यह जीव अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है ॥४८ ॥

गाथा - ४८ पर प्रवचन

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते।।४८।।

एकत्व भावना। श्रावक घर में विचार करता है, अरे! मैं अकेला हूँ। **निश्चय रीति से देखा जाए तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है।** समझ में आया? **अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला भोगता है।** अकेला कर्म भोगे खाट पर पड़ा हुआ पीड़ा-पीड़ा। हाय.. हाय।

मुमुक्षु : अकेला?

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला भोगता है। एक बार कहा था न? एक लड़की को वह हुआ। क्या कहलाता है? शीतला। शीतला माता नहीं होती? शीतला पीला। फिर छिद्र-छिद्र में कीड़े पड़े, हों! युवा महिला ताजा विवाहित और उसमें चमड़ी में दाने-दाने सड़ गयी। ईयल (पड़ी)। रजाई में ऐसे घूमे तो यहाँ कीड़ों के ढ़ेर। ईयल समझते हो? बारीक कीड़े। ऐसे घूमे तो सफेद-सफेद कीड़े। माँ! ऐसे पाप मैंने इस भव में नहीं किये। ऐसा बोलती है। माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये। अरे! कहाँ के पाप? शरीर में दाने-दाने में जीव-कीड़े। छोटे सफेद कीड़े होते हैं न। ऐसे घूमे तो यहाँ ढ़ेर, ऐसे घूमे तो यहाँ ढ़ेर। ढ़ेर सारे सैकड़ों। महिला मर गयी। कौन शरण? सब पैसे खर्च करे या डॉक्टर दवा (दे), धूल में भी शरण नहीं। अकेली पीड़ा भोगे। आहाहा!

'स्वार्जितं कर्म' अपने किये हुए कर्मों से वहाँ अकेला दुःखी होता है परन्तु कोई इसे शरण नहीं है। ऐसी एकत्व भावना धर्मात्मा भाता है।

अन्यत्व (भावना)।

गाथा ४९

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा।।४९।।

अर्थ : शरीर और आत्मा की स्थिति दूध तथा जल के समान मिली हुई है। यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री, पुत्र आदि तो अवश्य ही भिन्न हैं; इसलिए विद्वानों को शरीर, स्त्री, पुत्र आदि को अपना कदापि नहीं मानना चाहिए।।४९।।

गाथा – ४९ पर प्रवचन

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा।।४९।।

क्या कहते हैं आचार्य? अरे! धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में बारम्बार ऐसी विचारणा और भावना करता है। शरीर और आत्मा दूध और पानी की भाँति इकट्ठे रहे, वे भी पृथक् हैं। यहाँ इकट्ठे रहे (है, जैसे) पानी और दूध इकट्ठा (रहता है), उसी प्रकार यहाँ रजकण मिट्टी के और भगवान अरूपी आनन्दघन एक जगह रहे होने पर भी भिन्न हैं, तो फिर स्त्री, पुत्र और मकान तो कहीं पृथक् रह गये। है? **'भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा'** तो भिन्न स्त्री, पुत्र, मकान आदि की तो क्या बात करना?

आत्मा के ज्ञानानन्द की श्रद्धासहित... यहाँ समकिती की बात है न। मेरा आनन्द मुझमें है। मेरा धर्म मेरे अन्तर की शरण में है। कहीं धर्म है नहीं। ऐसी दृष्टि हुई, वह ऐसा विचारता है, अरे! नजदीक में रही हुई देह भी आत्मा से भिन्न है तो दूर (क्षेत्र में स्थित) पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब और मकान तो कहीं पृथक् हैं। वे मुझसे अन्य हैं, अलग है, मुझे और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? इस प्रकार धर्मी बारम्बार आत्मा के हित के लिये ऐसी भावना करता है। यह पाँचवीं भावना।

छठमी, अशुचित्वभावना। देखो! यह बारह भावना आचार्य महाराज कहते हैं, गृहस्थाश्रम में हमेशा भावे। पैसे की भावना करते हैं या नहीं? इतना ब्याज आया,

इतने पैसे मिले, इतनी दुकान में इतने व्यक्ति रखे, इतनी वृद्धि हुई। यह सब पाप की वृद्धि, धूल की वृद्धि हुई। पाप की और धूल की। भले बाहर की धूल मिली हो। कहते हैं, अहो!

गाथा ५०

तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः।
यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता।।५०।।

अर्थ : कीड़ा, धातु, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके सम्बन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है।।५०॥

गाथा - ५० पर प्रवचन

तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः।
यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता।।५०।।

५०वीं गाथा। अहो! यह शरीर पीड़ा, धातु **मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है।** यह शरीर कोई ऐसी चीज़ जगत में नहीं कि मक्खन और घी और मैसूरपाक को विष्टा बनावे। एक यह मशीन ऐसी है कि यह मक्खन को, घी को, मैसूरपाक को विष्टा बनाती है। अमरचन्दभाई! यह कहते हैं, देखो! **पीड़ा, धातु, मलादि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। यह शरीर इतना अपवित्र है, उसके सम्बन्ध से...** देखो! इसके सम्बन्ध में आयी हुई **दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती हैं।** है? चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूरपाक। मैसुख कहते हैं न मैसुख? ऊँची (मिठाई) नहीं (बनाते)? एक सेर आटे को चार सेर घी पिलाते हैं परन्तु विष्टा बनानी हो तो यह शरीर एक साधन है। आहाहा! यह खोपरापाक। कैसा था? सेठ के तुम्हारे यहाँ क्या था? जम्बुडा। जाम्बु-जाम्बु (गुलाब जामुन। यह घारी, और पूडी और यह बर्फी। कहते हैं कि चमड़ी के उसमें डाल दे तो सड़ेगी और विष्टा नहीं होगी आठ घण्टे में। इस शरीर की थैली में डालेगा

तो आठ घण्टे विष्टा (होगी)। शोभालालभाई! लाओ दूसरी मशीन, लाओ दूसरी कोई भी मशीन ऐसी हो...

इसी प्रकार आचार्य महाराज कहते हैं। देखो! **विष्टा, मूत्र, कफ आदि अपवित्र वस्तु की उत्पत्ति शरीर से होती है।** भावार्थ में लिखा है। विष्टा आदि की उत्पत्ति, पेशाब की (उत्पत्ति)... पानी में डालो अन्यत्र पानी पेशाब होगा तुरन्त? मौसम्बी डालो अन्यत्र तुरन्त पेशाब होगा? यहाँ मौसम्बी और पानी डाला इकट्ठा, वहाँ दो-चार घण्टे में पेशाब। बहुत पीया होवे तो पाव घण्टे में भी हो जाए। आहाहा! देखो! यहाँ पाठ है, हों! **'तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता'** दूसरे किसी पदार्थ इसके साथ सम्पर्क करने से अपवित्र नहीं होता। तुरन्त नहीं बिगड़ता। देर लगेगी। यहाँ तो आठ घण्टे में तुम्हारे मैसूर और यह सब जामुन, क्या कहलाता है वह? गुलाबजामुन। वह वहाँ सवेरे विष्टा हो गयी। ऐसी यह मशीन है। आहाहा! ऐसा यह शरीर अशुचि से भरपूर है। ऐसा बारम्बार धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में ऐसी विचारणा और भावना करता है। कहो, समझ में आया? यह ऐसी चीज़। आहाहा! ऐसे मीठे-मीठे दूधपाक और पूड़ी और ऐसा खाजा और मीठा खाजा। क्या कहें अपने कहते हैं न क्या? साटा-साट। हमारे साटा कहलाता है। शक्कर में सराबोर किया हुआ। खाजा होता है न? साटा। विवाह में बहुत देते हैं बनियों में। उसकी विष्टा करनी हो तो यह एक मशीन है। दूसरे में डालेगा तो विष्टा तुरन्त नहीं होगी।

जिसके संग से पसीना हो, जिसके संग से पेशाब हो, जिसके संग से कफ हो, जिसके संग से विष्टा हो, अरे! ऐसा शरीर! यह अशुचि, यह मेरी चीज़ नहीं है। मुझमें तो शुचि पवित्रता पड़ी है। वह कहाँ अशुचि और मैं कहाँ पवित्र। मुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसा गृहस्थाश्रम में रहे हुए उस श्रावक का आचार है कि बारम्बार ऐसी विचारणा और भावना करे।

आस्रव भावना। सातवीं भावना।

गाथा ५१

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माभाम्भः सुचिरं भ्रमात्।।५१।।

अर्थ : इस संसाररूपी समुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप, छिद्रों से सहित होता है, उस समय यह अपने विनाश के लिए अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्रवरूप करता है॥५१॥

गाथा - ५१ पर प्रवचन

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माभाम्भः सुचिरं भ्रमात्।।५१।।

अहो! **संसाररूपी समुद्र में...** आस्रव भावना। धर्मी जीव भावना करता है। राजा-महाराजा हो, समकिती चक्रवर्ती हो, वह भी बारम्बार यह (भावना भाता है)। तीर्थंकर थे—शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ—ये तीर्थंकर थे। आठ वर्ष की उम्र में पंचम गुणस्थान धारण किया हुआ था। वे बारम्बार संसार में यह भावना करते थे। जिन्हें तीन तो पदवियाँ थीं—तीर्थंकर की, चक्रवर्ती की और कामदेव की। किसे? सोलवें शान्तिनाथ। जिनका रूप छह खण्ड में किसी का नहीं था। अरनाथ, कुन्थुनाथ, ऐसा रूप वह कामदेव। चक्रवर्ती छह खण्ड के स्वामी। दूसरा कोई छत्रपति नहीं और तीर्थंकर। इन्द्र जिनके दास। ऊपर के इन्द्र जिनके तलुवे चाँटें। अन्नदाता! सिंहासन पर बैठे हों गृहस्थाश्रम में तथापि इन्द्र जिन्हें (नमन करता है)। बत्तीस लाख विमान का स्वामी। पहला सौधर्म देवलोक जिसके बत्तीस लाख विमान हैं। ईशान देवलोक में अट्ठाईस लाख विमान हैं। वे इन्द्र ऐसे खम्मा अन्नदाता! तीर्थंकरदेव महाराज अल्पकाल में आप परमात्मा होकर हमको उद्धार करनेवाले, उपदेश देनेवाले। इन्द्र जिनके मित्र। अर्थात् इन्द्र जिनके सेवक। आहाहा! वह भी ऐसी भावना भाता है।

ओहो! **संसाररूपी समुद्र में जिस समय जीवरूपी जहाज... 'पोतो'** है न?

'पोतो' जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय, योग छिद्रों से सहित होता है... छिद्र-छिद्र। जहाज में छिद्र होवे तो पानी घुस जाए, छिद्र पड़े होवें तो। इसी प्रकार आत्मा अखण्डानन्द आनन्द जल से भरपूर उसे यह संसार क्षार समुद्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय के छिद्रों द्वारा आवरण आते हैं। आवरण आते हैं। इसलिए उन छिद्रों की विचारण इसे बारम्बार करना चाहिए। ज्ञानी को विपरीत मान्यता तो होती नहीं। यहाँ तो समुच्चय बात ली है। समझ में आया?

यह समय अपने विनाश के लिये अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्रव करता है। क्या कहा? देखो! **'कर्माभाम्भः सुचिरं भ्रमात्'** अज्ञान के कारण से। अपने दोष के कारण छिद्र से कर्म आते हैं। उसके कारण से नहीं कि कर्म को आने का (था) इसलिए आते हैं, ऐसा नहीं। कर्म का आना **'सुचिरं भ्रमात्' अज्ञानरूपी प्रचुर कर्मरूपी जल का...** भान नहीं। अरे! मेरा स्वरूप अमृतानन्द। अमृतानन्द, जिसमें अकेले अतीन्द्रिय अमृत आनन्द भरा है, ऐसा जिसे भान नहीं। विपरीत श्रद्धा और अज्ञान द्वारा छिद्र करके, जैसे जहाज में पानी घुस जावे और जहाज को समुद्र में डुबो दे, उसी प्रकार अज्ञानी का जहाज इस मिथ्यात्व, अव्रत और कषाय के छिद्र द्वारा चौरासी के क्षार समुद्र में डूब जाता है। इसका कहीं पता नहीं लगता। ऐसा धर्मी जीव इस प्रकार से आस्रव की शुभाशुभ... देखो! आस्रव अर्थात् दोनों परिणाम, हों! शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभ भाव दोनों छिद्र हैं। दोनों आस्रव हैं। वे मलिन परिणाम हैं। दोनों आवरण आने का कारण छिद्र है। ऐसा बारम्बार विचारकर उसे आत्मा की शरण लेना चाहिए।

संवर (भावना)।

गाथा ५२

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षोदेतदनुष्ठान मनोवाक्कायसंवृतिः।।५२।।

अर्थ : आये हुए कर्मों का जो रूक जाना है, वही निश्चय से संवर है तथा मन, वचन, काय का जो संवरण (स्वाधीन) करता है, यही संवर का आचरण है।।५२।।

गाथा - ५२ पर प्रवचन

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षोदेतदनुष्ठान मनोवाक्कायसंवृतिः।।५२।।

क्या कहते हैं? **आये हुए कर्मों का रुक जाना, वही निश्चय से संवर है।** कथन उपदेश की शैली... कुछ कर्म आते थे और रोके हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वर्णन शैली...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वर्णन पद्धति की पद्धति भावना में क्या करे? कर्म आनेवाले थे और इसने रोके हैं, ऐसा है नहीं। परन्तु अपने आत्मा के स्वभाव की, श्रद्धा और भावना करते हुए जो शुद्धता प्रगट हुई, उस काल में पहले आवरण आनेवाले थे, वे आये नहीं, उन्हें रोका—ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। समझ में आया? बारम्बार संवर की भावना करना।

मन-वचन-काय ... स्वाधीन करना। देखो! जितना मन-वचन और काया के कम्पन में पराधीन होता है, उतना उसे पाप और पुण्य का आस्रव आता है। उसे अपने आत्मा में शुद्ध भगवान परमात्मा का पिण्ड प्रभु अनन्त गुण का धाम, उसमें रुककर संवर को करना चाहिए। मन-वचन-काया में जाते हुए परिणाम को रोकना। इसका नाम यहाँ संवर कहा जाता है। कहो, समझ में आया? ५२ (हुई), ५३ (गाथा)।

गाथा ५३

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्ः।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रित चेष्टितैः।।५३।।

अर्थ : पहिले संचित हुए कर्मों का जो एकदेशरूप से नाश होना है, वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार-देह आदि से वैराग्य करानेवाले अनशन, अवमोदर्यादि तप से होती है।।५३।।

गाथा – ५३ पर प्रवचन

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्ः।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रित चेष्टितैः।।५३।।

पहले संचित हुए कर्मों का एक देशरूप से नाश होना... एक अंश नाश होना, **उसका नाम निर्जरा कहते हैं।** सर्वथा कर्म का नाश होना, इसका नाम मुक्ति है। एक अंश कर्म का रुक जाना, स्वभाव की भावना द्वारा (रुक जाना), उसे यहाँ निर्जरा कहते हैं। कहो, निर्जरा की भावना बारम्बार विचारना चाहिए। ओहोहो! परन्तु इसमें निवृत्ति कहाँ...

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, भावना सुनने की मिली दो-चार वर्ष में। यह १७ में (संवत् २०१७) पढ़ा था। यह २०२० (संवत्) में वापस अधिक... भावना करनी। उस पाप की भावना की। लड़के को कैसे ठिकाने लगे और लड़के को कैसे नौकरी लगे, लड़का कैसे आगे बढ़े, कहाँ से अच्छी कन्या मिले और अधिक वेतन में कैसे चढ़े? अकेला पाप। उसकी भावना भाता है। पाँच-छह लड़के हों, वे कैसे ठिकाने पड़े और कैसे आगे बढ़े और कैसे दो हजार का वेतन हो। होली। तुझे क्या है परन्तु अब उसमें? तुझे तो अकेली पाप की भावना है। सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं, घर छोड़कर बैठे तो यह हो। यह किसकी बात चलती है? गृहस्थाश्रम में रहे हुए श्रावक समकिती ऐसी भावना करते हैं। ठीक, सेठी ने कहा। यहाँ यह किसकी बात चलती है? पाँचवें गुणस्थानवाले गृहस्थाश्रम में स्त्री, पुत्र, परिवार, राज्य में पड़े हों तो भी बारम्बार विचारते हैं कि ओहो! पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का आत्मा के भान द्वारा एक अंश नाश करना, वह निर्जरा है।

संसार आदि वैराग्य करानेवाले अनशन, अवमौदर्य आदि तप से होती है। लो! राग की मन्दता, इच्छा का निरोध, स्वभाव की सावधानी के द्वारा एक अंश भी

अशुद्धता और कर्म का नाश होता है। यह गृहस्थाश्रम में रहे हुए की बात चलती है। ऐसा (करने जाएँ) तो इन महेन्द्रभाई को और सबको छोड़ देना पड़े। व्यापार, दुकान का धन्धा छोड़ देना पड़े।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब अन्दर लार रहती है। कहाँ छोड़ा है अन्दर? लड़के का पत्र आवे। वह पिताजी! हमें याद करो, हों! ऐसा निष्ठुर नहीं हुआ जाता। ... और वापस। आप बारह-बारह महीने से वहाँ पड़े हो। हमारे घर में क्या होगा? हम आपके बच्चे कहलाते हैं। आप हमारे पितातुल्य हो। ... कहलाये। तुम्हारे बिना यहाँ हमें रुचता नहीं है।—ऐसा जहाँ पत्र आवे तो चल दे एकदम। यह पत्र आया है। हे आत्मा! उठा राग के ऊपर से बुद्धि और स्वभाव का शरण ले। शोभालालभाई! यह पत्र प्रतिनिधि, भगवान के प्रतिनिधि हैं। ये भगवान के प्रतिनिधि शास्त्र लेकर आये हैं। कहेंगे कहीं, इसमें होगा। समझ में आया?

'तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रित' ओहो! अकेला वैराग्य नहीं। अपना आत्मा ज्ञान और चैतन्य का दल है, ऐसी जिसने अस्ति में दृष्टि की है, उसे पर से नास्ति का वैराग्य सहज आता है। धर्मी जीव को पुण्य और पाप के दो परिणाम भी बन्ध के कारण हैं। ऐसा करके पुण्य और पाप के ऊपर से भी वैराग्य करता है। इसका नाम वैराग्य है। जिसे बाह्य से तो वैराग्य है परन्तु पुण्य और पाप दोनों विकल्प-राग उठते हैं, उससे विमुख होकर एकाकार हो, उसे भगवान वैराग्य कहते हैं। ऐसी वैराग्य भावना में निर्जरा होती है। समझ में आया? सवेरे का सूक्ष्म पड़े परन्तु यह तो समझ में आये ऐसा है या नहीं? ऐ... देवानुप्रिया! ५३ (हुई)।

५४ लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप। दसवीं भावना। गृहस्थाश्रम में राजपाट में रहा हो, महारानियाँ हो, राजकुमार हो, वह भी भावना भाता है। ओहो! यह वस्तु भगवान ने वर्णन की है, ऐसी अनित्य-अशरण की भावना भगवान तीर्थंकर भी गृहस्थाश्रम में थे, तब करते थे। तो हमारे जैसे, जिनके पास इतना साधन भी नहीं। समझ में आया? दीपचन्दजी कहते हैं... दीपचन्दजी हुए हैं न? यह अनुभवप्रकाश के करनेवाले। अरे!

हमें समय मिलता नहीं। कहते हैं, ऐ.! पहले के राजाओं को चक्रवर्ती पद और महाइन्द्रपद आदि थे। यहाँ मनुष्य महाराजा बलदेव आदि थे, इतना तो तेरे पास नलिया भी नहीं है। नलिया समझते हो? यह नलिया होते हैं न मकान के ऊपर डालने के। जितनी ऋद्धि उनके पास थी, इतनी ऋद्धि तेरे पास नहीं है। तू तो उनके समक्ष भिखारी जैसा है। तुझे भावना का समय नहीं मिलता। रुचि नहीं, तुझे द्रव्यदृष्टि वस्तु की (रुचि नहीं)।

जिसके घर में ऐसे नव निधान। नव निधान। सोलह हजार देव ऐसी तैनाती में। दो हजार देव तो शरीर के अंगरक्षक। दो हजार, हों! ऐसे तैयार। खम्मा अन्नदाता को क्या हुआ? क्यों पसीना आया? क्यों खाँसी आयी? कहते हैं कि ऐसे साधनवाले भी प्रतिदिन निवृत्ति से भावना भावे और परिणाम का सुधार करते हैं। तुझे यहाँ कितनी ऋद्धि मिल गयी है? क्या कहें परन्तु निवृत्ति नहीं मिलती। व्यापार-धन्धा... आहाहा! और आज के कानून। धूल में भी कानून बाधक नहीं है, सुन न! मृत्यु के अवसर में कैसे निवृत्त होता है? सब आया है ऐसा तैयार।

एक व्यक्ति... कहा था न वहाँ (संवत्) १९९० के वर्ष में हम राजकोट थे। वे प्रेमचन्दभाई मन्दिरमार्गी थे। रावसाहेब की। कहीं गये होंगे विवाह में। खाई जलेबी और ऐसा। उसमें से उठा। दो डबल ओले। और मरने की तैयारी। रावसाहेब इलकाल आया है। उस समय। एक व्यक्ति पुलिस लेकर आया। मुझे बुलाते हैं। अन्तिम स्थिति थी और मांगलिक सुनाओ। बड़ा ... स्त्री। ऐ! परन्तु यह मरने पड़ा है और यह अभी क्या करते हो तुम? स्त्री ऊपर से पूछे। अब पूछने का काला मर जाएगा यहाँ से चला जाएगा। वहाँ आयी पुलिस। रावसाहेब का खिताब है। जाओ मरकर परलोक। भाई! मैं वहाँ था और पुलिस आयी। वहाँ मैं था। ऐसे मरने... मुझे देखकर आँख में आँसू बह गये थे। मरने की तैयारी। शरीर सुन्दर ऐसा का ऐसा। कुछ एकदम डबल निमोनिया था। कुछ सूखा शरीर नहीं, कुछ नहीं। व्याधि एक-दो दिन की व्याधि। और ऐसे पड़े हुए। क्या है? यह तैयारी हो गयी। अब इस परलोक के डालने के तम्बू हो गये। यह तम्बू टूटे। कब तक यह करना है तुम्हें? कहा, यह क्या ऊपर चढ़कर बैठे हो? वहाँ वह पुलिस आयी। राव साहेब का खिताब (लाया हूँ)। सेठ! वहाँ अब साथ ले गया होगा? धूल में भी नहीं, कहते हैं। क्या कहते हैं?

गाथा ५४

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम्।।५४।।

अर्थ : यह समस्त लोक विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दुःखों का करनेवाला है — ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिए।।५४।।

गाथा - ५४ पर प्रवचन

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम्।।५४।।

देखो! गृहस्थाश्रम को कहते हैं। **समस्त लोक विनाशीक है।** पूरी दुनिया विनाशीक है। **अनित्य...** है। **'सापायस्थितिरध्रुवः'। नाना प्रकार के दुःखों का करनेवाला है।** दुनिया के साधन तो दुःख में निमित्त है। चारों ओर लाओ.. लाओ.. लाओ.. पुत्र कहे कि इतना लाओ... स्त्री कहे कि इतना लाओ... पुत्रियाँ कहे कि इतना लाओ। लाओ.. लाओ.. और लाओ.. लाओ.. लाओ.. और लाओ.. मर जाएगा परन्तु वह लाओ-लाओ में पड़ा है। पूरी दुनिया अनित्य और अध्रुव है। समझ में आया?

ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को... 'मतिः सताम्' मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगाना चाहिए। ऐसी लोक की भावना बारम्बार विचारणा करना चाहिए। पूरी दुनिया में कोई शरण नहीं है। पूरा लोक इन्द्र, नरेन्द्र, सब अशरणभूत अशरण है। ऐसे लोक का विचार करके अपने आत्मा में **'मतिः सताम्'** ऐसे उत्तम जीवों को आत्मा को जैसे बन्धन से छूटे, वैसा इन्हें प्रयत्न करना चाहिए। राग-द्वेष और अज्ञान से छूटे, वैसा इन्हें प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा अवसर अनन्त काल में मिलना मुश्किल है, इसलिए यह करनेयोग्य है। कहो, समझ में आया?

५५ (गाथा)। ११वीं भावना।

गाथा ५५

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह।।५५।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की जो प्राप्ति है, उसी का नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है। यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति भी हो जावे तो उसकी रक्षा के लिए विद्वानों को प्रबल यत्न करना चाहिए।।५५।।

गाथा - ५५ पर प्रवचन

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह।।५५।।

अहो! आचार्य महाराज ने वन में रहकर ताड़पत्र पर यह श्लोक रचे हैं। वे दुनिया को करुणाबुद्धि से कहते हैं कि भाई! यह **'रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा'** भाई! यह आत्मा परमानन्द की मूर्ति, इसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता महादुर्लभ है। कोई बाहर की चीज़ दुर्लभ नहीं है। समझ में आया? बाहर की चीज़ दुर्लभ नहीं है। वह तो अनन्त बार मिल चुकी है। देवलोक में इन्द्राणियाँ अनन्त बार मिली; नरक के दुःख अनन्त बार मिले। वह कोई दुर्लभ चीज़ नहीं है। ओहो! एकदम जहाँ पाँच-पचास लाख मिले, रखो लापसी का आंधण। लापसी-लापसी बनाते हैं न? कंसार। करते हैं या नहीं? क्या कहते हैं? हमारे तो कंसार कहते हैं। लापसी। रखो यह लापसी आज। आमदनी हुई है। धूल में भी आमदनी नहीं हुई। खोट गयी है, सुन न! पूर्व का पुण्य जल गया, तब पैसा दिखता है। तू कहता है कि मिला है। भगवान कहते हैं कि जला। तेरा पुण्य जल गया, तब यह मिला है। सुन न! समझ में आया? यह कहीं दुर्लभ चीज़ नहीं है।

'रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः' इन तीन की प्राप्ति का नाम बोधि है। यह बोधि अतीव दुर्लभ, अतीव दुर्लभ। ओहोहो! कहाँ एकेन्द्रिय के जीव, कहाँ निगोद के जीव, कहाँ

पड़े हैं ? अब उसमें से कब प्राणी त्रस हो और कब यह मनुष्य हो, उसमें कब जैन धर्म सुनने का मिले और सुनने के बाद इसे उसकी दृष्टि और रुचि में बैठे। ओहोहो! समझ में आया? जैन परमेश्वर ने कहा हुआ केवली पण्णंतो धम्मो शरणं, वह धर्म इसे कब मिले। जैसे सरोवर में ऊपर... क्या कहलाता है? काई का गदेला बिछा, गदेला, नीचे कछुआ रहता हो, उसे खबर भी नहीं होती कि ऊपर चन्द्रमा है या नहीं? समझ में आया? उसमें किसी समय... गोदड़ा समझते हो? लील-फुग / काई इतनी जम गयी हो, उसमें कोई हवा आयी और टूटा, ऐसे नजर पड़ी। ओहो! यह क्या! यह क्या! कभी कुटुम्ब कहता नहीं था, ... कहता नहीं था। यह क्या? वह जहाँ कहने गया उसके कुटुम्ब को, वहाँ वह इकट्ठा हो गया। थोड़ी देर तो खोटा बोला, बापू! कुछ है। भाई! हमने देखा है, वह खोटा नहीं है। समझ में आया? इसी प्रकार अनन्त काल से आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चन्द्र के दर्शन की भाँति दुर्लभ है। समझ में आया इसमें? और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। तथा उसमें स्वरूप की रमणतारूप चारित्र तो महादुर्लभ है। दुर्लभ से दुर्लभ। आहाहा!

कहते हैं कि **उसका बोधि है। इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है। यदि किसी भी (प्रकार से) उसकी प्राप्ति हो जाए तो उसकी रक्षा के लिये विद्वानों को प्रयत्न करना चाहिए। 'यत्नो महानिह'** ऐसा शब्द है न? महान प्रयत्न करना चाहिए। वह महान पुरुषार्थ से मिलती है। ऐसे का ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं मिलता। महान पुरुषार्थ। निराधार चिदानन्द निरालम्बी तत्त्व है। उसकी निरालम्बी परिणति करना, इसके बिना कोई प्राप्त हो, ऐसी बोधि है नहीं। आता है न? नमोत्थुणं में आता है। बोहिदयाणं... नहीं आता? अनन्त... सब लम्बा लिखा है। कहो, समझ में आया?

५६ (गाथा)। अन्तिम भावना। धर्म भावना।

गाथा ५६

***निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः।**
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति।।५६।।

अर्थ : संसार में प्राणियों को ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है, इसलिए यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्षपर्यन्त यह साथ ही बना रहे ।।५६ ।।

गाथा – ५६ पर प्रवचन

निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति।।५६।।

ओहो! '**निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो**' देखो! निजधर्म दुर्लभ, हों! पुण्यधर्म और पाप परिणाम, वे दुर्लभ नहीं। अनन्त बार मिल चुके हैं। नौवे ग्रैवेयक जाए ऐसे पुण्यभाव भी अनन्त बार किये हैं। वह कहीं निजधर्म नहीं है। आहा! '**निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो' संसारी प्राणियों को ज्ञानानन्द स्वरूप निजधर्म का पाना...** ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म को प्राप्त (करना)। लो, यह धर्म। ओहोहो! समझ में आया? आत्मा ज्ञान और आनन्द का समुद्र / सागर, अमृत का भरपूर भण्डार है। ऐसी अन्तर में धर्म की दशा की प्राप्ति अति दुर्लभ है। धर्म की प्राप्ति महादुर्लभ है। परधर्म तो अनन्त बार किया। पुण्य और पाप के भाव किये। जगत में अनन्त बार भटका। परन्तु निज धर्म की प्राप्ति अत्यन्त-अत्यन्त दुर्लभ '**भविनां मतः**' समझ में आया?

'**तथा ग्राह्यो यथा**' क्या कहते हैं जरा? अरे! भाई! हे आत्मा! इस प्रकार से श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र आत्मा का महान धर्म ग्रहण कर, निज धर्म को इस प्रकार से ग्रहण कर कि '**यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति**' मोक्ष हो, तब तक साथ में रहे, इस

* पाठान्तर '**जिनधर्मो**' भी प्राप्त होता है। यहाँ गुरुदेवश्री ने निजधर्मो वाली गाथा एवं अर्थ पढ़ा है, इसलिए यह रखा गया है।

प्रकार से धर्म को ग्रहण कर। अप्रतिहतभाव से ग्रहण कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? (यह तो) बाबा होने की बात है। परन्तु बाबा ही है, सुन न! कहाँ घुस गयी तेरी चीज़ में कोई चीज़? सब बाहर की बाहर लौटती है। बाहर की बाहर घूमती है। अन्दर प्रवेश कहाँ किया है? भगवान आत्मा... देखो! आचार्य को सार लेना है तो अब (कहते हैं), **'निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो'** आत्मा ज्ञानानन्द प्रभु ऐसा जो निज स्वभाव, उसे प्राप्त करना भव्य को महा-महा प्रयत्न से महा दुर्लभ है। परन्तु इस प्रकार से ग्रहण करना, **यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्षपर्यन्त यह साथ ही बना रहे।** इस प्रकार संस्कार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के करना कि वह स्थिति मोक्ष तक रहे। फिर गिरे नहीं। आहाहा! देखो! आचार्य भी भावना कैसी (भाते हैं)!

गृहस्थाश्रम में भी कहते हैं कि ओहो! आत्मा ध्रुव अविनाशी तत्त्व आनन्द और ज्ञान का भरपूर भण्डार, उसे इस रीति से पकड़, इस रीति से श्रद्धा-ज्ञान में ले और ऐसे चारित्र के स्थिरता के संस्कार कर कि जो ग्रहण किया हुआ ठेठ मोक्ष तक आवे। कहो, सेठी! कहते हैं न? **'निजधर्मोऽयमत्यन्तं'** आत्मा सहज आनन्द (स्वरूप) राग और विकल्प से पार है, ऐसा जो निज स्वभाव का धर्म, जो मन-वाणी-देह से अत्यन्त भिन्न है और दया, दान तथा पुण्यभाव के विकल्प से भी अत्यन्त भिन्न है। ऐसे निज धर्म को ज्ञानानन्द को इस प्रकार से पकड़, ऐसी प्रतीति कर, ऐसा ज्ञान कर, ऐसे चारित्र के लीनता के संस्कार कर कि वे संस्कार मोक्ष तक साथ रहे। आहाहा! देखो! कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान हमारे स्थिर रहनेवाले और वहाँ से चारित्र पूरा करके मोक्ष जाऊँगा। यह श्रावक के लिये भी ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! यह प्राप्त हुआ बढ़ाने का इच्छुक होगा या प्राप्त हुआ गिराने का इच्छुक होगा? आहाहा! समझ में आया?

'तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं' जब तक केवलज्ञान और मुक्ति न हो, तब तक संस्कार जमे रहें, इस प्रकार से धर्म को ग्रहण करना। घड़ी भर ग्रहण करके हो दिया, ऐसा नहीं। एक बार सम्यग्दर्शन हुआ तो हो गया, लो! ऐसा नहीं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस आत्मा को इस प्रकार से पकड़... ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योत की दृष्टि में कि जो दृष्टि और ज्ञान और संस्कार ठेठ केवल (ज्ञान) प्राप्त करे, तब तक रहा करे।

बीच में उसे गिरने का भव और भय होता नहीं। ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में रहे, गृहस्थ करे, ऐसा यहाँ आचार्य महाराज फरमा रहे हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

गाथा ५७

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः।।५७।।

अर्थ : नाना प्रकार के दुःखरूपी नक्र-मकर से व्याप्त इस संसाररूपी खारी समुद्र से पार करनेवाला धर्मरूपी जहाज है — ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं; इसलिए संसार से तरने की इच्छा करनेवाला भव्य जीवों को इस धर्मरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।।५७।।

गाथा – ५७ पर प्रवचन

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः।।५७।।

अहो! बारह भावना की विचारणा का योगफल लेते हैं। **अनेक प्रकार के दुःखरूपी ... मकर से व्याप्त...** समुद्र में जानवर होते हैं न जानवर? उसी प्रकार संसाररूपी महासमुद्र चौरासी के अवतार में पड़ा है। कैसा है वहाँ कि अनेक प्रकार के मगरमच्छ और मछलियाँ तथा महा बड़े सर्प (भरे हैं)। '**संसाररूपी खारे समुद्र से पार करनेवाला...** संसार... यह समुद्र खारा होता है न? उसमें मगरमच्छ और ऐसे लम्बे मोटे जीव होते हैं कि हाथी जैसे जानवर यदि गिरें तो भी पैर बाँध दें। सर्प जैसे बड़े जानवर होते हैं। निकल सके नहीं, चल सके नहीं, डूब जाए। ऐसा संसार खार समुद्र **पार करनेवाला धर्मरूपी जहाज है।** वह आत्मा का अरागी स्वभाव श्रद्धा-ज्ञान वह जहाज है।

विकाररूप संसार के परिभ्रमण का जो समुद्र, उसमें से तिरने के लिये भगवान आत्मा... ऐसा दृष्टि की नजर कर, ज्ञान में आत्मा को ज्ञेय बना कि जहाज संसार समुद्र

से पार को प्राप्त हो, ऐसा रास्ता पकड़। **'धर्मपोतं परं'** कहो, समझ में आया? **गणधर आदि महापुरुष कहते हैं।** ऐसा कहा, लो! **'प्राहु'** गणधर भगवान भी ऐसा फरमाते हैं। **'प्राहुस्तारणार्थं मनीषिण:' संसार से तिरने की इच्छा करनेवाले भव्य जीवों को...** संसार के तिरने की-टालने की इच्छावाले जीवों को धर्मरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।

'अनुप्रेक्षा इमा: सद्‌भि: सर्वदा हृदये धृता:' लो! यह बारह भावना हृदय में हमेशा रखना। तब फिर हमारे धन्धा कब करना? ऐसा कहना पड़े या नहीं? भाई! धन्धा तो धन्धे के काल में बाह्य होता है। परन्तु तेरी चिन्ता से वहाँ धन्धा बढ़ जाए और चिन्ता कम हो, इसलिए पैसा घट जाए, ऐसा नहीं। समझ में आया? यहाँ तो कैसे कहा? देखो! क्या कहते हैं?

गाथा ५८

अनुप्रेक्षा इमा: सद्‌भि सर्वदा हृदये धृता:।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयो:।।५८।।

अर्थ : जो सज्जनपुरुष बारंबार इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, वे उस पुण्य का उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण है। इसलिए स्वर्ग -मोक्ष के कारणस्वरूप पुण्य को चाहनेवाले भव्य जीवों को सदा इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए ॥५८॥

गाथा - ५८ पर प्रवचन

अनुप्रेक्षा इमा: सद्‌भि सर्वदा हृदये धृता:।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयो:।।५८।।

जो सज्जन पुरुष बारम्बार बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं। यह बारह भावना कही। ५८ गाथा। **उस पुण्य का उपार्जन करते हैं।** उस पुण्य से स्वर्ग (प्राप्त

करते हैं)। ... है न। **और परम्परा मोक्ष का कारण...** तत्पश्चात् राग टालकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, इसलिए परम्परा मोक्ष का कारण है। **इसलिए सर्व मोक्ष के कारण स्वरूप पुण्य को चाहनेवाले भव्य जीव सदा...** सर्वदा सदा **यह भावना...** भाना चाहिए। आचार्य को खबर नहीं होगी कि वापस हमारे स्त्री-पुत्र हों, उनका कब करना ? सर्वदा भावना में बैठे रहना एक ओर ? उनका तेरा किया होता नहीं। होनेवाला होगा, वह होगा। वापस किसका लगा है ? व्यापार-धन्धा आदि मिलने का हो, वह मिलेगा और लड़के तथा स्त्रियाँ निभनी होंगी, वे निभेंगी। तेरी चिन्ता के कारण वहाँ फेरफार हो, ऐसा है नहीं। यह तो पहले एकत्व और अनित्य में कह दिया कि अन्य है। अन्य को और तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया ?

अब मुनि का धर्म भी इसे थोड़ा पालन करना चाहिए, ऐसा साथ ही कहते हैं।

गाथा ५९

आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरापि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम्।।५९।।

अर्थ : उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, इस प्रकार इन दश धर्मों का भी श्रावकों को शक्ति के अनुसार तथा शास्त्र के अनुसार पालन अवश्य करना चाहिए।।५९।।

गाथा – ५९ पर प्रवचन

आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरापि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम्।।५९।।

देखो ! आगम आया। क्या कहते हैं ? गृहस्थाश्रम में श्रावक को भी उत्तम क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्मानपना, सरलपना, सत्य... ५९ गाथा है। संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य लो, यह दस प्रकार के धर्म परसों से शुरु होंगे। यह आज नाम में आ गये।

इस प्रकार दस धर्मों का भी श्रावकों की शक्ति अनुसार और शास्त्र के अनुसार... आगम है न। **पालन जरूर करना चाहिए।** गृहस्थाश्रम में रहे हुए श्रावक को भी दस प्रकार का धर्म यथाशक्ति से उसे आदर करना और पालना चाहिए। ऐसा नहीं मान लेना कि इस प्रकार का धर्म तो मुनि को है, हमारे क्या? ऐसा कहते हैं। यथाशक्ति क्षमा, निर्मानता, सरलता, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य रखना चाहिए। शास्त्र की आज्ञा श्रावक को जितने प्रमाण में रखा जाए, उतनी भावना उसे करनी चाहिए।

यह श्लोक आ गया है।

गाथा ६०

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्।।६०।।

अर्थ : चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा को अन्तस्तत्व (भीतरी तत्त्व) है तथा समस्त प्राणियों में जो दया है, वह बाह्यतत्त्व है और इन दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इन दोनों तत्त्वों का भलीभाँति आश्रय करना चाहिए।।६०।।

गाथा – ६० पर प्रवचन

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्।।६०।।

यह आ गया—निश्चय और व्यवहार। पहले कह गये हैं बीच में। अन्तःतत्त्व का आश्रय करना, वह निश्चय है और दया आदि अहिंसा के भाव करना, वह शुभभाव या व्यवहार है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन और ज्ञान सहित ऐसे शुभभाव होते हैं। इसलिए दोनों से मुक्ति होती है, उसका आश्रय करना, ऐसा व्यवहार से कहा गया है।

अब **ज्ञानी अपने आत्मा की इस प्रकार भावना करता है।** देखो! सार में सार।

गाथा ६१

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्।।६१।।

अर्थ : कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से सर्वथा भिन्न, और चिदानन्दचैतन्य स्वरूप तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूप स्थान को देनेवाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिन्तवन करना चाहिए॥६१॥

गाथा - ६१ पर प्रवचन

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्।।६१।।

श्रावक को गृहस्थाश्रम में कैसा आत्मा भाना? **कर्मों से और कर्मों के कार्य सर्वथा भिन्न है।** लो! बारह भावना की, यह भी एक भावना है। सदा कर्म से भिन्न आत्मा और **'कर्मकार्येभ्यः'** यह विकार परिणाम होते हैं, वह वास्तव में आत्मा का कार्य—स्वभाव नहीं है। यह पुण्य और पाप, वह कर्म का कार्य है। धर्मचन्दजी! किस अपेक्षा से है यह? सवेरे दूसरा लिया जाता है। यह तो पर्याय में तेरा दोष है, कर्म का नहीं। यहाँ अब आत्मा स्वभाव शुद्ध चिदानन्द आत्मा की दृष्टि होने पर (भी) निर्बलता के कारण जितना विकार होता है, वह मेरे स्वभाव का कार्य नहीं है, ऐसा गिनकर कर्म का कार्य है—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया? लो, यहाँ **'कर्मकार्येभ्यः'** (कहा है)। वह कर्म का कार्य है। कहो, समझ में आया?

राग, द्वेष, शरीर, संयोग आदि सब कर्म के (कार्य हैं), मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं तो आत्मा अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ। ऐसा **'पृथग्भूतं चिदात्मकम्'** उससे चिदानन्द आत्मा अत्यन्त भिन्न है। कैसा है? **'नित्य' अविनाशी और आनन्दस्वरूप स्थान को देनेवाला। 'नित्यानन्दपदप्रदम्'** नित्य आनन्दरूपी मुक्ति के पद को देनेवाला यह आत्मा है। वह पद कहीं विकल्प और निमित्त से तथा शरीर से प्राप्त नहीं होता। समझ

में आया? **'आत्मानं भावयेन्नित्यं'** ऐसे आत्मा को नित्य हमेशा बारम्बार भावना करना। कहो, बराबर होगा यह? दान अधिकार आया, षट्कर्म का आया, बारह भावना का आया और अन्त में यह भावना कही। भाई! तेरा स्वरूप तो कर्म और कर्म के फल राग से भिन्न है, हों! यह गति और लेश्या सबसे भिन्न है। ऐसी आत्मा की बारम्बार इसे भावना करना चाहिए।

अन्तिम श्लोक।

गाथा ६२

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्गनन्दिना।
येषामेतद्नुष्ठानं तेषां धर्मो ऽतिनिर्मलः।।६२।।

अर्थ : इस प्रकार श्री पद्मनन्दि आचार्य ने इस उपासक संस्कार की (श्रावकाचार की) रचना की है। जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है, उन्हीं को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है॥६२॥

गाथा – ६२ पर प्रवचन

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्गनन्दिना।
येषामेतद्नुष्ठानं तेषां धर्मो ऽतिनिर्मलः।।६२।।

पद्मनन्दी आचार्य ने इस उपासक संस्कार की रचना की है। श्रावकाचार। इस श्रावकाचार की रचना ६२ श्लोक हुए। ७ व्याख्यान हुए, ७ पूरे। **जिन पुरुषों की प्रवृत्ति श्रावकाचार के अनुसार है, उनको निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है।** इस प्रकार से श्रद्धा-ज्ञानादि प्राप्त करे, उसे निर्मल धर्म की प्राप्ति होने पर एकावतारी आदि होकर मोक्ष में जाने की तैयारी करे। इसलिए गृहस्थाश्रम में श्रावक को यह भावना और यह श्रावकाचार बारम्बार पालना चाहिए।